हरिवंश गाथा

अमृता भारती

हरिवंश गाथा

अमृता भारती

हरिवंश गाथा

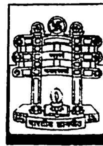
(आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' का कथा-सार)

हरिवंश गाथा

(कथा-सार)

प्रस्तुति

अमृता भारती



भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 81 - 263 - 1080 - 4

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 39

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : बी.के. ऑफसेट, दिल्ली - 110 032

आवरण-सज्जा : अशोक भौमिक

पहला संस्करण : 2004
मूल्य : 170 रुपये

HARIVANSHA GATHA
(A synopsis)
by Amrita Bharati

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2004
Price : Rs. 170

भाईसाहब रमेशचन्द्र को
सादर
सप्रेम

दो शब्द

आचार्य जिनसेन विरचित 'हरिवंश पुराण' का अध्ययन मेरे लिए न केवल बौद्धिक या मानसिक बल्कि एक आत्मिक अनुभव का विषय रहा है। मैं जन्म से जैन नहीं हूँ, पर कोई पुरातन संस्कार मेरे अन्दर बना रहा, जिसे मैंने जैन मन्दिरों में, तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के समक्ष, इस धर्म के मुनियों, आचार्यों के सान्निध्य में सहज मिली अन्तरंग ध्यानावस्था के रूप में अनुभव किया। 'हरिवंश पुराण' पर काम करते हुए यह संस्कार रोशन होता चला गया। तीर्थंकर की वीतराग ज्योति की लौ बहुत दिनों तक मेरे अन्दर संचरण करती रही। मुझे लगा मेरी साधना ने अगला चरण लिया है।

हरिवंश पुराण इस वंश में उत्पन्न तीर्थंकरों, महान राजाओं, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों तथा प्रतिनारायणों के जीवन का इतिहास है–उनके महनीय चरित और कार्यों का विशद व्याख्यान। इसमें राजाओं का उत्कट राग है और तीर्थंकरों का उत्कट विराग। इस ग्रन्थ में जिनसेनाचार्य की प्रातिभ लेखनी ने इन दोनों सत्यों को काव्यात्मक उत्कर्ष प्रदान किया है। हर प्रसंग में कवि की अमोघ दृष्टि और उसके कवित्व-सौन्दर्य का साक्षात् दर्शन प्राप्त होता है।

हमारे पुराणपुरुषों की यह कथा, जो गाथा की तरह हृदयग्राहिणी और

सुन्दर है, अपने दार्शनिक विस्तार से निकल कर सहज सरल रूप में आप तक पहुँचे, मेरी कोशिश रही है।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि किसी दराज़ में ही रखी रहती, यदि भाईसाहब (रमेशचन्द्र जी) ने इसे पढ़कर अपनी स्वीकृति की मुहर न लगायी होती। वे स्वस्थ रहें, दीर्घजीवी हों यही मेरी मंगल कामना है।

मैं डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ में अपने आगमन के साथ ही इस ठहरे हुए काम को गति प्रदान की और इस पुस्तक का प्रकाशन अविलम्ब सम्भव हो सका।

अमृता भारती

महावीर जयन्ती
3 अप्रैल, 2004

विषय-क्रम

प्रथम प्रकरण

कथा प्रसंग : भगवान महावीर का 'ज्ञान कल्याणक' उत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् भगवान का राजा श्रेणिक के नगर राजगृह में आना। धर्मोपदेश के पश्चात् कुछ देवों द्वारा वन के बीच एक मुनि का स्तवन। राजा श्रेणिक का इन मुनि के विषय में गौतम गणधर से प्रश्न। इसी प्रसंग में हरिवंश के विषय में राजा श्रेणिक की जिज्ञासा और गौतम गणधर द्वारा इस वंश का वर्णन। राजा श्रेणिक का अन्य अनेक राजाओं के साथ इस पवित्र पुराण को सुनना और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति।

दूसरा प्रकरण

दक्षिण भरतक्षेत्र में अन्तिम कुलकर नाभिराज और उनके 'सर्वतोभद्र' प्रासाद का वर्णन। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के गर्भावतरण से पूर्व महारानी मरुदेवी के द्वारा दिव्य स्वप्नों का दर्शन। जिनेन्द्र का जन्म। सुमेरु पर्वत के शिखर पर इन्द्रादि देवताओं द्वारा क्षीरसागर के जल से भगवान का अभिषेक। बाल्य लीला। युवा होने पर नन्दा और सुनन्दा से विवाह। सौ पुत्रों और दो पुत्रियों का जन्म।

प्रजा के लिए ऋषभदेव का छः कर्मों का उपदेश। नीलांजसा नर्तकी के प्रसंग से ऋषभदेव को वैराग्य। लौकान्तिक देवों का आगमन। दीक्षा कल्याणक। तपस्या। केवलज्ञान की प्राप्ति। समवसरण की रचना। धर्मोपदेश। ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुत्ररत्न और चक्ररत्न की प्राप्ति। दिग्विजय के लिए प्रस्थान। भरत का चक्रवर्तित्व अनुज बाहुबली के विरोध से असिद्ध। भरत की पराजय और अन्त में सुदर्शन-चक्र का प्रयोग। बाहुबली को वैराग्य। पुत्र अर्ककीर्ति का राज्याभिषेक कर भरत का जिनदीक्षा धारण करना। बाहुबली के पुत्र सोमयश द्वारा चन्द्रवंश का प्रवर्तन।

तीसरा प्रकरण

हरिवंश। वत्स देश की कौशाम्बी नगरी। प्रतापी राजा सुमुख का वसन्तागमन पर वनविहार। वैश्य वीरक की पत्नी वनमाला पर राजा सुमुख की आसक्ति। वनमाला के अपहरण का निश्चय। मन्त्री द्वारा आत्रेयी दूती का वनमाला के पास जाना और

वनमाला का पति की अनुपस्थिति में राजा सुमुख के पास आगमन और निवास।

एक बार वरधर्म मुनि को आहार-दान देकर दोनों का पुण्यबन्ध। विजयार्ध-पर्वत पर विद्याधर-विद्याधरी के रूप में उनका जन्म।

वनमाला के विरह में वीरक को अशान्ति। दिगम्बरी दीक्षा। प्रथम स्वर्ग की प्राप्ति। वीरक द्वारा इन दोनों विद्याधरों की विद्याओं का हरण।...चम्पापुरी नगरी के राजा और रानी के रूप में दोनों का पृथ्वीतल पर वास। इन्हीं दोनों के पुत्र का नाम था हरि। इसी के नाम से हरिवंश प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में इसी वंश में राजा सुमित्र हुआ। उसकी जिनभक्त रानी पद्मावती से बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का जन्म। युवाकाल। विवाह और राज्याभिषेक। मेघ के अनुपम सौन्दर्य-दर्शन से राजा मुनि-सुव्रत को वैराग्य। लौकान्तिक देवों का आगमन और स्तुति। दीक्षा कल्याणक। केवल-ज्ञान की प्राप्ति। निर्वाण कल्याणक।

चौथा प्रकरण

तीर्थंकर मुनिसुव्रत के बाद उनका पुत्र सुव्रत राजा हुआ। इसके बाद दक्ष, ऐलेय, कुणिम आदि अनेक राजा हुए। तदनन्तर राजा वसु, क्षीरकदम्बक का पुत्र पर्वत और नारद का वर्णन। 'अजैर्यष्टव्यम्'-इस वाक्य के अर्थ को लेकर शास्त्रार्थ। राजा वसु द्वारा मिथ्या अर्थ का समर्थन। वसु का पतन।

कालक्रम से हरिवंश में अनेक राजाओं की उत्पत्ति और अन्त में उनको तपोलक्ष्मी की प्राप्ति।

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के तीर्थ में यदु नामक राजा का जन्म और इसी से यादव वंश की उत्पत्ति। कालान्तर में शौर्यपुर का राजा अन्धकवृष्णि हुआ और मथुरा का राजा भोजकवृष्णि। अन्धकवृष्णि के दस पुत्र हुए जो 'दशार्ह' कहलाते थे। बड़े पुत्र का नाम समुद्रविजय और छोटे पुत्र का नाम वसु था। दो कन्याएँ थीं कुन्ती और माद्री। भोजकवृष्णि के तीन पुत्र थे। उग्रसेन उनमें बड़े थे।

राजा वसु के पुत्र सुवसु की वंशपरम्परा भी चली। राजगृह नगर में राजा जरासन्ध तथा उसके पुत्र कालयवन आदि का वर्णन। समुद्रविजय का राज्याभिषेक। रानी शिवादेवी। समुद्रविजय के संरक्षण में कुमार वसुदेव का वयस्क होना।

पाँचवाँ प्रकरण

वसुदेव की सुन्दरता। नगर में उनका स्वच्छन्द विचरण। स्त्रियों में रागजनित क्षोभ। प्रतिष्ठित नागरिकों का समुद्रविजय के पास जाना। समुद्रविजय का आश्वासन। कुमार वसुदेव को राजभवन में रखना। बाहर जाने पर प्रतिबन्ध। कुब्जा दासी के द्वारा कुमार वसुदेव को वास्तविकता का ज्ञान तथा रात्रि के समय एक सेवक के साथ श्मशान जाना और उसे यह विश्वास दिला देना कि वे चिता में जलकर मर गये

और स्वयं अन्यत्र चले जाना। इस समाचार से पूरे राजपरिवार में शोक।

वसुदेव विजयखेट नगरी में पहुँचे। वहाँ के गन्धर्वाचार्य राजा सुग्रीव की पुत्री सोमा और विजयसेना पुत्रियों से वसुदेव का विवाह। देश के अनेक भागों में कुमार का भ्रमण और अनेक कन्याओं के साथ विवाह।

उसी परिभ्रमण में वसुदेव का चम्पा नगरी में प्रवेश। चारुदत्त की गन्धर्वसेना पुत्री के संगीत की प्रशंसा सुन वसुदेव का संगीत-विद्या सीखना और गन्धर्वसेना को परास्त कर उससे विवाह करना।...इसी प्रसंग में मुनि विष्णुकुमार और बलि की कथा तथा वसुदेव के प्रश्न करने पर चारुदत्त का गान्धर्वकन्या के बारे में कथन।

फाल्गुन माह के महोत्सव में नृत्यांगना नीलयशा का दर्शन और परस्पर आकर्षण। गन्धर्वसेना के द्वारा बचाव। जिनमन्दिर में वसुदेव और गन्धर्वसेना के द्वारा तीर्थंकरों का स्तवन। घर वापस आने पर गन्धर्वसेना का प्रणय-कोप और वसुदेव का उसे शान्त करना।

विद्याधरी हिरण्यवती की सहायता से नीलयशा का पुन: दर्शन और मिलन। असितपर्वत नगर में दोनों का विवाह और स्वर्गिक सुखभोग।

नीलकण्ठ द्वारा नीलयशा का अपहरण। वसुदेव का विह्वल हो वन-भ्रमण।

छठा प्रकरण

वसुदेव का गिरितट नगर में आगमन। वहाँ ब्राह्मणों की जमात देख कुमार की जिज्ञासा। वेदशास्त्रों की ज्ञाता सोमश्री कन्या की प्रतिज्ञा–'जो उसे शास्त्रार्थ में जीत लेगा, वही उसका पति होगा।' वसुदेव का ब्रह्मदत्त उपाध्याय के पास वेदों का अध्ययन। आर्ष वेद, अनार्ष वेदों की उत्पत्ति का वर्णन। वेदज्ञान में परास्त कर वसुदेव का सोमश्री से विवाह।

तिलवस्तु नगर में नरमांसभक्षी सौदास का वध। इसी प्रकरण में वृद्धजनों द्वारा सौदास का वृत्तान्त।

अनेक कन्याओं से विवाह। कपिला से कपिल और चारुहासिनी से पौण्ड्र नाम के पुत्र की प्राप्ति। राजा सोमदत्त की पुत्री सोमश्री से विवाह। विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरों द्वारा मदनवेगा नाम की अत्यन्त सुन्दर कन्या से विवाह। मदनवेगा के भाई दधिमुख के द्वारा वंश-वृत्तान्त का कथन और वसुदेव से काराबद्ध पिता के विमोचन की प्रार्थना।

विद्यास्त्रों की प्राप्ति। वसुदेव द्वारा त्रिशिखर का वध और विद्युद्वेग की कारागृह से मुक्ति।

मदनवेगा से अनावृष्टि पुत्र का जन्म।

त्रिशिखर की विधवा शूर्पणखी द्वारा वसुदेव का हरण। मानसवेग का कुमार को आकाश से गिरा देना। घास के ढेर पर गिरने से कुमार की सुरक्षा।

सातवाँ प्रकरण

जरासन्ध का कीर्तिगान सुनकर वसुदेव को राजगृह नगर में होने का ज्ञान। निमित्तज्ञानियों का जरासन्ध को बताना कि वसुदेव का पुत्र उसका घातक होगा। वसुदेव को चमड़े की थैली में बन्द कर पहाड़ की चोटी से नीचे फेंकना। वेगवती द्वारा उनकी रक्षा। वेगवती ने उन्हें बताया कि वे इस समय पंचनद तीर्थ में ह्रीमन्त पर्वत पर विराजमान हैं। राजकन्या बालचन्द्रा से भेंट। उसके द्वारा विद्या-दान। पर वसुदेव के आग्रह पर बालचन्द्रा वह विद्या वेगवती को दे देती है।

वनभ्रमण में एक आश्रम में तपस्वियों से भेंट। उनके द्वारा पूर्ववृत्त का कथन। वसुदेव का धर्मोपदेश। श्रावस्ती नगरी में आगमन। कामदेव सेठ की पुत्री बन्धुमती से तथा राजकन्या प्रियंगुसुन्दरी से वसुदेव का विवाह।

कार्तिक पूर्णिमा की रात प्रभावती का आगमन तथा सोमश्री का समाचार देना। प्रभावती के रूप में वसुदेव का सोमश्री के साथ रहना। मानसवेग से युद्ध, बाद में मित्रता।

जरासन्ध की पुत्री केतुमती को पिशाचमुक्त करना। जरासन्ध के लोगों का कुमार को वधस्थल पर ले जाना। वधस्थल पर प्रभावती के पिता विद्याधर भगीरथ वसुदेव को झपटकर आकाश में ले जाते हैं। विजयार्ध पर्वत पर प्रभावती के गन्धसमृद्ध नगर में उनका स्वागत और प्रभावती से विवाह।

वनभ्रमण करते हुए वसुदेव को म्लेच्छों के राजा ने देखा और उनसे अपनी कन्या जरा का विवाह कर दिया। उससे जरत्कुमार नाम के यशस्वी पुत्र की प्राप्ति। वसुदेव का अरिष्टपुर नगर में आगमन। राजा रुधिर और रानी मित्रा की कीर्तिमती पुत्री रोहिणी। स्वयंवर में जरासन्ध के साथ समुद्रविजय भी आये। वसुदेव पणव-वादक का वेश रख वादकों के अग्रणी हो बैठ गये।

रोहिणी सब राजाओं के प्रति विरक्त रहती है। अन्त में पणव की चित्ताकर्षक ध्वनि सुनकर कुमारी का वसुदेव को देखना और वरण। राजाओं में क्षोभ। जरासन्ध का युद्ध के लिए तत्पर होना और समुद्रविजय को वसुदेव के प्रतिकार की आज्ञा देना। दोनों भाइयों का संग्राम। अन्त में, स्नेहसिक्त वसुदेव अपने बड़े भाई के पास अपना नामांकित बाण भेजते हैं। भाइयों का मिलन।

रोहिणी-वसुदेव का विवाह। रोहिणी से कान्तिमान पुत्र की उत्पत्ति। अत्यन्त अभिराम होने के कारण उसका नाम पड़ा राम।

समुद्रविजय की अनुमति से वसुदेव का गगनवल्लभ नगर जाकर वेगवती और बालचन्द्रा से मिलना। नागकन्यादेवी द्वारा अर्पित रत्नमण्डित एक विमान से वसुदेव का वेगवती और बालचन्द्रा के साथ अरिंजयपुर आना, मदनवेगा और पुत्र अनावृष्टि को लेना। गन्धसमृद्ध नगर से प्रभावती, असितपर्वत नगर से नीलयशा तथा अपनी अन्य पत्नियों के साथ वसुदेव का शौर्यपुर पहुँचना। शौर्यपुर में वसुदेव का भव्य स्वागत।

आठवाँ प्रकरण

शौर्यपुर में राजकुमारों के आग्रह से वसुदेव का शस्त्रविद्या सिखाना। एक बार कंस आदि शिष्यों के साथ वसुदेव का जरासन्ध से मिलने के लिए राजगृह जाना। जरासन्ध की पुत्री जीवद्यशा से कंस का विवाह। कंस का वंश-परिचय। जरासन्ध द्वारा कंस को मथुरा का राज्य देना। कंस द्वारा पिता उग्रसेन को बन्दी बनाकर नगर के मुख्य द्वार के ऊपर की कारा में रखना। कंस के आग्रह से वसुदेव का मथुरा आगमन। कंस गुरुदक्षिणा के रूप में अपनी बहन देवकी वसुदेव को देता है। देवकी के पुत्र से कंस और जरासन्ध की मृत्यु की भविष्यवाणी। अतिमुक्तक मुनि के द्वारा रोहिणी-पुत्र बलराम तथा देवकी के होनेवाले पुत्रों के पूर्वजन्मों की रोमांचकारी कथा। उन्होंने वसुदेव को बताया कि देवकी का सातवाँ पुत्र शंख, चक्र, गदा तथा खड्गधारी होगा। शेष छः पुत्र चरमशरीरी होंगे और उनकी अपमृत्यु नहीं हो सकेगी। सातवाँ पुत्र भरत क्षेत्र में नौवाँ नारायण बनकर जनमेगा। इन सातों पुत्रों के पूर्वजन्मों का विशद वर्णन।

नौवाँ प्रकरण

अतिमुक्तक मुनि से नेमिकुमार के विषय में वसुदेव का प्रश्न। अतिमुक्तक मुनि द्वारा नेमिनाथ के पूर्वजन्मों का कथा-वाचन। जयन्त स्वर्ग में उनकी उत्पत्ति। वहाँ से च्युत होकर वे राजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी के पुत्र के रूप में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ होकर जन्म लेंगे।

वसुदेव का प्रसन्न होकर देवकी के साथ लौटना। देवकी ने क्रम से तीन युगल के रूप में छः पुत्र उत्पन्न किये, जिन्हें इन्द्र की आज्ञा से हारीदेव सुभद्रिल नगर के सेठ सुदृष्टि के यहाँ पहुँचाता रहा और उसके मृतपुत्रों को देवकी के पास छोड़ता रहा। सेठ के यहाँ छहों पुत्रों का लालन-पालन। देवकी द्वारा स्वप्न-दर्शन। भाद्रपद में कृष्ण का जन्म।

वसुदेव का उन्हें विश्वासपात्र नन्दगोप को सौंप देना और यशोदा की नवजात पुत्री को ले जाना। कंस द्वारा उसकी नाक चपटी कर छोड़ देना। नन्द और यशोदा के यहाँ कृष्ण का लालन-पालन। देवकी उपवास के बहाने कृष्ण को देखने गयी। कृष्ण की बाल-क्रीड़ा और लोकोत्तर पराक्रम।

बलराम की शिक्षा से कृष्ण का अनेक विद्याओं में पारंगत होना। कृष्ण को मारने के लिए कंस के विविध प्रयत्न। मल्लयुद्ध के लिए कंस का कृष्ण को मथुरा बुलाना। शंकित वसुदेव का समुद्रविजय आदि सब भाइयों को बुलाना और यदुवंशी राजाओं को देख कंस का भयभीत होना। बलराम और कृष्ण का कंस के मल्लों के साथ युद्ध। सब मल्लों के साथ चाणूर और मुष्टिक मल्लों की मृत्यु। कंस के सामने आने पर कृष्ण का उसे शिलातल पर पछाड़ देना। जरासन्ध की सेना के साथ यादवों का

युद्ध। कृष्ण का राजा उग्रसेन की बेड़ियाँ काटना और उन्हें पुनः राजसिंहासन पर आसीन करना।

यादवों की सभा में विद्याधर राजा सुकेतु के दूत का आगमन। शुभ समाचार। रतिमाल की पुत्री रेवती का बलभद्र से और सुकेतु की पुत्री सत्यभामा का कृष्ण से विवाह। रोहिणी और देवकी का आनन्दित होना।

दसवाँ प्रकरण

तीर्थंकर नेमि के गर्भ में आने से छः माह पूर्व से समुद्रविजय के भवन में रत्नों की वर्षा। शिवादेवी द्वारा सोलह शुभ स्वप्नों का दर्शन। समुद्रविजय का स्वप्न-फल वर्णन। वैशाख शुक्ल त्रयोदशी की रात को जिनेन्द्र का जन्म। सर्वत्र मंगल ध्वनि। विद्युत्कुमारियों और दिक्कुमारियों द्वारा भगवान का जातकर्म। इन्द्रादि देवों द्वारा मेरु पर्वत पर बालक जिनेन्द्र का क्षीरसागर-जल से अभिषेक। इन्द्र द्वारा स्तुति। नेमि जिनेन्द्र अपने गुणों से जगत् को ज्योतिर्मय करते हुए बड़े होने लगे।

कंस की स्त्री जीवद्यशा का राजगृह आना। जरासन्ध का क्रोध। पुत्र कालयवन को यादवों के नाश के लिए भेजना। सत्रह बार युद्ध। कालयवन की मृत्यु। दूसरे पुत्र अपराजित की पराजय और मृत्यु। राजा जरासन्ध का अनेक बन्धु-बान्धवों की सेना के साथ स्वयं युद्ध के लिए तत्पर होना। यादवों की मन्त्रणा और गुप्त रूप से प्रस्थान। जरासन्ध का अनुसरण। देवियों द्वारा हस्तक्षेप और कृत्रिम चिताएँ जलाकर जरासन्ध को यादवों के नष्ट होने का मिथ्या समाचार देना। जरासन्ध का वापस लौटना।

समुद्रविजय, वसुदेव, बलभद्र, कृष्ण तथा नेमि द्वारा समुद्र के सौन्दर्य का दर्शन। कृष्ण द्वारा पंच परमेष्ठी का स्वप्न, ध्यान। इन्द्र की आज्ञा से समुद्र का पीछे हटना। कुबेर द्वारा द्वारिका नगरी का निर्माण। द्वारिकाधीश के रूप में श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा।

नेमिकुमार का युवावस्था में पदार्पण। शरीर में शुभलक्षणों का विकास। सबकी अपलक दृष्टि का लक्ष्य।

ग्यारहवाँ प्रकरण

नारद का यादवों की सभा में आगमन। नेमिकुमार, नारायण कृष्ण और बलभद्र के दर्शन से तृप्त नारद। गौतम गंगाधर द्वारा नारद का वंश-परिचय।

सत्यभामा द्वारा नारद की अवज्ञा। नारद का रोष। कुण्डिनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी को कृष्ण के प्रति उत्सुक करना। कृष्ण का रुक्मिणी के प्रति आकर्षण। रुक्मिणी का हरण। शिशुपाल का वध। कृष्ण द्वारा रुक्मिणी को पटरानी पद देना। सत्यभामा की असूया।

दुर्योधन का सन्देश। कृष्ण के प्रथम पुत्र के साथ दुर्योधन की भावी पुत्री के परिणय की वचनबद्धता।

रुक्मिणी के गर्भ से अच्युतेन्द्र का जन्म। सत्यभामा के भी श्रेष्ठ पुत्र का जन्म। श्रीकृष्ण को रुक्मिणी के पुत्रजन्म का सन्देश सर्वप्रथम और सत्यभामा के पुत्रजन्म का सन्देश तत्पश्चात् मिलता है। अत: रुक्मिणी के पुत्र को ज्येष्ठ पुत्र की पदवी।

धूककेतु द्वारा रुक्मिणी के पुत्र का अपहरण। राजा कालसंवर और रानी कनकमाला के द्वारा खादिर अटवी में शिला के नीचे बालक की प्राप्ति। कालसंवर का उसे कनकमाला के पुत्र के रूप में स्वीकार करना और अपने राज्य का युवराज पद देना।

पुत्र-हरण से रुक्मिणी का क्रन्दन। द्वारिका में हाहाकार। कृष्ण का रुक्मिणी को सान्त्वना देना। पुत्र की खोज के लिए प्रयत्नशील श्रीकृष्ण के पास नारद का आगमन। समाचार से स्तब्ध नारद का सीमन्धर भगवान के पास जाना। चक्रवर्ती राजा पद्मरथ के प्रश्न करने पर भगवान ने सब वृत्तान्त के अन्त में कहा, 'उस खोये हुए बालक का नाम प्रद्युम्न है। वह सोलहवें वर्ष में सोलह विद्याओं को प्राप्त कर अपने माता-पिता से मिलेगा।' सीमन्धर भगवान ने प्रद्युम्न के पूर्वजन्मों का कथन किया।

मेघकूट पर्वत पर, नारद का विद्याधरों से सेवित, प्रद्युम्न का दर्शन और द्वारिका आंकर श्रीकृष्ण, रुक्मिणी तथा यादवों के समक्ष प्रद्युम्न का वर्णन। सबकी प्रसन्नता। नारद के प्रति रुक्मिणी के कृतज्ञ वचन।

श्रीकृष्ण का जाम्बवती से विवाह। परस्पर प्रीतिभाव और स्वर्गिक सुखभोग।

बारहवाँ अध्याय

विजयार्ध पर्वत पर प्रद्युम्न की अल्प समय में ही आकाशगमन आदि विद्याधर-विद्याओं में कुशलता। युद्धविद्या में पारंगत प्रद्युम्न की अतिशय सुन्दरता। कामदेव का ही दूसरा रूप। प्रद्युम्न द्वारा पिता कालसंवर के प्रतिरोधी राजा सिंहरथ की पराजय। प्रद्युम्न को विधि-विधानपूर्वक युवराज पद। अन्य राजकुमारों का द्वेष और प्रद्युम्न के नाश के उपाय। प्रद्युम्न को सोलह संकटपूर्ण स्थानों में भेजना और प्रद्युम्न का वहाँ से अनेक लाभों को प्राप्त कर आना। राजकुमारों का शान्ति धारण करना। प्रद्युम्न के विजयी रूप को देख कनकमाला का काममोहित भाव। प्रद्युम्न से प्रणय-निवेदन। प्रद्युम्न का खिन्न हो माता-पुत्र सम्बन्धों की गरिमा का वर्णन। कनकमाला द्वारा प्रद्युम्न से सब सत्य कथन। प्रद्युम्न कनकमाला का पुत्र नहीं है, यह जानकर प्रद्युम्न का मुनि सागरचन्द्र से सब पूछना। कनकमाला में पूर्वजन्म का संस्कार। मुनि के आदेश से प्रद्युम्न का कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या के बारे में प्रश्न। कनकमाला द्वारा प्रद्युम्न को गौरी और प्रज्ञप्ति विद्या का दान। प्रद्युम्न ने कनकमाला को गुरु पदवी देकर उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं। कनकमाला का प्रपंच। कालसंवर का विश्वास और प्रद्युम्न को मारने का प्रयत्न, तदनन्तर युद्ध। कालसंवर की पराजय। कालज्ञ नारद

का आगमन और सब बातों का स्पष्टीकरण। प्रद्युम्न की पिता से माता कनकमाला के लिए क्षमा-प्रार्थना। समस्त राजकुमारों के प्रति भ्रातृस्नेह प्रकट करना।

प्रद्युम्न का द्वारिका जाने के लिए नारद के साथ विमान में प्रस्थान। मार्ग में सेना देख प्रद्युम्न का प्रश्न। नारद ने बताया कि दुर्योधन-पुत्री उदधिकुमारी सेना की सुरक्षा में द्वारिका जा रही है। प्रतिज्ञा के अनुसार प्रद्युम्न से ही उसका विवाह होना चाहिए, पर प्रद्युम्न के न होने के कारण सत्यभामा के पुत्र भानु से इसका विवाह होगा।

सब बात जान प्रद्युम्न का भील वेश धारण कर सेना को रोकना और उदधिकुमारी को लेकर विमान में आना। प्रद्युम्न के वास्तविक रूप को देख और नारद से सब वार्ता सुन उदधिकुमारी की अतिशय प्रसन्नता।

प्रद्युम्न का द्वारिका में भानुकुमार, सत्यभामा, श्रीकृष्ण को छद्म रूप में परेशान करना। अनेक अद्‌भुत कार्यों से सबको चकित करना। रुक्मिणी को बाल-लीलाएँ दिखाकर प्रसन्न करना। रुक्मिणी को हरकर सब यादवों को चुनौती देना। कृष्ण के साथ युद्ध। तदनन्तर रुक्मिणी की प्रार्थना से नारद का बीच-बचाव और कृष्ण को प्रद्युम्न का परिचय देना।

पिता-पुत्र का मिलन। प्रद्युम्न का उदधिकुमारी से विवाह।

तेरहवाँ प्रकरण

श्रीकृष्ण को जाम्बवती से शम्ब नामक पराक्रमी पुत्र की प्राप्ति। युवा होने पर शम्ब के वीर कार्य। अनेक कन्याओं से विवाह तथा पितामह वसुदेव के भवन में जाकर उनसे विनोद। वसुदेव के रोमांचकारी अनुभव। आनन्दभेरी बजवाकर सबको बुलाना और अपना जीवनचरित सुनाना। चरित सुनकर अद्‌भुत रस का अनुभव करना। वसुदेव की कथा की घर-घर चर्चा।

चौदहवाँ प्रकरण

कुरु-वंश का परिचय। इसी कुल में शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ तीर्थंकरों का जन्म। कालान्तर में राजा शान्तनु और उनके पुत्र धृतराज की तीन रानियों-अम्बिका से धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से विदुर का जन्म। भीष्म धृतराज के भाई रुक्मण और गंगा के पुत्र थे। राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे। वसुदेव की दोनों बहनों-कुन्ती और माद्री से राजा पाण्डु का विवाह। कुन्ती से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन का जन्म हुआ और माद्री से नकुल और सहदेव का। ये पाँचों भाई पाण्डव कहलाते थे।

धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में राज्य को लेकर विरोध।

दुर्योधन की कर्ण और जरासन्ध से मित्रता। पाण्डवों को जलाकर मारने का प्रयत्न, पर असफलता। पाण्डवों का गुप्त प्रयाण। कौशिक नगरी में राजकन्या

कुसुमकोमला और तपोवन में वसन्तसुन्दरी से भेंट। भीम द्वारा नरभक्षी राक्षस का वध। मदोन्मत्त हाथी का वशीकरण। पाण्डवों का विन्ध्याचल में प्रवेश। हिडिम्बवंशी राजकन्या से भीम का विवाह। माकन्दी नगरी में राजा द्रुपद की चन्द्रकयन्त्र वेध करनेवाले के साथ राजकन्या द्रौपदी के विवाह की प्रतिज्ञा। कर्ण, दुर्योधन आदि राजाओं के समक्ष अर्जुन का चन्द्रकयन्त्र वेध और द्रौपदी से विवाह। अर्जुन ने नामांकित बाण से अपना परिचय प्रकट किया। भीष्म, द्रोण, विदुर तथा द्रुपद-वंश में हर्ष। कौरव-पाण्डवों के बीच राज्य का बँटवारा। पुनः षड्यन्त्र। जुए में युधिष्ठिर की पराजय। बारह वर्ष का अज्ञातवास। अनेक देशों में भ्रमण। रामगिरि पर्वत पर बने जिन मन्दिरों में पाण्डवों का प्रतिमा-पूजन। वहीं ग्यारह वर्ष तक निवास। विराट नगर में राजा विराट की सेवा में पाँचों पाण्डव छिपकर रहने लगे। द्रौपदी का शैलन्ध्री वेश में रहना। रानी सुदर्शना के बड़े भाई कीचक का द्रौपदी के प्रति आकर्षण और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न। भीम द्वारा शिक्षण। कीचक का वैराग्य और दीक्षा। कीचक का अवधिज्ञान। कीचक मुनि के पूर्वजन्मों की कथा।

अज्ञातवास की अवधि पूरी होने पर पाण्डवों का दक्षिण दिशा में प्रयाण। विन्ध्यवन में तपस्यारत विदुर के दर्शन। पाण्डवों का द्वारिका में आगमन। यादवों में आनन्द की लहर। श्रीकृष्ण ने समस्त वैभवों से पूर्ण पाँच राजप्रासाद पाण्डवों को दिये और उन्हें यादवकुल की पाँच श्रेष्ठ कन्याएँ प्रदान कीं। अर्जुन को सुभद्रा प्राप्त हुई।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

एक सौदागर का अमूल्य मणियों के साथ राजगृह में आगमन। मणियों की मूल्यवत्ता से चक्रवर्ती जरासन्ध का चकराना। पूछने पर सौदागर ने बताया कि महाराज कृष्ण की नगरी द्वारिका में तीर्थंकर नेमिनाथ के जन्म के उपलक्ष्य में देवताओं ने पन्द्रह माह तक रत्नों की वर्षा की थी। उन्हीं रत्नों में से ये रत्न हैं। जरासन्ध की शान्ति-भंग। मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा। मन्त्रियों की हितैषिणी वाणी। जरासन्ध अप्रभावित। युद्ध की तैयारी। दोनों पक्षों के असंख्य वीर युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र में एकत्रित। कुन्ती का कर्ण को समझाना। कर्ण की स्वामी-निष्ठा। युद्ध में भाइयों से न लड़ने का वचन।

राजा जरासन्ध के द्वारा व्यूह-रचना। यादवों की कार्य-सिद्धि के लिए कृष्ण, बलराम और नेमिनाथ का रथारूढ़ होना। सेनापति अनावृष्टि, नेमिकुमार और अर्जुन के द्वारा चक्रव्यूह भंग। जरासन्ध की पराजय। दूसरे दिन कृष्ण और जरासन्ध का युद्ध। अन्त में जरासन्ध द्वारा चक्ररत्न का प्रयोग। चक्ररत्न नेमिनाथ और कृष्ण की परिक्रमा कर कृष्ण के दायें हाथ में स्थित हो गया।

देवताओं द्वारा नौवें नारायण के रूप में कृष्ण का अभिनन्दन। जरासन्ध का

औद्धत्य। शब्दों से कृष्ण का तिरस्कार। अन्त में चक्ररत्न से जरासन्ध की मृत्यु।

वसुदेव द्वारा विरोधी विद्याधरों का दमन। अनेक विमानों में विद्याधरों को लेकर वसुदेव का आगमन। हर्ष-मिलन। जरासन्ध की मृत्यु पर जहाँ यादवों ने आनन्द-नृत्य किया था, वह स्थान 'आनन्दपुर' नाम से प्रसिद्ध और जिनमन्दिरों से व्याप्त हो गया।

श्रीकृष्ण की दक्षिण भरतक्षेत्र की विजय। द्वारिका में विजयोत्सव। कृष्ण ने जरासन्ध के दूसरे पुत्र सहदेव को राजगृह का, उग्रसेन के पुत्र द्वार को मथुरा का राजा बनाया तथा नेमिकुमार को शौर्यपुर की गद्दी पर अभिषिक्त किया। पाण्डवों को हस्तिनापुर दिया।

यादव परम ऐश्वर्य-भोगों को भोगते हुए द्वारिका में निवास करते रहे।

सोलहवाँ प्रकरण

हस्तिनापुर में धर्मात्मा युधिष्ठिर का राज्य। प्रजा का सुख-मंगल। एक दिन नारद का आगमन। आत्ममुग्ध द्रौपदी द्वारा नारद की अवज्ञा। क्रुद्ध नारद का धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में राजा पद्मनाभ से मिलना और द्रौपदी के सौन्दर्य का वर्णन। द्रौपदी का अपहरण। पाण्डवों की चिन्ता। नारद का कृष्ण को सूचित करना। पाण्डवों के साथ कृष्ण का प्रयाण। आक्रमण से पद्मनाभ की निरुपायता और द्रौपदी से क्षमा-याचना।

धातकीखण्ड के नारायण कपिल द्वारा पद्मनाभ का तिरस्कार।

अप्रिय घटना के कारण श्रीकृष्ण का पाण्डवों के प्रति रोष। हस्तिनापुर में सुभद्रा के पुत्र आर्यसूनु का राज्याभिषेक। पाण्डवों की विदा। पाण्डवों का दक्षिण दिशा में समुद्र के तटों पर भ्रमण तथा दक्षिण मथुरा नगरी की स्थापना।

सत्रहवाँ प्रकरण

नेमिकुमार का बलदेव और कृष्ण की सभा में आगमन। बलवानों की गणना। बलभद्र का नेमि को सर्वाधिक बली मानना। कृष्ण की हास्यविनोद में नेमिकुमार को चुनौती और पराजय। कृष्ण ने नेमि के लोकोत्तर बल को स्वीकार किया।

गिरनार पर्वत की शोभा। श्रीकृष्ण का रानियों के साथ प्रस्थान। नेमिकुमार और बलभद्र भी गये। नेमि की जलक्रीड़ा। नेमि का अपने गीले वस्त्र निचोड़ने के लिए रानी जाम्बवती को विलासपूर्ण संकेत। जाम्बवती का कपट-क्रोध और अपने पति कृष्ण की शक्ति का बखान। इसे चुनौती मानकर नेमिकुमार का कृष्ण की नागशय्या पर आरोहण, शाङ्र्ग धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाना और उनका पांचजन्य शंख फूँकना।

कृष्ण का आगमन और स्तब्धता। वास्तविकता जान कुमार के प्रति प्रेम। नेमिकुमार में कामोद्दीपन हुआ है, यह सोचकर उनके लिए भोजवंशियों की राजकुमारी राजमती की माँग। विवाह की तैयारियाँ।

वर्षा ऋतु में नेमिकुमार का अनेक राजकुमारों के साथ वन-भ्रमण के लिए प्रस्थान। वनश्री के मध्य एक स्थल पर भयकम्पित करुण चीत्कार करते पशुओं का दर्शन। उन बँधे हुए पशुओं को देख कुमार का रथ रोकना और पूछना। उनके विवाह में मांसभोजी राजाओं के भोजन के लिए इन्हें निरुद्ध किया गया है, जानकर कुमार के दुःखभरे दार्शनिक वचन और वैराग्य।

लौकान्तिक देवों का आगमन। नगर में वापस आकर कुमार का कुटुम्बियों को अपने निर्णय से अवगत कराना और देवनिर्मित पालकी में आरूढ़ हो गिरनार पर्वत पर जाना। शिलातल पर आसीन भगवान पद्मासन में विराजमान हुए। वस्त्राभूषण का त्याग तथा पंचमुट्ठियों से केशों का उन्मूलन। इन्द्र द्वारा मणिमंजूषा में केशों का क्षीरसागर में विसर्जन। 'दीक्षा कल्याणक' का उत्सव। नेमि प्रभु का स्तवन। राजपुत्री राजमती का शोक। तदनन्तर तपस्या।

प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्ध का ऊषा से विवाह।

अठारहवाँ प्रकरण

नेमिनाथ के केवलज्ञान का समय निकट। व्रत गुप्ति और समितियों में उनकी उत्कृष्टता। रत्नत्रय और तपोलक्ष्मी से सुशोभित। धर्म्य शुक्ल ध्यानों की प्रशस्तता। विचय शब्द की व्याख्या। छप्पन दिन की समीचीन तपश्चर्या के पश्चात् आश्विन शुक्ल प्रतिपदा के दिन प्रातः वेला में नेमि प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया। घण्टारव, सिंहनाद से दिशाएँ मुखरित। तीनो लोकों के इन्द्रों का गिरनार पर्वत के लिए प्रस्थान। गिरनार पर्वत की अद्भुत छटा। अनन्त विभूतियों से विभूषित, तीनों लोकों के उद्धारक, हरिवंश के शिरोमणि नेमि बाईसवें तीर्थंकर के रूप में प्रकट हुए।

गिरनार पर्वत पर समवसरण की रचना। समवसरण भूमि का वर्णन। मानांगण, महावीथियों, स्तम्भों का कलात्मक वर्णन। सरोवरों, वापिकाओं, वृक्षों से सजे वनों का उल्लेख। एक हजार स्तम्भों पर खड़ा 'महोदय' नाम का मण्डप। गन्धकुटी प्रासाद में भगवान का सिंहासन। देव, दानव, मानवों के द्वारा जिनेन्द्र की स्तुति। भगवान नेमिनाथ के समक्ष बारह सभाओं में मुनियों के साथ बारह गणधर आसीन। भगवान के विराजमान हो जाने पर देवों द्वारा जीवों का आह्वान। कृष्ण, बलदेव आदि राजाओं का प्रवेश। भगवान जिनेन्द्र की प्रदक्षिणा।

समवसरण का प्रभाव। भगवान की दिव्य ध्वनि का प्रवाह। निर्मल मोक्षमार्ग की व्याख्या।

शिवादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी आदि रानियों ने श्राविकाओं का चरित्र अपनाया।

उन्नीसवाँ प्रकरण

विहार के लिए उद्यत भगवान। विजय-यात्रा का आरम्भ। कामधेनु के समान मणिमय भूमि का निर्माण। देवों द्वारा हजार पंखुरीवाले 'पवित्र कमल' की रचना। यह कमल 'पद्मयान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवान का पद्मयान पर आरूढ़ होना। देवों का स्तवन।

भगवान जिनेन्द्र का जीवों पर दया करते हुए विहार। मार्गों की सज्जा। ऋषियों, देवों का काव्यात्मक चित्रण। जीवों को अनेक आश्चर्यों की प्राप्ति। शुभकार्यों का वर्धन। उपद्रवों और विप्लव का अभाव। सर्वत्र आनन्द-मंगल का प्रसार। अनेक देशों में भ्रमण के पश्चात् भगवान का पुनः गिरनार पर्वत पर आगमन। देवकी का तीन युगल मुनियों के विषय में प्रश्न। भगवान का उत्तर कि छहों मुनि देवकी के जुड़वाँ जनमे छह पुत्र हैं और अब ये इसी जन्म में सिद्धि प्राप्त करेंगे। देवकी का सन्तोष। कृष्ण की सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि आठों प्रधान रानियों ने भगवान से अपने पूर्वजन्म सुने और मोक्षप्राप्ति का आश्वासन प्राप्त किया।

एक अवसर पर श्रोताओं के हित की इच्छा से तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों और प्रतिनारायणों के विषय में श्रीकृष्ण का प्रश्न। भगवान नेमिनाथ द्वारा तीर्थंकरों का वर्णन।

अनेक देशों में विहार के पश्चात् भगवान का पुनः गिरनार पर्वत पर आगमन। बलभद्र का द्वारिका, कृष्ण और अपने विषय में प्रश्न। भगवान की भविष्यवाणी– 'बारहवें वर्ष में द्वारिका का विनाश। कौशाम्बी वन में जरत्कुमार द्वारा कृष्ण की मृत्यु। इस मृत्यु के निमित्त से बलराम को तप की प्राप्ति।'

बीसवाँ प्रकरण

द्वारिका के विनाश में स्वयं को कारण जान रोहिणी के भाई द्वैपायन कुमार का मुनि होकर पूर्व दिशा में निकल जाना। जरत्कुमार का दुखी होकर अज्ञात वनों में चले जाना।

सन्तप्त यादवों का नगर में प्रवेश। कृष्ण की घोषणा–'मेरे माता-पिता, स्त्री, सन्तति, जो भी दीक्षित होना चाहें, हो सकते हैं।' प्रद्युम्न, भानु सहित अनेक कुमारों, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि रानियों का दीक्षा लेना। बलदेव का, दीक्षा के लिए तत्पर अपने भाई सिद्धार्थ से, मोहजन्य स्थिति में सम्बोधन का वचन लेना।

द्वारिका के अन्त का समय समीप था। अवधि के विषय में सबको भ्रान्ति।

विनाश-काल व्यतीत हुआ जान द्वैपायन मुनि का आगमन। द्वारिका के बाहर प्रतिमायोग में विराजमान द्वैपायन मुनि पर मदिरा से उन्मत्त शम्ब आदि कुमारों का पत्थर फेंक उन्हें घायल कर देना।

मुनि में क्रोध का उदय। बलभद्र और कृष्ण की प्रार्थना। द्वैपायन मुनि का निश्चय अटल। वे मरकर अग्निकुमार नामक देव बने। इस अनिष्टकारी देव के द्वारिका में प्रवेश करते ही विनाश आरम्भ हो गया। सब भस्मसात् होने लगा।

बलदेव और कृष्ण ने समुद्र के जल से अग्नि बुझाने का प्रयत्न किया, पर पानी तेल बन गया। उन्होंने माता-पिता की रक्षा करनी चाही, पर उस क्रोधी देव ने उन्हें बाहर न निकलने दिया।

माता-पिता के वचन मान बलदेव और कृष्ण द्वारिका से निकल आये। अत्यन्त सन्तप्त दोनों भाइयों ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया।

द्वैपायन मुनि ने बालक, स्त्री-पुरुषों से व्याप्त सुन्दर द्वारिका को छह माह में जलाकर भस्म कर दिया।

इक्कीसवाँ प्रकरण

बलदेव और कृष्ण की सारी सम्पदाएँ नष्ट। आश्रय की खोज। हस्तवप्र नगर। बलदेव का शरीर ढँककर अन्न-जल लेने के लिए नगर में प्रवेश। धृतराष्ट्रवंशी अच्छन्द राजा द्वारा बल-प्रयोग। कृष्ण और बलदेव का प्रतिकार।

दक्षिण दिशा में चलते हुए कौशाम्बी नाम के दुर्गम वन में प्रवेश। थके, प्यासे कृष्ण का बलदेव से पानी माँगना। शीतल जल की खोज में बलदेव का प्रस्थान। वृक्ष की छाया में शरीर ढँककर, बायें घुटने पर दायाँ पैर रखकर कृष्ण का विश्राम। क्षणभर की नींद।

भाग्य की विडम्बना के कारण जरत्कुमार का आगमन। कृष्ण के वस्त्र के हिलते हुए छोर को हिरन का कान समझना। बाण-सन्धान। तलुवे का बिंधना। कृष्ण का चमककर उठ बैठना। किस अकारण वैरी ने उनका तलुवा बींधा है—कृष्ण द्वारा नाम-कुल पूछना। जरत्कुमार का अपना परिचय देना और शोकाकुल हो रुदन करना। 'भवितव्यता को टाला नहीं जा सकता', कृष्ण का समझाना। जरत्कुमार के पूछने पर द्वारिका और यादवों के नाश का कथन। बलराम के आने से पहले ही जरत्कुमार को अपनी कौस्तुभमणि देकर पाण्डवों के पास भेजना।

घाव की वेदना से व्याकुल कृष्ण ने वस्त्र से अपना सारा शरीर ढँक लिया। नेमि जिनेन्द्र को बार-बार नमस्कार कर कृष्ण ने निवृत्ति का अनुभव किया। भावी तीर्थंकर श्रीकृष्ण इसी अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हुए।

बाईसवाँ प्रकरण

कृष्ण के स्नेह से व्याकुल बलराम का जल की खोज में वन-वन भटकना। दूर एक सरोवर से कमल के पत्ते में पानी लेकर बलराम का लौटना। कृष्ण को सोया जान उनके पास बैठना। कुछ देर बाद उन्हें जगाने का प्रयत्न। वस्त्र हटाते ही उन्हें निष्प्राण देख बलराम का चीत्कार। प्रचण्ड गर्जन से घातक को सामने आने का आदेश। फिर असहाय हो रुदन। बलराम का विलाप। कृष्ण से अनेक प्रकार का आत्मालाप। अनेक प्रिय वचन। तदनन्तर कृष्ण को बाँहों में उठाकर वन में इतस्ततः भ्रमण। अनेक दिन बीतने पर भी यही क्रम।

दक्षिण मथुरा पहुँचकर जरत्कुमार द्वारा कृष्ण के दूत का कर्तव्य सम्पन्न। पाण्डवों के कुशल-क्षेम पूछने पर जरत्कुमार का रुँधे कण्ठ से सब कहना। उच्च स्वर में रुदन। पाण्डवों का विलाप।

सबका बलराम की खोज में वनगमन। बलराम की विक्षिप्तता। कृष्ण के दाह-संस्कार का निषेध। वर्षा ऋतु के बाद शरद ऋतु का आगमन।

बलदेव के जिस भाई ने मोहग्रस्त स्थिति में सम्बोधन का वचन दिया था, वह सिद्धार्थ स्वर्ग में देव बन चुका था और अनेक शक्तियों का स्वामी था। उसका अनेक दृष्टान्तों, प्रबोधनों और बोध-प्रसंगों से बलराम को सचेत करना। बलदेव का मोह-भंग, रत्नत्रय की प्राप्ति।

जरत्कुमार और पाण्डवों के साथ तुंगीगिरि के शिखर पर बलराम द्वारा कृष्ण का दाह-संस्कार। बलराम ने मुनि-दीक्षा धारण की।

अनेक प्रकार का योग-चिन्तन। बलराम की श्रेष्ठ साधना। परीषह जय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और समयक्चारित्र से युक्त। सौ वर्षों के तप के बाद बलराम की समाधि। ब्रह्मलोक में इन्द्रपद प्राप्त।

कृष्ण के दर्शन के लिए बालुकाप्रभा पृथिवी पर जाना।

कृष्ण की इच्छानुसार बलराम द्वारा समस्त भरतक्षेत्र को कृष्ण-मन्दिरों से भर देना।

बलराम के देव का ब्रह्मस्वर्ग गमन और जिनेन्द्र का पूजन कर दिव्य सुखों की प्राप्ति।

तेईसवाँ प्रकरण

पाण्डवों को वैराग्य। पुत्रों को राज्यभार। हरिवंश का राजा जरत्कुमार। पाण्डवों का कुन्ती, द्रौपदी आदि के साथ जिनेन्द्र भगवान के विहार-स्थल पल्लव देश के लिए प्रस्थान। समवसरण में विराजमान नेमि जिनेन्द्र की परिक्रमा। भगवान के धर्मोपदेश के पश्चात् पाण्डवों का पूर्वजन्म-विषयक प्रश्न। श्री जिनेन्द्र द्वारा उनके और द्रौपदी के पूर्वजन्मों का वर्णन। अन्त में, श्री नेमिजिनेन्द्र का कथन-'युधिष्ठिर, भीम और

अर्जुन को इसी जन्म में मोक्ष-प्राप्ति होगी। नकुल, सहदेव को सर्वार्थसिद्धि। सम्यग्दर्शन से शुद्ध, द्रौपदी को कालान्तर में मनुष्य-जन्म में मोक्ष-प्राप्ति होगी।'

पाण्डवों का दीक्षा-ग्रहण। कुन्ती, सुभद्रा, द्रौपदी का तप-लीन होना।

चौबीसवाँ प्रकरण

भगवान नेमि जिनेन्द्र का उत्तरापथ से सुराष्ट्र देश की ओर आगमन। अन्तिम समय निकट। निर्वाणकल्याणक को प्राप्त होनेवाले नेमि जिनेन्द्र मानव, सुर-असुरों से सेवित हो गिरनार-पर्वत पर आरूढ़ हुए। समवसरण में विराजमान हो भगवान का धर्मोपदेश।

तदनन्तर अघातिया कर्मों का नाश कर भगवान का अनेक मुनियों के साथ निर्वाण। देवों ने भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की। दिव्य गन्ध तथा पुष्पों से पूजित तीर्थंकर भगवान का शरीर बिजली की तरह आकाश को दैदीप्यमान करता हुआ विलीन हो गया।

पच्चीसवाँ प्रकरण

उपसंहार : गौतम गणधर ने 'हरिवंश' कथा का उपसंहार करते हुए राजा श्रेणिक से कहा, 'यह कथा तुझे लक्ष्मी प्रदान करे।' गौतम गणधर से इस पवित्र पुराण को सुनकर राजा श्रेणिक की धन्यता और अपने नगर को प्रस्थान।

भगवान महावीर पावानगरी के 'मनोहरोद्यान' नामक वन में विराजमान। स्वाति नक्षत्र में कार्तिक अमावस्या के दिन प्रातःकाल भगवान की मोक्षप्राप्ति। निर्वाण-महोत्सव में पावानगरी में दीप-सज्जा।

भगवान के 'निर्वाण कल्याणक' के उपलक्ष्य में, भरत क्षेत्र में, तब से प्रतिवर्ष दीपमालिका-उत्सव।

भगवान जिनेन्द्र की स्तुति।

श्री जिनसेनाचार्य द्वारा गुरु-परम्परा तथा 'हरिवंश गाथा' के पठन-पाठन के फल का वर्णन।

अनुकूल वर्षा के कारण उत्तम धान्य से पूर्ण पृथिवी सब प्राणियों के लिए सुखकारी हो—इति प्रार्थना।

यशसा धवलीकृतजन्मपवित्रितभारतवर्ष महाहरिवंश–
महोदयशैलशिखामणिबालदिवाकर दीप्तिजितार्कवपुः।
वपुषाधिककान्तिभृताजितपूर्णशशांक विभो! हरिनीलमणि–
द्युतिमण्डलमण्डितदिङ्मुखमण्डल नेमिजिनेन्द्र! नमो भवते॥

हरिवंश गाथा

प्रथम प्रकरण

कथा-प्रसंग

हरिवंश-कथा का आरम्भ एक प्रश्न से होता है, जिसे राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से पूछा था।

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर का 'ज्ञान-कल्याणक' उत्सव सम्पन्न हो चुका था। छियासठ दिन तक मौनपूर्वक विहार करते हुए भगवान राजा श्रेणिक के नगर राजगृह में आये और लोगों को प्रतिबुद्ध करने के लिए विपुलाचल पर विराजमान हुए। देवों ने समवसरण की रचना की और इन्द्र की प्रेरणा से इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति आदि पण्डितों ने अपने शिष्यों के साथ वहाँ दीक्षा धारण की। इन्द्रभूति भगवान के गणधर बने और गौतम गणधर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भगवान महावीर के इस समवसरण में राजा श्रेणिक भी अपनी प्रजाओं के साथ नित्यप्रति आता था और तीर्थंकर भगवान की सेवा कर उनका धर्मोपदेश ग्रहण करता था।

एक दिन भगवान का धर्मोपदेश पूरा हुआ। तीनों लोकों की कमलिनी मोक्षमार्ग के ज्योति-स्पर्श से प्रमुदित हो उठी। दिशाएँ निर्मल हो गयीं और जिस तरह बची हुई धूल को बादलों की पंक्तियाँ नीचे बैठा देती हैं, उसी प्रकार भगवान की धर्मदेशना ने समस्त लोकों के जीवों की भ्रान्ति को शान्त कर दिया।

धर्मोपदेश के बाद देवों ने भगवान की वाणी का अनुशीलन किया और कुछ देव वन के बीच स्थित एक मुनि का स्तवन करने लगे। वे दुन्दुभि बजा रहे थे, पुष्पवृष्टि और रत्नवृष्टि द्वारा उन महामुनि की पूजा कर रहे थे।

इन्द्रों से पूजित इन मुनि को देखकर राजा श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने श्रुतकेवली गौतम गणधर से पूछा, ''पूज्यवर, इन्द्र आदि देव जिनकी पूजा कर रहे हैं, ये मुनि कौन हैं? इनका वंश कौन-सा है और आज इन्होंने कौन-सा उत्कर्ष प्राप्त किया है?''

गौतम बोले, "राजन्, आपन जितशत्रु राजा का नाम सुना होगा। वह हरिवंश का सूर्य था और उसने अपने प्रताप से सभी राजाओं को पराभूत किया था। उसने राज्य का त्याग कर भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली थी और कठोर तप किया था। आज उसी जितशत्रु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, इसलिए देवों ने उसकी पूजा की है।"

गणधर ने कथा का सूत्र जोड़ते हुए कहा, "जब वर्धमान महावीर का जन्मोत्सव हो रहा था, तब यह कुण्डपुर आया था और उनके पिता राजा सिद्धार्थ ने इस मित्र का बहुत सत्कार किया था। राजा जितशत्रु की बड़ी इच्छा थी कि वह अपनी बेटी यशोदा और कुमार वर्धमान का विवाह-मंगल देख सके, किन्तु कुमार तप के लिए चले गये और केवलज्ञान को प्राप्त कर लोककल्याण के लिए पृथिवी पर विहार करने लगे।

जितशत्रु भी वैरागी होकर तप में लीन हो गया। आज उसी ने केवलज्ञान प्राप्त कर अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक किया है।"

राजा श्रेणिक का कुतूहल बढ़ता जा रहा था। उसने अधिक जानने की इच्छा से गौतम गणधर से प्रणामपूर्वक फिर प्रश्न किया, "भगवन्, यह हरिवंश कौन-सा वंश है? इसकी उत्पत्ति कब और कहाँ हुई? इसका आदिपुरुष कौन है? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों से सम्पन्न कितने राजा इस वंश में हुए हैं? मैं भरत क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणों का चरित्र सुनना चाहता हूँ, कृपया आप मुझे विस्तार से सुनाएँ।"

गौतम स्वामी ने कहा, "राजन्, आपकी जिज्ञासा श्रेष्ठ है। मैं आपसे विस्तार-पूर्वक सब कुछ कहूँगा। आप ध्यान से सुनें।"

इस तरह यह हरिवंश कथा गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक को विपुलाचल पर सुनायी थी।

कथा समाप्त करते हुए गौतम गणधर ने बताया, "राजा श्रेणिक, जिस जितशत्रु के प्रसंग से तुम्हारे मन में हरिवंश को जानने की जिज्ञासा हुई थी, वह राजा जितारि का पुत्र था।

जब द्वारिका का पतन हो गया और नियतिवश श्रीकृष्ण बड़े भाई जरत्कुमार के हाथों मृत्यु का ग्रास बने, तब श्रीकृष्ण की ही इच्छा से जरत्कुमार को राजा बनाया गया था। धीर-वीर जरत्कुमार ने अपनी सन्तति से इस महान हरिवंश की रक्षा की थी। इसी वंश-परम्परा में अनेक राजा हुए, जो अपने युवा पुत्रों पर राज्यलक्ष्मी का भार सौंपकर तप के लिए वन में चले गये। हजारों बरसों बाद इसी वंश में राजा कपिष्ठ हुआ, फिर उसका पुत्र अजातशत्रु, फिर शत्रुसेन, फिर उसका पुत्र जितारि राजा हुआ।

उसके पुत्र जितशत्रु को तुम जानते ही हो, इसने अन्त में कर्मबन्ध से रहित होकर अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया था।''

राजा श्रेणिक ने हजारों अन्य राजाओं के साथ इस पवित्र पुराण को सुना और सम्यग्दर्शन से प्रकाशित होकर सब अनुयोगों में प्रवीणता प्राप्त की। उसने राजगृह नगर को भव्य जिनमन्दिरों से व्याप्त कर दिया और सारे मगध देश में—नगर, ग्राम, बस्ती, पर्वत और वन-वनान्तरों में—अपने प्रभाव से असंख्य जिनमन्दिरों का निर्माण कराया।

दूसरा प्रकरण

गंगा और सिन्धु महानदियों के बीच जो दक्षिण भरतक्षेत्र है, उसमें चौदह कुलकरों का जन्म हुआ था। इनमें पहला कुलकर प्रतिश्रुति था और इसकी वंश-परम्परा में क्रम से जिस अन्तिम और चौदहवें कुलकर का जन्म हुआ, वह नाभिराज कहलाता था। ये चौदहों कुलकर पूर्वजन्मों के ज्ञाता, मर्यादा की रक्षा करनेवाले, प्रजा के पितातुल्य, अत्यन्त गुणवान और महाप्रभावशाली थे।

महाराजा नाभिराज समस्त पुरुषार्थों का मनन करने के कारण मनु कहलाते थे। उस समय दक्षिण भरतक्षेत्र में कल्पवृक्ष रूप प्रासादों का अभाव हो गया था, लेकिन नाभिराज का सर्वतोभद्र प्रासाद अकेला ही अनेक कल्पवृक्षों से घिरा हुआ था। उसके खम्भे सोने के थे, दीवारें मणियों की और वह पुखराज, मूँगा, मोतियों की मालाओं से सजा हुआ था। इक्यासी खण्डोंवाला यह सर्वतोभद्र प्रासाद अनेक कोट, बावड़ियों और बाग-बगीचों से अपने ऐश्वर्य को प्रकट कर रहा था।

राजा नाभिराज की पटरानी का नाम था मरुदेवी। शुद्ध कुल में उत्पन्न महारानी मरुदेवी अपने दर्शन और प्रभाव में इन्द्राणी के समान थीं।

जब प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के गर्भावतरण का समय समीप आया, तब इन्द्र की आज्ञा से कुबेर राजा नाभिराज के घर के आँगन को रत्नवृष्टि से भरने लगा और श्री, लक्ष्मी, धृति, कीर्ति आदि निन्यानबे देवकुमारियाँ छः मास पहले से मरुदेवी की सेवा करने लगीं।

एक रात महारानी मरुदेवी अगरु-चन्दन से सुवासित राजमहल में चन्द्रशय्या पर सो रही थीं। रात का अन्तिम प्रहर चल रहा था, जब उन्होंने शुभ संकेतों को प्रकट करनेवाले सोलह स्वप्न देखे। सूर्योदय हुआ। देवियों ने सुगन्धित प्रलेपन मलकर उन्हें सुवासित शीतल जल से स्नान कराया और हलके वस्त्र आभूषण पहनाये। सुसज्जित होकर रानी महाराजा के पास गयीं। भद्रासन पर बैठे राजा को

उन्होंने नमस्कार किया और उन सोलह शुभ स्वप्नों को बताया।

राजा स्वप्नों के फल के जानकार थे। उन्होंने रानी से कहा, ''देवि, निश्चय ही आज तुम्हारे गर्भ में भगवान तीर्थंकर का अवतरण हुआ है। छः मास से हो रही रत्नवर्षा और देवियों द्वारा की जा रही तुम्हारी सेवा, जिस दिव्य जन्म का निर्देश कर रही थी, वह आज फलीभूत हो गया है। निश्चय ही समस्त कल्याणों के पात्र महान पुत्र को उत्पन्न कर तुम जल्दी ही जगत् में आनन्द का विस्तार करोगी।''

स्वप्न-फल सुनकर मरुदेवी की दीप्ति सहस्रगुना बढ़ गयी। तीनों जगत् के गुरु भगवान जिनेन्द्र गर्भ में अवतरित हो चुके हैं, इस गुरुता से और भी गौरवशालिनी हुई माता मरुदेवी धीर-गम्भीर पगों से अपने विशाल कक्ष में लौटीं।

धीरे-धीरे गर्भ बढ़ने लगा, फिर भी मरुदेवी अपने शरीर में अपूर्व लघुता का अनुभव करती थीं। जिन भगवान भी गर्भ में इस तरह निश्चल रहते थे, मानो जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब हो।

नौ मास पूरे हुए, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में जिन बालक का जन्म हुआ। जैसे पूरब दिशा में स्फटिकश्वेत मेघमण्डलों से निकला सूर्य सुशोभित होता है, उसी तरह माता मरुदेवी के गर्भ से निकले जिनेन्द्र सुन्दर लग रहे थे।

मति, श्रुत और अवधि ज्ञाननेत्रों से जगत् को देखनेवाले जिन बालक का जातकर्म संस्कार प्रमुख विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियों ने विधिपूर्वक सम्पन्न किया।

जिनेन्द्र के जन्म के प्रभाव से तीनों लोकों के इन्द्रों के मुकुट चंचल हो गये और आसन काँप गये। अवधिज्ञान का प्रयोग करनेवाले अहमिन्द्रों ने अपने सिंहासनों से सात डग चलकर जिनेन्द्र भगवान को परोक्ष नमस्कार किया। भवनवासी देवों के लोक में शंखों की ध्वनि, व्यन्तरों के लोक में भेरी की ध्वनि और ज्योतिषी देवों के लोक में सिंहध्वनि अपने आप होने लगी। घण्टा-रव कल्पवासी देवों के लोक में व्याप्त हो गया।

उस समय सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र का आसन क्या कम्पित हुआ, उसकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। वह सोचने लगा—अगर देव-दानव प्रतिकूल हो जाएँ, तो मैं उन्हें भी नष्ट कर सकता हूँ। मैं इन्द्र हूँ, शक्र हूँ, पुरन्दर हूँ, फिर वह कौन स्वच्छन्द है, जिसने मेरे अकम्पित आसन को कम्पित किया है?

मैं तीनों लोकों में तीर्थंकर के सिवा अन्य किसी की ऐसी सामर्थ्य नहीं देखता।

इस तरह शंकित हो सौधर्मेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान नेत्र का सहारा लिया और भरतक्षेत्र में जनमे तीर्थंकर को देख लिया। वह तुरन्त आसन से उतरा और उसने सात डग भरकर जिनेन्द्र भगवान को परोक्ष नमस्कार किया। वह लौटा और आसन

ग्रहण करके सामने आज्ञा में तत्पर खड़े सेनापति से बोला, ''इस अवसर्पिणी के पहले तीर्थंकर का जन्म हो चुका है। समस्त देवों को भरतक्षेत्र चलने की आज्ञा दो!''

आज्ञा मिलते ही देव-समुदाय साज-सज्जा के साथ सौधर्मेन्द्र के पीछे चल पड़ा।

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों के समुदायों ने आकाश व्याप्त कर लिया। अनेक वाहनों, छत्रों, ध्वजाओं और सफेद चँवरों से युक्त वे देव आकाश में इतस्ततः चल रहे थे। भेरी, दुन्दभि, शंख की ध्वनियों और नृत्य-गीतों से युक्त देवों का वह संचरण अद्‌भुत उस की सृष्टि कर रहा था।

सबके लिए आश्चर्यकारी, आकाश से नीचे आती देव-पंक्तियाँ राजा नाभिराज की नगरी अयोध्या में उतरीं। वन, उपवन, सरोवर और बावड़ियों से अलंकृत वह नगर महामणियों से निर्मित भवनों से प्रकाशित हो रहा था। उस नगर की शोभा देखकर देवासुरों ने स्वर्ग और पाताल को देखने की उत्कण्ठा छोड़ दी। तीनों जगत् के प्राणी वहीं एक साथ आये थे, इसलिए वह नगर उस समय से 'साकेत' कहलाने लगा।

समस्त देवों को लेकर सौधर्मेन्द्र ने उस नगर की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और इन्द्राणी ने पति की आज्ञा से प्रसूतिगृह से जिन बालक को लाकर इन्द्र के हाथों में सौंप दिया। उस समय देवियों ने अपनी माया से माता को सुखनिद्रा में निमग्न कर दिया था और उनके पास माया-जन्य दूसरा बालक लिटा दिया था।

जिन बालक को गोद में लेकर ऐरावत पर बैठा सौधर्मेन्द्र ऐसा लग रहा था, मानो बालसूर्य के साथ निषधाचल का शिखर ही हो।

जिन बालक को लेकर इन्द्रसहित सारा देव-समुदाय सुमेरु पर्वत के शिखर पर पहुँचा। उन्होंने पाण्डुकशिला पर रखे सिंहासन पर बालक को विराजमान किया और नृत्य-गीत-संगीत से नवजात बालक का स्वागत किया।

अभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं। सौधर्मेन्द्र ने योग्य वेश धारण किया और देवांगनाएँ हाथों में अष्ट मांगलिक द्रव्यों को लेकर खड़ी हो गयीं। उस समय वेगशाली देवों का समूह कलश लेकर बादलों के समान सारी दिशाओं में फैल गया और क्षीर सागर में हलचल मचा दी। पंक्तिबद्ध देवगण क्षीरभरे चाँदी और सोने के कलश एक हाथ से दूसरे हाथ में लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुँचा रहे थे। क्षीर सागर के जलभरे सहस्रों कलशों से भगवान का अभिषेक हुआ। वह परोक्ष क्षीर सागर उस समय सुमेरु पर्वत के शिखर पर अभिषेक जल के प्रवाह के कारण प्रत्यक्ष के सदृश दिखाई दे रहा था। अभिषेक के बाद श्री, शची, लक्ष्मी आदि देवियों ने जिन बालक को दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया और तदनन्तर युग के आदि में हुए उन

प्रधान पुरुष का ऋषभ नाम रखकर इन्द्रादि देवों ने उनकी इस प्रकार स्तुति की :

'हे ऋषभ! मति, श्रुति और अवधि ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करनेवाले आप यद्यपि भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं, फिर भी आपने तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया है। जो देव देवत्व के अभिमान से इस पृथिवी को तुच्छ समझते हैं, वही आज पृथिवी पर जनमे आपको अपने शिर पर धारण कर रहे हैं। आपने अपनी अचिन्त्य आत्मशक्ति के प्रभाव से तीनों जगत् को अपने अधीन कर लिया है।

'हे नाथ, जब आप गर्भ में थे, तब सबको इष्ट हिरण्य (सुवर्ण) की वृष्टि होने के कारण आप हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। तीनों ज्ञानों के साथ आप स्वयं उत्पन्न हुए हैं, इसलिए आप स्वयम्भू हैं। आप भरतक्षेत्र में अनेक व्यवस्थाओं को करनेवाले होंगे, इसलिए विधाता हैं। प्रजा के रक्षक होने के कारण प्रजापति हैं। आपके रहते हुए प्रजा बहुत आनन्द से इक्षुरस का पान करेगी, इसलिए आप इक्ष्वाकु हैं। आप पुराणपुरुषों में प्रथम हैं, महिमाशाली हैं, महान हैं और यहाँ प्रकाशमान हैं इसलिए पुरुदेव हैं।

'हे विभु, पृथिवी पर आप धीर-वीर मुनि बनकर दान-धर्म का प्रवर्तन करेंगे और अपने उदाहरण से यह प्रकट करेंगे कि विशुद्ध पात्रता क्या है। हे देव, आप काम-सर्प को नष्ट करने के लिए मन्त्र हैं। द्वेषहस्ति को वश में करने के लिए अंकुश हैं। मोह के मेघसमूह को नष्ट करने के लिए प्रचण्ड वायु हैं। आप अपने प्रशस्त तथा निश्चल ध्यान में अवस्थित होने के कारण उस महासरोवर के समान हैं, जिसकी सारी मछलियाँ सोयी हुई हैं।

'तेल की अपेक्षा न रखनेवाले केवलज्ञान के दीपक से आप समस्त पदार्थों को प्रकाशित करेंगे और मोक्षमार्ग के उपदेष्टा होंगे। आपके उपदेश से जगत् के जीव स्वर्गश्री और मोक्षश्री को प्राप्त करेंगे। आपका मार्ग प्रमाण और नीतिमार्ग का अविरोधी है, उस पर चलकर जगत् के प्राणी अपने श्रेय स्थान को प्राप्त करें, आप सकल लोक के वन्द्य हैं, आपको नमस्कार हो!

'हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हैं अत: आपको नमस्कार हो। आप अनन्त दर्शन के धारक हैं, अनन्त बल से युक्त हैं, अनन्त शान्ति से पूर्ण हैं। आप लोकों के नाथ हैं, बन्धु हैं, अद्वितीय वीर हैं, लोक के विधाता हैं। आप चन्द्रमा हैं, सूर्य स्वरूप

हैं, सबका हित और सबका रक्षण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार
हो, नमस्कार हो!'

अनेक स्तुतियों से जिन बालक की वन्दना कर इन्द्र सहित सब देवों ने प्रार्थना की :

'आपमें हमारी श्रेष्ठ भक्ति सदा बनी रहे?' और बालक को लेकर अयोध्या आ गये। इन्द्राणी ने बालक को माता की गोद में दिया और सब देवों ने माता-पिता का यथोचित सम्मान कर उनके सामने 'आनन्द-नाटक' किया।

'इन्द्रों ने हमारे पुत्र का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक किया है और वह तीनों लोकों का स्वामी है,' इस ज्ञान से राजा नाभिराज और महारानी मरुदेवी को अपार हर्ष हुआ।

माता-पिता के नेत्रों के लिए आनन्दवर्धन जिनेन्द्र भगवान दिनोंदिन बढ़ने लगे। वे इन्द्र के द्वारा भेजे हुए तथा अपने ही प्रतिबिम्ब के समान दिखनेवाले देव-बालकों के साथ खेलते थे। भगवान की कोमल शय्या, कोमल आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान—सभी वस्तुएँ देवनिर्मित थीं और कुबेर इन्द्र की आज्ञा से ऋतुओं के अनुकूल सभी वस्तुएँ बालक ऋषभ की सेवा में अर्पित करता था।

जब भगवान पूर्ण युवा हुए, तो तीनों लोकों में अपूर्व सुन्दरी नन्दा और सुनन्दा से उनका विवाह हुआ। संसार में न वह कान्ति थी, न दीप्ति थी, न सम्पत्ति और न वह कला ही थी, जो भगवान ऋषभ और नन्दा-सुनन्दा को प्राप्त न हो। कुछ समय बाद नन्दा ने भरतक्षेत्र को आनन्दित करनेवाले पुत्र भरत चक्रवर्ती और पुत्री ब्राह्मी को जुड़वाँ रूप में जन्म दिया और रानी सुनन्दा ने महाबली पुत्र बाहुबली और पुत्री सुन्दरी को एक साथ जन्म दिया। महारानी नन्दा के भरत और कन्या ब्राह्मी के अलावा वृषभ आदि अट्ठानबे पुत्र और हुए। उनके ये सभी पुत्र चरमशरीरी थे।

ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों और दोनों पुत्रियों को समस्त कलाओं में पारंगत किया।

एक बार राजा नाभिराज से प्रेरित होकर समस्त प्रजा ऋषभदेव के पास पहुँची और प्रणामपूर्वक उनसे अपनी व्यथा का निवेदन किया। प्रजा के मान्यजनों ने कहा, ''देव, पहले कल्पवृक्ष प्रजा की आजीविका का साधन थे। उनके नष्ट हो जाने पर स्वयं रस टपकानेवाले इक्षुवृक्ष साधन हुए। अब फलों के भार से झुकी अनेक वनस्पतियाँ दिखाई तो देती हैं, लेकिन हम नहीं जानते, इनमें कौन-सी खाने योग्य

हैं और कौन-सी नहीं। पहले सिंह, व्याघ्र, भेड़ियों को हम गले से लगाते थे, लेकिन अब वे कुपुत्रों की तरह हमें भयभीत करते हैं। इसलिए स्वामिन्! क्षुधाग्रस्त इस प्रजा को जीवन-निर्वाह के उपाय बताइए और भय से इसकी रक्षा कीजिए।''

दयालु ऋषभदेव ने प्रजा को भूख से व्याकुल देखकर दिव्य आहार के द्वारा उनकी पीड़ा दूर की। फिर धर्म, अर्थ, काम आदि साधनों का उपदेश दिया। उन्होंने सुख की सिद्धि के लिए असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन छः कर्मों का उपदेश देकर यह भी बताया कि गाय, भैंस आदि पशुओं का संग्रह तथा रक्षा करनी चाहिए और सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवों का परित्याग करना चाहिए।

तभी एक दिन राजा नाभिराज की इच्छा से इन्द्रादि समस्त देवों ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया। उस समय विनयी लोगों से भरी अयोध्या 'विनीता' और 'साकेत' नाम से प्रसिद्ध हुई। इक्ष्वाकु क्षत्रियों में जो वृद्ध और नीतिज्ञ थे, उन्हें महाराज ऋषभ ने रक्षाकार्य में नियुक्त किया। उस समय अनेक राजा बनाये गये। कुरुवंशी राजाओं में श्रेयांस और सोमप्रभ विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

बहुत समय बीत गया, एक दिन ऋषभदेव इन्द्र की नीलांजना नर्तकी का नृत्य देख रहे थे। तभी उनके मतिज्ञाननेत्र का उपयोग उस नर्तकी को देखने में हो गया। इसी एक प्रसंग से ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। जो पदार्थ पहले राग का कारण जान पड़ते थे, वे ही अब शान्ति का कारण हो गये। जो पदार्थ पहले बुद्धि में विलास पैदा करते थे, वे ही अब शान्ति को जन्म देने लगे। ऋषभदेव की भोगाभिलाषा दूर हो चुकी थी और चिरकाल तक भोगों में आसक्त रहने के कारण अब उनकी आत्मा अपने आप से लज्जित हो रही थी।

वे सोच रहे थे—'अरे, यह कैसी आश्चर्यजनक बात है, जो स्वयं पराधीन है, दूसरे लोग उसके अधीन हो रहे हैं! यह नर्तकी इस कारण नृत्य कर रही है कि उसके नृत्य से महाराज प्रसन्न होंगे। उनके प्रसन्न होने पर इन्द्र प्रसन्न होगा और इन्द्र की प्रसन्नता से उसे अधिक सुखों की प्राप्ति हो सकेगी। इस नर्तकी की यह कैसी भ्रान्ति है? सुख तो आत्माधीन मनुष्य का है, क्योंकि वह अन्तातीत है। जिस तरह नदियों के प्रवाह से समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही स्वर्गादि के सुखों से भी प्राणी की तृप्ति नहीं हो सकती। मैंने अनेक जन्मों में विद्याधर, देव आदि बनकर अनेक दिव्य भोग भोगे और अब मनुष्य बनकर इन अनन्त भोगों को भोग रहा हूँ, पर क्या मेरी तृप्ति हुई? आज मैं दुख से दूषित होनेवाले इन सारे सुखों को छोड़कर मोक्षसुख का उपाय करता हूँ।

हाय, मैं मति, श्रुत और अवधि—इन तीन ज्ञानों से सम्पन्न होकर भी साधारण मनुष्य की तरह राज्य में लगा रहा, समय की यह कैसी उपेक्षा हुई मुझसे!'

भगवान ऐसा वैराग्यपूर्ण चिन्तन कर ही रहे थे कि तभी ब्रह्मलोक के वासी

सारस्वत, आदित्य आदि लौकान्तिक देव वहाँ आये और नमस्कार कर बोले, ''जिससे अपना और पर का कल्याण हो, उस धर्मतीर्थ-प्रवर्तन का यही समय है। हे प्रभो! यह संसार चतुर्गति रूप महावन में दिशाभ्रान्त हो रहा है, इसे मोक्षमार्ग दिखलाइए। हे जगदीश्वर! मन्त्र की तरह चिरकाल से जिसकी परम्परा टूट चुकी है, ऐसे मोक्षमार्ग का आप फिर से प्रकाश कीजिए। जो जन्म, जरा, मरण—इन तीन दु:खरूपी भँवरों से युक्त है, तथा राग, द्वेष, मोह—ये तीन दोष जिसमें सर्प की भाँति निवास कर रहे हैं, ऐसे संसाररूपी सागर में भ्रमण कर रहे जीवों के लिए आप कर्णधार हों। इस समय सत्पुरुष आपके द्वारा दिखाये हुए मार्ग पर चलकर नित्य सुख के शिखर पर विश्राम करें।''

जिस तरह समुद्र के लिए चढ़ाया हुआ जल केवल उसकी पूजा के लिए होता है, वैसे ही स्वयं प्रतिबुद्ध भगवान के लिए लौकान्तिक देवों के ये वचन थे।

भगवान ने धीर-वीर सौ पुत्रों के लिए राज्य का विभाजन कर दिया और तभी इन्द्रादि देवों ने आकर भगवान का अभिषेक कर वस्त्र, आभूषण और मालाओं से उन्हें अलंकृत किया। कुबेर एक नयी दिव्य पालकी लेकर आया जो नक्षत्रों के समान आभापूर्ण रत्नों की प्रभा से अत्यन्त देदीप्यमान थी। वह मण्डलाकार श्वेत मेघ के समान उज्ज्वल छत्र, हंसमाला के समान चंचल चमरों से तथा तारकों के समान चमकीले फूलों से सजी थी। वह नीलमणियों से जड़ित और अपने दर्पणों से समस्त दिशाओं को प्रतिभासित कर रही थी।

इन्द्र ने ऋषभदेव से पालकी पर आरूढ़ होने की प्रार्थना की। अपने माता-पिता, पुत्र तथा आश्रित परिजनों से पूछकर बत्तीस डग चले और फिर पालकी पर इस तरह आरूढ़ हुए, जैसे सूर्य उदयकालीन लक्ष्मी पर आरूढ़ होता है। अनेक देवों और प्रजाओं से घिरे हुए अशोक, चम्पा, सप्तवर्ण, आम और वटवृक्षों से व्याप्त सिद्धार्थ नाम के वन में पहुँचे।

उन्होंने प्रजा को सम्बोधित कर कहा :

''प्रजाजनो, तुम लोग शोक छोड़ो, क्योंकि प्राणियों का हर संयोग वियोग के लिए ही है। जब एक दिन इस शरीर से भी अलग होना पड़ता है, तब अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है! अत्यन्त चतुर पुत्र भरत को मैंने आप लोगों की रक्षा में नियुक्त किया है। आप अपने धर्म में स्थिर रहते हुए उसकी सेवा करें। वह आपकी सेवा का पात्र है।''

इसके बाद ऋषभदेव ने अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर संयम धारण कर लिया। इन्द्र ने भगवान के पंचमुट्ठियों से उखाड़े हुए शिर के बालों को रत्न-पिटारी में रख लिया और आदरपूर्वक क्षीरसमुद्र में विसर्जित कर दिया। इस तरह 'दीक्षाकल्याणक' होने पर सबने भगवान की पूजा की और अपने-

अपने स्थानों को प्रस्थान किया। उस समय इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र तथा भोज वंश के चार सहस्त्र मुख्य स्वामिभक्त राजाओं ने भी नग्नदीक्षा धारण की।

परीषहों को सहनेवाले, महातपस्वी, पर्वत के समान निश्चल भगवान छ: मास का कायोत्सर्ग लेकर मौन हो विराजमान हुए। साथ ही वे अन्य राजा भी, जो परमार्थ को नहीं जानते थे, केवल स्वामी के अनुरूप कार्य करना चाहते थे, निश्चल हो कायोत्सर्ग लेकर स्थित हो गये।

जब भूख और प्यास से उन राजाओं की आत्मा व्याकुल हो गयी, तब वे विचार करने लगे कि हमारे सेवक, पुत्र और स्त्रियाँ हमारे लिए भोजन लेकर आते ही होंगे। इस तरह भूख-प्यास से विकल हुए राजा कायोत्सर्ग छोड़कर भागने लगे। इन राजाओं को नग्न रूप में रहते हुए ही स्वेच्छा से फल-फूल खाना, जल पीना आदि कार्यों को करने के लिए उद्यत देखकर उसी समय यह आकाशवाणी हुई :

''स्वयं ग्रहण के विरोधी इस नग्न वेश से आप लोग ऐसी प्रवृत्ति न करें?'

देवों के ये शब्द सुनकर राजा बड़े लज्जित हुए और उन्होंने कुशा, चीवर तथा वल्कल वस्त्र धारण कर लिये और कन्दमूल फल खाते हुए वनवासी-तपस्वी बनकर रहने लगे। इनमें नमि और विनमि नाम के दो राजपुत्र भोगों के अभाव से उद्विग्न होकर भगवान के चरणों में आ गये। उसी समय जिसका आसन कम्पित हुआ था, ऐसा धरणेन्द्र अवधिज्ञान से यह समाचार जान जिनेन्द्र की भक्ति से वहाँ आया और उन दोनों भाइयों को महाविद्या प्रदान की। धरणेन्द्र ने उन्हें विद्या का विजयार्ध पर्वत भी दिया। तदुपरान्त नमि दक्षिण श्रेणी के पचास नगरों का स्वामी होकर रथनूपुर नाम के नगर में रहने लगा और विनमि उत्तर श्रेणी के साठ नगरों का अधिपति होकर नभस्तिलक नगर में निवास करने लगा।

ऋषभदेव ध्यानसागर में प्रविष्ट हो प्रतिमायोग से विराजमान थे। उन्होंने छ: मास से आहार नहीं लिया था, फिर भी उन्हें किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं थी।

उन्होंने सोचा : 'जो लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए कर्म-बन्धन से छूटना चाहेंगे, आहार के अभाव में उनकी शक्ति क्षीण हो जाएगी, क्योंकि धर्म के द्वारा ही अर्थ, काम, मोक्ष—इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि होती है और धर्म का साधन शरीर है, इसलिए आवश्यक है कि शरीर की रक्षा की जाए। जो साधारण शक्ति के लोग हैं, वे निराहार रहकर धर्मसाधना नहीं कर सकते। धर्म में उनकी स्थिति बनाये रखने के लिए मैं आहार के इच्छुक मनुष्यों को निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि बताता हूँ।'

इस तरह विचार कर क्षुधा शान्त करने में स्वयं समर्थ होकर भी दृष्टान्त के लिए भगवान गोचर-वृत्ति से अन्न-ग्रहण करने के लिए निकले।

'केवलज्ञान' प्राप्त होने की अवधि तक उन्होंने मौन ले रखा था। मार्ग में चलते

समय उनकी दोनों भुजाएँ नीचे की ओर लम्बी थीं। वे मध्यम गति से चलते हुए पृथिवी पर चान्द्री चर्या से विचरण कर रहे थे। नगरों और ग्रामों के बीच से निकलते हुए भगवान को प्रजा ऊर्ध्वमुख होकर पिपासु नेत्रों से देखा करती थी। एक-दूसरे को सम्बोधन करती लोगों की बड़ी भारी भीड़ हर दिन आश्चर्य से व्याकुल होकर भगवान के दर्शन किया करती थी। वे लोग उन्हें वस्त्र, आभूषण, गन्ध, लेपन, मालाएँ अर्पित करते और कुछ अज्ञानी लोग उनके सामने सजे-सजाये घोड़े, हाथी, रथ रख देते। लोगों ने कभी किसी को आहार देते हुए न देखा था और न सुना था और न वे भगवान के अभिप्राय को ही जानते थे, इसलिए किसी के भी मन में उन्हें आहार देने का विकल्प नहीं उठा।

उगा हुआ सूर्य लोगों को जाग्रत करने के लिए सारे दिन खेदरहित होकर घूमता है, वैसे ही भगवान लोगों को प्रतिबुद्ध करते हुए अथकित भ्रमण करते थे। आहार न मिलने से उनकी बुद्धि में रंच भी विषाद नहीं आया और उन्होंने छः मास तक पृथिवी पर निराहार विहार किया।

भ्रमणशील भगवान एक दिन हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। उस नगर के राजा सोमप्रभ और श्रेयांस थे। उन दोनों भाइयों ने उसी रात में चन्द्रमा, इन्द्र की ध्वजा, मेरु पर्वत, बिजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और पुरुषोत्तम भगवान–ये आठ स्वप्न देखे। अगले दिन सभा में दोनों भाइयों ने विद्वानों के साथ इन स्वप्नों की चर्चा की, उन विद्वानों ने स्वप्न-फल बताते हुए कहा :

''चन्द्रमा के समान आनन्दवर्धन हमारा कोई बन्धु आज ही यहाँ आएगा। वह उत्तम यश का स्वामी, समस्त कल्याणों का पर्वत और सबके मनोरथों के लिए कल्पवृक्ष के समान होगा। वह विद्युत् की तरह क्षणभर को ही अपना शरीर दिखलाएगा और स्वर्गलोक से अवतरित हुआ होगा।''

इसके बाद दोनों राजाओं के स्वप्नों का परमफल वर्णन करते हुए उन्होंने कहा, ''नगर तथा राजभवन की जो शोभा आज दिखाई दे रही है, वह पहले कभी नहीं देखी। दिशाएँ भी अपूर्व रूप से स्वच्छ और शुभ्र हैं। ऐसा लगता है, भगवान ऋषभदेव आज स्वयं ही यहाँ पधारेंगे।''

तभी शंख-ध्वनि हुई। उसे शुभ संकेत मानकर दोनों भाई उठे और स्नान आदि कर भोजन के लिए बैठे। उसी समय सिद्धार्थ नाम का द्वारपाल दौड़ता हुआ आया और यह आनन्दप्रद समाचार सुनाने लगा :

''समुद्र पर्यन्त पृथिवी का त्याग करते समय इन्द्र ने जिनकी पालकी उठायी थी; कच्छ, महाकच्छ जैसे पूर्वपुरुषों के भ्रष्ट हो जाने पर जो अकेले ही तप के कठिन भार को धारण कर रहे हैं; जो क्षमा, मैत्री और तपलक्ष्मी के स्वामी हैं, वे लोकपूजित भगवान ऋषभदेव उत्तर दिशा से नगर में प्रवेश कर लोगों की स्तुति-

वन्दना स्वीकार करते हुए तथा प्रत्येक घर में चन्द्रमा की तरह अपना शीतल तेज बिखेरते हुए अन्त:पुर के आँगन में आ पहुँचे हैं।''

द्वारपाल के वचनों से आनन्दविह्वल होकर दोनों भाई हाथ जोड़ माथे पर रख भगवान के सामने गये और प्रदक्षिणा कर उन्हें प्रणिपात किया। सोमप्रभ और श्रेयांस मौनव्रती भगवान के आने का कारण सोचने लगे। अपलक नेत्र से उनकी ओर देखते हुए श्रेयांस के मन में यह विचार आया कि ऐसा रूप तो मैंने पहले कभी देखा है। तभी श्रेयांस के मन को भगवान के उपशान्त रूप से प्रतिबोध मिला और वह अपने तथा भगवान के पिछले दस जन्मों को जानकर उनके चरणों के समीप आकर मूर्छित हो गया। उसी अवस्था में उसे दान-विधि का स्मरण हो आया।

राजा श्रेयांस ने सर्वप्रथम दानविधि का प्रवर्तन किया। वह भगवान को घर के भीतर ले गया। वहाँ उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाकर उसने उनके चरण धोये और मन-वचन काय से उन्हें नमस्कार किया फिर उसने इक्षुरस से भरा हुआ कलश उठाकर कहा, ''प्रभु, यह इक्षुरस उद्गम, उत्पादन, एषणा और दाता के दोषों से रहित एवं प्रासुक है, इसे ग्रहण कीजिए।''

विशुद्धात्मा भगवान ऋषभदेव पैरों को सीधा कर खड़े थे। उन्होंने सक्रिय रूप से आहार की विधि दिखाते हुए चारित्र की वृद्धि के लिए पाणिपात्र में आहार ग्रहण किया।

उसी समय पंचाश्चर्य प्रकट हुए आकाश में देवों ने 'अहोदान, अहोदान, अहोपात्र, अहोदान देने की पद्धति!' कहकर धन्य-धन्य की ध्वनि की।

दानतीर्थ के प्रवर्तक राजा श्रेयांस के यश से दिशाएँ उज्ज्वल हो गयीं। सुगन्धित वायु बहने लगी और मानो श्रेयांस का सुन्दर मन ही अनेक होकर बरस रहा हो, इस तरह 'सुमनों' की वर्षा होने लगी।

जब धर्मतीर्थंकर ऋषभदेव तप के लिए वन में चले गये, तब देवताओं ने अभिषेक के साथ दान-तीर्थंकर राजा श्रेयांस की पूजा की। देवों से इस दान की कथा सुनकर राजा भरत ने भी अन्य राजाओं के साथ आकर राजा श्रेयांस की पूजा की। पूर्वस्मरण के कारण राजा श्रेयांस ने जो दानविधि चलायी, उसे भरत आदि राजाओं ने बड़ी श्रद्धा से सुना और अपने हृदय में दान देने की इच्छा रखकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

ऋषभदेव ने मोक्षतत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक वर्षों तक कठोर तप किया। लम्बी-लम्बी जटाओं के भार को धारण करने के कारण वे वटवृक्ष की तरह लग रहे थे।

एक बार विहार करते हुए भगवान भरत के छोटे भाई राजा वृषभसेन के राज्य पूर्वतालपुर नगर में पहुँचे। वे 'शकटास्य' नाम के उपवन में वटवृक्ष के नीचे एक

शिला पर ध्यानावस्थित हो गये। उन्होंने शुक्ल ध्यानरूपी तलवार से समस्त इन्द्रियों को अपने वशीभूत कर लिया और क्षपक श्रेणीरूप रणभूमि में प्रवेश कर महोत्साह गज पर आरूढ़ होकर मोहरूप राजा को नीचे गिरा दिया और उसके बाद ज्ञानावरण और दर्शनावरण तथा अन्तराय आदि शत्रुओं को भी नष्ट कर दिया। इस तरह चार घातिया कर्मों के क्षय से उन्हें समस्त द्रव्य जगत और लोक-अलोक को दिखानेवाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

राजा भरत को एक साथ पुत्र की उत्पत्ति, चक्ररत्न की प्राप्ति और भगवान के केवलज्ञान की प्राप्ति के समाचार मिले। इस भाग्योदय से प्रसन्न होकर भरत भगवान के दर्शन के लिए आया और उनकी पूजा कर उन्हें प्रणाम किया। उसी समय राजा वृषभसेन भी आया और संयम धारण कर उनका प्रथम गणधर हो गया। सोमप्रभ के बड़े पुत्र जयकुमार को राज्यपद देकर श्रेयांस और सोमप्रभ ने भी दीक्षा ले ली। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों कुमारियाँ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गयीं। उस समय भगवान के अर्हन्त वैभव को देखकर अन्य अनेक लोगों ने भी दीक्षा धारण की।

तदनन्तर बारह योजन विस्तृत समवसरण की रचना हुई। उसमें चतुर्विध संघ और चार निकाय के देव यथास्थान आसीन हुए। उस समवसरण में महाप्रभाव से सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता भगवान ऋषभदेव को निरन्तर नमस्कार कर रहे थे। समवसरण में बारह सभाएँ थीं, जिनमें मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्थिकाएँ, ज्योतिषी देवों की देवियाँ, व्यन्तर देवों की देवियाँ, भवनवासी देवों की देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आदि अपने-अपने स्थानों पर बैठे थे। जब तीन लोक के जीव भगवान का उपदेश सुनने की इच्छा से शान्तिपूर्वक बैठ गये, तब प्रथम गणधर ने जिनेन्द्ररूपी सूर्य से प्रश्न किया और उन्होंने अपनी वाणी से सबके मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया।

उस समय त्रिलोकवर्ती जीवों के निकट भगवान ने एक हजार वर्ष तक दृढ़तापूर्वक धारण किया हुआ मौन खोला।

भगवान ने उपदेश देते हुए कहा :

''चार निकाय के देवों और मनुष्यों में इन्द्रिय विषयजन्य जो सुख दिखाई देता है, वह धर्म से ही उत्पन्न हुआ है तथा मोक्षसम्बन्धी सुख भी धर्म से ही उत्पन्न होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सूक्ष्म रीति से धारण किये जाएँ तो मुनि का धर्म है और स्थूल रीति से धारण किये जाएँ तो गृहस्थ का धर्म है। दान, पूजा, तप और शील—यह गृहस्थ का चार प्रकार का शारीरिक धर्म है। गृहस्थ का यह धर्म त्याग से उत्पन्न होता है और सम्यग्दर्शनमूलक होने से देवों

की लक्ष्मी प्रदान करता है। पूर्णता से पालन किया हुआ मुनिधर्म मोक्ष सुख देनेवाला है।''

भगवान ने श्रुतज्ञान का उपदेश देकर पर्याय ज्ञान का उपदेश किया। उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि रत्नत्रय, माया, मिथ्या, निदान आदि तीन शल्य तथा जन्म-जरा-मरण आदि त्रिदोषों का निर्देश किया।

उन्होंने केवलज्ञान को अन्तिम ज्ञान की संज्ञा दी और कहा, ''यह सर्व प्रत्यक्ष है, अविनाशी है और समस्त पदार्थों को जाननेवाला है। यह एक अविनाशी केवल-ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण है।''

इस प्रकार आदि जिनेन्द्र की वाणीरूपी औषधि का पान कर तीनों जगत् के प्राणी संशयरूपी रोग से इस प्रकार छूट गये, मानो मोक्ष को ही प्राप्त हो गये हों।

सबने भगवान को नमन किया। श्री भगवान भी जगत् में विहार करने के लिए उद्यत हुए।

गृहस्थाश्रम से युक्त तथा श्रावकों में मुख्यता को प्राप्त राजा भरतेश्वर ने भगवान ऋषभदेव की पूजा की और राजाओं के साथ हर्षित होता हुआ अयोध्या वापस आया।

समवसरण से आकर भरत ने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया, चक्ररत्न की पूजा की और उसके बाद छः खण्डों को जीतने की इच्छा से प्रस्थान किया। भरत के साथ चतुरंग सेना थी और वे अपार जनसमूह के आगे चक्ररत्न के साथ-साथ चल रहे थे। गंगा नदी के किनारे-किनारे चलकर वह विशाल परिकर 'गंगा सागर' पहुँचा। वहाँ भरत ने अत्यन्त वेगशाली रथ पर आरूढ़ होकर द्वार खोला और समुद्र में प्रवेश किया। उस समय जानुपर्यन्त पानी में महाबाहु भरत वैशाख आसन से खड़े थे। उनके हाथ में वज्रकाण्ड धनुष था वे दृष्टि स्थिर करने, कड़ी मुट्ठी बाँधने और शरसन्धान करने में अत्यन्त निपुण थे।

उन्होंने उसी समय अपने नाम से चिह्नित अमोघ नाम का वेगगामी बाण छोड़ा। वज्र की भाँति चमकता वह बाण मगधराज के भवन में गिरा और उसने राजा के महल और हृदय को अपनी टंकार से हिला दिया। चक्रवर्ती के नाम से अंकित उस बाण को देखकर उसका मान खण्डित हो गया और वह हार, मुकुट, रत्न, वस्त्र, तीर्थोदक आदि की भेंट लेकर भरत के पास आया। उसने भरत की अधीनता स्वीकार की और अपने स्थान पर लौट गया।

वहाँ से भरत मार्ग में अनेक-अनेक प्राणियों, देवों को वश में करते हुए समुद्र के दक्षिणी वैजयन्त द्वार पर पहुँचे। वहाँ भी उनका नामांकित बाण पहुँचा और राजा वरतनु ने अनेक भेटों के साथ आकर भरत को प्रणाम किया। पश्चिम दिशा के सभी

राजाओं को भरत ने नम्र किया और अब सिन्धु नदी के द्वार पर आ पहुँचे। वहाँ के राजा प्रभास ने अनेक सुन्दर उपहारों से भरत की अभ्यर्थना की।

इसके बाद भरत विजयार्ध पर्वत की वेदिका के निकट आये। वहाँ उन्होंने उपवास कर पर्वत के अधिष्ठाता देव विजयार्ध कुमार का स्मरण किया। विजयार्ध ने उपस्थित हो अनेक ऋद्धियों से भरत का अभिषेक किया और दिव्य भेंट देकर कहा, ''मैं आपका सेवक हूँ।''

भरत ने वहाँ चक्ररत्न की पूजा की और तमिस्र गुफा के द्वार पर आये। कृतमाल नाम का देव तत्काल उपस्थित हुआ और चौदह दिव्य आभूषणों से भरत का सत्कार कर चला गया। राजेश्वर भरत की आज्ञा से उनके सेनापति अयोध्य ने दण्डरत्न से गुहा के द्वार को तोड़ा और भरत ने उस अँधेरी गुफा को काकणी मणि की किरणों से प्रकाशित कर दिया। उस गुफा में उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो नदियाँ बह रही थीं। भरत के स्थपतियों ने उन दोनों पर मजबूत पुल बनाये। सेना उन पुलों पर चढ़कर जल्दी ही उस पार बढ़ गयी और उत्तर द्वार को खोलकर उत्तर भरतक्षेत्र में जा पहुँची। वहाँ के हजारों म्लेच्छ राज्य चक्रवर्ती भरत की सेना से युद्ध करने लगे, लेकिन सेनापति अयोध्य ने उन्हें शीघ्र ही परास्त कर अपना नाम सार्थक किया। म्लेच्छों ने अपने कुलदेवता मेघमुख देव की शरण ली और भयंकर मेघों से आकाश को व्याप्त कर मूसलाधार वर्षा करने लगे। तभी जयकुमार ने मेघमुख देवों का सामना किया और युद्ध में उन्हें परास्त कर भरत चक्रवर्ती से 'मेघास्वर' की उपाधि प्राप्त की। वज्रध्वनि के साथ हो रही भयानक जल-वृष्टि देखकर भरत ने सेना के नीचे चर्मरत्न और ऊपर छत्ररत्न फैला दिया। सात दिन पानी में तैरती हुई वह सेना अण्डे की तरह जान पड़ती थी। भयभीत परिकर को देखकर भरत क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपने गणबद्ध देवों से मेघमुख देवों को नियन्त्रित कराया। अपने कुलदेवताओं की प्रेरणा से म्लेच्छ राजा अपनी श्रेष्ठ कन्याओं की भेंट लेकर चक्रवर्ती की शरण में आये। भरत ने शरणागत राजाओं को अभयदान दिया और स्वयं सिन्धु नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ने लगे। बीच में सिन्धुकूट पर निवास करनेवाली सिन्धुदेवी ने भरत का अभिषेक कर उन्हें दो उत्तम आसन भेंट किये।

भरत ने सेना को हिमालय की तराई में ठहराया और स्वयं तीन दिन का उपवास लेकर कुशासन पर आसीन हुए। उपवास पूरा होने पर उन्होंने तीर्थजल से स्नान किया। वस्त्राभूषण पहने और रथ पर आरूढ़ होकर हिमवत कूट पर पहुँचे। चक्ररत्न भरत के आगे-आगे चल रहा था। भरत ने बाण हाथ में लेकर वैशाख आसन से खड़े होकर कहा, ''हे नागकुमारो, सुपर्णकुमारो तथा इस देश में रहनेवाले सभी देवो, तुम लोग शीघ्र ही मेरी आज्ञा सुनो।''

और खींचकर बाण छोड़ दिया। बाण पाकर हिमवत कूट का अधिष्ठाता देव

भरत के पास आया और उसने दिव्य औषधियों की माला और हरिचन्दन से भरत की पूजा की और भरत का चक्रवर्तित्व स्वीकार कर अपने स्थान को लौट गया।

भरत वहाँ से चलकर वृषभाचल पर्वत पर आये और उन्होंने काकणी मणि से साफ-साफ अपना यह नाम लिखा :

'मैं भगवान ऋषभदेव का पुत्र भरत चक्रवर्ती हूँ।'

दोनों श्रेणियों के राजा नमि और विनमि को जब यह मालूम हुआ कि भरत यहाँ आये हुए हैं, तो उन दोनों ने गन्धार आदि विद्याधरों के साथ आकर उन्हें नमस्कार किया और सुभद्रा नाम की अद्वितीय कन्या अर्पित की।

गंगाकूट के निकट आकर भरत तीन दिन का उपवास लेकर ठहर गये। गंगा देवी ने उनके आने का समाचार जान एक हजार सुवर्ण कलशों से उनका अभिषेक किया और दो रत्नसिंहासन भेंट किये।

वहाँ से चलकर भरत विजयार्ध पर्वत की दूसरी गुफा खण्डकाप्रपात के समीप पहुँचे। यहाँ भी उन्होंने तीन दिन के उपवास का नियम लिया। नाट्यमालदेव ने तत्काल उपस्थित होकर उन्हें अनेक आभूषणों और विद्युत् के समान चमकते दो कुण्डल भेंट किये। अयोध्य सेनापति ने यहाँ भी दण्डरत्न से गुफा का द्वार खोला और भरत उस द्वार से सेनासहित बाहर निकल आये। अब चक्रवर्ती भरत ने छः खण्डोंवाले समस्त भरतक्षेत्र को जीतकर अपनी राजधानी अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया।

चक्ररत्न आगे-आगे चल रहा था। अयोध्या के निकट आने पर जब चक्र ने नगरी में प्रवेश नहीं किया, तब भरत शंकित हो गये और उन्होंने अपने पुरोहित बुद्धिसागर से पूछा, "समस्त भरतक्षेत्र को जीत लेने के बाद भी यह दिव्य चक्ररत्न अयोध्या में प्रवेश क्यों नहीं कर रहा है? अब तो युद्ध का पात्र कोई नहीं रहा है।"

पुरोहित बोला, "राजाधिराज, आपके महाबलवान भाई आपके अधीन नहीं हैं। वे आपकी आज्ञा नहीं सुनते हैं, इसीलिए यह चक्र द्वार पर ही रुक गया।"

"मेरा चक्रवर्तित्व अभी सिद्ध नहीं हुआ।" यह जानकर भरत ने अपने दूत भाइयों के पास भेजे।

भरत का यह कार्य ही उन भाइयों की बोधप्राप्ति का निमित्त बन गया। उन अभिमानी भाइयों ने त्याग को ही सर्वोपरि मान अपने-अपने राज्य छोड़ दिये और अन्तःकरण में मोक्ष की इच्छा रख पिता भगवान ऋषभदेव के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने पिता के दिये हुए इन देशों को तिनके की तरह त्याग दिया और साथ आ रहे सेवकों को भी पीछे न आने की आज्ञा दी।

लेकिन कुमार बाहुबली शान्त न रहे और उन्होंने भरत के प्रति अपनी प्रतिकूलता प्रकट की। उन्होंने भरत के चक्ररत्न को अलातचक्र की तरह साधारण

समझा। 'मैं आपके अधीन नहीं हूँ,' बाहुबली का यह सन्देश लेकर दूत भरत के पास गये। यहाँ बाहुबली अपनी अक्षौहिणी सेना लेकर पोदनपुर से निकल पड़े। उधर भरत भी अपनी सेना से दिशाओं को व्याप्त करते हुए वितस्ता नदी पर आ पहुँचे।

दोनों राजाओं के मन्त्रियों में मन्त्रणा हुई और यह निर्णय हुआ कि दोनों राजाओं में धर्मयुद्ध हो, ताकि प्रजाओं का नाश न होने पाए।

भरत और बाहुबली ने धर्मयुद्ध स्वीकार किया। सबसे पहले उनका दृष्टियुद्ध हुआ, फिर जलयुद्ध और फिर मल्लयुद्ध। बाहुबली बराबर जीतते गये और अन्त में उन्होंने भरत को हाथों में इस तरह ऊपर उठा लिया, जैसे कोई देव रत्नजड़ित पहाड़ उठाकर खड़ा हो। देव, गन्धर्व, विद्याधर साधुवाद देकर कहने लगे, "अहो वीर्य! अहो धैर्य!"

जब बाहुबली ने जीतकर भरत को छोड़ा, तब क्रुद्ध होकर भरत ने अप-मृत्युकारी सुदर्शन चक्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही हजार आरों को धारण करनेवाला चक्ररत्न उनके हाथ में आकर ठहर गया। एक हजार यक्ष उस चक्र की रक्षा कर रहे थे और वह सूर्य के समान देदीप्यमान था। भरत ने चक्र को ऊपर की ओर घुमाकर भाई को मारने के लिए छोड़ा, लेकिन बाहुबली चरमशरीरी थे, इसलिए वह देवाधिष्ठित चक्र उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ कर वापस आ गया।

बड़े भाई भरत की यह निर्ममता देख बाहुबली विमुख हो गये और कानों पर हाथ रखकर लक्ष्मी की इस तरह निन्दा करने लगे, "जिस तरह कीचड़ स्वच्छ, अनुकूल, मिले हुए जल को मलिन कर देती है उसी तरह यह लक्ष्मी निर्मल, अनुकूल और मिले हुए हृदयों को मैला कर देती है। जिस तरह पेरनेवाली मशीन मीठे, चिकने, स्निग्ध स्वभाववाले तिलों के तेल को हर लेती है, उसी तरह यह लक्ष्मी भी मधुर स्नेही स्वभाववाले मनुष्यों के पुराने से पुराने स्नेह को हर लेती है। जिस तरह आग की लपट आदि-मध्य-अन्त हर जगह छूने पर जलाती ही है और प्रकाशित होने पर भी सन्तप्त करती है, वैसे ही यह लक्ष्मी हर स्थिति में देख लेती है और विभवशाली होकर भी कष्ट ही पहुँचाती है, इसलिए इसे धिक्कार है, धिक्कार है, धिक्कार है!"

यह कहकर बाहुबली ने राज्य का परित्याग कर दिया और कैलास पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर निश्चल खड़े होकर तप करने लगे। उनके चरणों पर मणिभूषित सर्प लिपट गये और माधवी लता उनके समस्त शरीर का आलिंगन करने लगी। दो आकाशचारिणी अंगनाएँ उनके शरीर पर लिपटी लताओं को दूर करती जाती थीं। श्यामवदन, अविचल खड़े बाहुबली मरकतमणि के पर्वत की तरह प्रतीत हो रहे थे।

तदनन्तर भरत ने आकर उन्हें नमस्कार किया और मुनि बाहुबली समस्त कषायों का अन्त कर 'केवलज्ञानी' होकर भगवान ऋषभदेव के सभासद हो गये।

चौदह महारत्न और नौ निधियों के स्वामी भरत पृथिवी का निष्कण्टक भोग करने लगे। उन्होंने बारह वर्ष तक बिना किसी भेदभाव के मनचाहा दान दिया और उसके बाद जिनधर्म के अनुशासन से प्रेम रखने के कारण श्रावकों की परीक्षा की। यज्ञोपवीत को उनका चिह्न बनाया और वे श्रावक ब्राह्मण कहे जाने लगे। इस तरह तीन वर्णों के साथ मिलकर अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हो गये।

भरत चक्रवर्ती दिव्य सम्पदाओं के स्वामी थे, लेकिन स्वयं लिप्त नहीं थे और निरन्तर शास्त्रों का चिन्तन करते रहते थे। उनके वक्षस्थल पर श्रीवृक्ष का चिह्न था और वे अखण्डित पौरुष के अधिपति थे। उनके राज्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अनुराग रखनेवाले लोग निर्विघ्न आनन्द मनाते थे। वे धर्म की महिमा से मण्डित थे। उनका चित्त सम्यग्दर्शन की प्रभा से रँगा हुआ था। सबके लिए कल्पवृक्ष वे सिंह के समान सुदृढ़ मन को जिनमार्ग में लीन रखते थे। उनका नियम था, नित्य समवसरण में जाकर भगवान ऋषभदेव को नमस्कार करना।

इधर भगवान ऋषभदेव की निर्वाण-प्राप्ति का समय आ पहुँचा। सारे लोक में तीर्थ का प्रवर्तन कर भगवान कैलास पर्वत पर आरूढ़ हुए। एक हजार राजाओं के साथ भगवान ने योग निरोध किया और अनन्त सुख के मूल मोक्षस्थान को पाया। सब मुनियों ने, देवों ने और राजाओं ने भक्ति के कारण गन्ध, पुष्प, सुगन्धित धूप, शुभ चावल और दीप से जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव के शरीर की पूजा की और बार-बार नमस्कार कर धर्म में प्राप्ति के लिए याचना की।

कुछ समय बाद चक्रवर्ती भरत ने अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य सौंपकर स्वयं अत्यन्त कठिन जिनदीक्षा धारण की। उन्होंने अपने समस्त केश पंच मुट्ठियों से उखाड़कर फेंक दिये। उनके कर्मबन्ध की अवस्था इतनी जल्दी क्षीण हुई कि केशलोंच के साथ ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वे इन्द्रादि देवों से पूजित होकर पृथिवी पर विहार करने लगे। आयु के अन्त में वे वृषभसेन आदि गणधरों के साथ कैलास पर्वत पर गये और शेष कर्मों का क्षय कर वहीं मोक्ष प्राप्त किया।

राजा अर्ककीर्ति के बाद इसी वंश-क्रम में अनेक राजा हुए। ये अत्यन्त यशस्वी, पराक्रमी और देवों के प्रिय थे। इनमें से कितनों ने ही स्वर्ग प्राप्त किया और कितने ही मोक्षस्थान को प्राप्त हुए। इस तरह सूर्यवंश का यश विस्तृत होता गया।

बाहुबली के सोमयश नाम का पुत्र था। सोमयश ही सोम अर्थात् चन्द्रवंश का प्रवर्तक हुआ। इस वंश के भी अनेक राजाओं ने मोक्ष प्राप्त किया।

ऋषभदेव के बाद अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त और शीतलनाथ तीर्थंकर हुए।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं, "हे श्रेणिक! सर्वप्रथम इक्ष्वाकु वंश

उत्पन्न हुआ, फिर उसी इक्ष्वाकुवंश से सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए। जिस समय शीतलनाथ भगवान का शुद्ध एवं उज्ज्वल दसवाँ तीर्थ बीत रहा था तथा केवल ज्ञानरूपी दीपक से उज्ज्वल संसार में इन्द्रादि देवों का आगमन होता रहता था, तब महाप्रभाव का धारक हरिवंश हुआ। जिनमार्ग में इसका जो यथार्थ वर्णन है, उसका तू श्रवण कर।''

तीसरा प्रकरण

जम्बूद्वीप में वत्स नाम का देश है और इसी वत्सदेश की गहरी नाभि की तरह है कौशाम्बी नगरी। यमुना नदी के कोमल नीले जल में इसके महलों की छाया कभी मलिन नहीं होती। प्राचीर और परिखा के कटि आभूषणों से मण्डित यह नगरी अपने ऊँचे शिखरों से आकाश को धारण किये हुए है और महलों के मुख से जलभरे मेघों का चुम्बन लेती है।

इसी कौशाम्बी नगरी का प्रतापी राजा था सुमुख। अपने अंग-प्रत्यंग में तारुण्य लक्ष्मी को प्रकट करनेवाले राजा सुमुख का शरीर अत्यन्त सुन्दर था। वह धर्मशास्त्र का अर्थ करने में कुशल था और कलाओं एवं गुणों में दक्ष होने के कारण विशिष्ट माना जाता था। वह दुष्टों का ग्रिह करता था और सज्जनों पर अनुग्रह करने में सदा तत्पर रहता था। सुमुख सचमुच ही प्रजा का सच्चा रक्षक था। उसके अन्तःपुर कमलवन की पंक्ति की शोभा को धारण करते थे और वह स्वयं धर्म, अर्थ, काम में परस्पर अविरोधी भाव रखता हुआ ऋतुओं के अनुकूल भोग भोगता था।

एक बार जब वसन्त का आगमन हुआ तो फूलों और पल्लवों की रक्तिम शोभा से वनपंक्तियाँ मनोहर हो उठीं। आमों के वृक्ष नये पल्लवों से रागरंजित होकर राजा सुमुख के लिए अनुराग प्रकट कर रहे थे। बहुत लम्बे विरह के बाद मिले स्त्री-पुरुषों से परित्यक्त विरहाग्नि ही मानो पलाशवृक्षों को पुष्पित कर रही थी। रुनझुन करनेवाले नूपुरों से अलंकृत स्त्रियों के पदाघात से रोमांचित अशोक वृक्ष पल्लवों से भर उठे थे। गुलाब की सुगन्ध से सुवासित वनलक्ष्मी पुष्पभार से झुक गयी थी। एक ओर पुन्नाग वृक्षों का समूह हाथियों की तरह झूम रहा था, दूसरी ओर प्रतिद्वन्द्वी की तरह खड़े सिंह केसर वृक्ष सिंहों के समान अपनी केसरश्री का विस्तार कर रहे थे। मधुमास ने विरह में सूख गयी मालती को अपने आलिंगन से पुष्ट कर फूलों से भर दिया था। झूला झूलते स्त्री-पुरुषों के मुख से उठ रही हिन्दोल राग की कोमल ध्वनियाँ आकाश को व्याप्त कर रही थीं। लोग ऋतुओं के अनुरूप

वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर बाग-बगीचों में प्रीतिपूर्वक मदपान कर रहे थे।

हिरनों के जोड़े दूब के अंकुर से एक-दूसरे का सम्मान कर रहे थे। सल्लकी वृक्ष के पल्लवों को खाने में संलग्न हथिनी हाथी का मुखस्पर्श पाकर सुख से आँखें मूँदे खड़ी थी। मधुपान से मतवाले बने भँवरों के जोड़े उच्च शब्द करते हुए प्रगाढ़ स्पृहा से एक-दूसरे को सूँघ रहे थे। कोकिलकण्ठी स्त्रियों के गीत सुनकर कोकिल कुछ हर्ष और कुछ प्रतिस्पर्धा से कुहू-कुहू का राग छेड़ रहे थे। वसन्त का विस्तार क्या हुआ, मनोहर कोलाहल से आकुल भम्रर तथा कोकिल भी वसन्त के गीत गाने लगे। मनुष्य की तो कथा ही क्या!

ऋतु के अनुरूप आचरण करनेवाले राजा सुमुख ने मनुष्य के मन को हरनेवाले मधुमास के आने पर काम-विलास से परिपूर्ण अपने मन को वनविहार के लिए प्रस्तुत पाया। नगर से बाहर जाने के लिए वह सजे हुए हाथी पर आरूढ़ हो राजमार्ग पर आया। उसने अनेक आभूषण धारण कर रखे थे और उसके सिर पर सूर्यमण्डल को आच्छादित करनेवाला देदीप्यमान अखण्ड मण्डलाकार छत्र शोभा पा रहा था। जिस प्रकार जल-प्रवाह दूर-दूर से आकर समुद्र में मिलते हैं, वैसे ही अनेक राजा आकर राजा सुमुख से मिल रहे थे। बन्दीजन उसका स्तुतिगान कर रहे थे।

वत्सदेश की स्त्रियाँ वसन्त के समान नित्य हृदय में बसनेवाले राजा सुमुख को देखकर व्याकुल हो उठीं और अपने हावभावों से रागजनित क्षोभ को प्रकट करने लगीं।

''हे राजन्, वृद्धि को प्राप्त होओ, जयवन्त रहो, समृद्धिमान हो!'' इस प्रकार जय-जयकार करनेवाली उन स्त्रियों के हाथ जुड़े हुए थे और वे नेत्ररूपी पात्रों में सुमुख के सौन्दर्य को पी रही थीं।

राजा सुमुख ने उन स्त्रियों के बीच साक्षात् रति के समान सुन्दर एक स्त्री को देखा। राजा ने देखा, चाँद के समान उसका सुन्दर मुख। कमल के समान खिले उसके नेत्र। बिम्ब के समान लाल ओठ। शंखतुल्य गर्दन, स्तनमण्डल, क्षीण कटि, गम्भीर नाभि, पुष्ट जाँघें। वह उसकी जाँघों, घुटनों, पिण्डलियों, हाथ एवं पैरों पर पड़ती अपनी रागासक्त दृष्टि को समेटने में समर्थ नहीं हो सका।

सुमुख विचार करने लगा : 'यह किसकी स्त्री है, जो मेरे मन को अपने रूपपाश से बाँधकर खींच रही है? अगर मैं हिरनी के-से नेत्रोंवाली, हर्षपूर्ण, हृदयहारिणी इस स्त्री का उपभोग नहीं करता हूँ तो मेरा यह ऐश्वर्य एवं नवयौवन व्यर्थ है।

जिसका उल्लंघन करना कठिन है, वह लोक-मर्यादा एक ओर है और जिसे सहन करना अतिशय कठिन है, इस पर-स्त्री से जुड़ी वह अभिलाषा एक ओर है।'

राजा ने उसके हरण के लिए अपने मन को प्रस्तुत पाया। रागासक्त मनुष्य अपवाद को सह सकता है, मन की व्यथा को नहीं सह सकता।

राजा सुमुख यश से प्रकाशमान था, लोक-व्यवहार का ज्ञाता था, फिर भी अत्यन्त मोह को प्राप्त हो गया। सूर्य के पतनकाल में अन्धकार की प्रबलता हो ही जाती है।

रूपवान राजा सुमुख को देखने से उस स्त्री के अंग-प्रत्यंग भी ढीले हो गये और वह झूले पर बैठी युवती के समान आन्दोलित हो उठी। राजा सुमुख में अत्यन्त मोहित मनवाली वह स्त्री अनेक रसों से युक्त फल-सम्पन्न भावों को प्रकट करने लगी। कोयों में संकुचित, दूर तक कटाक्ष फेंकनेवाला उसका नेत्र सुमुख के नेत्र का प्रतिदानपूर्वक अभिनन्दन करता हुआ उसका हृदय हर रहा था। वह सुमुख के प्रति अपने अंगों के माधुर्य को प्रकट कर रही थी। उस समय विह्वल उन दोनों के नेही नेत्रों ने ही जुड़कर प्रेमालाप कर लिया था। जिह्वा को बोलने का अवसर ही कहाँ था! कठिन प्रेमबन्ध में बँधे वे दोनों कठिनता से प्राप्त होनेवाले भोगफल की आकांक्षा करने लगे।

उस रागमयी युवती के हृदय को लेकर और अपना हृदय देकर राजा नगरी से बाहर निकला। उसके अन्दर ऐसी कृतार्थता थी, मानो वह मिलन का अग्रिम मूल्य दे चुका हो।

कौशाम्बी नगरी से निकलकर राजा ने 'यमुनोत्तंस' नामक उपवन में प्रवेश किया। वसन्त का अलंकरणरूप वह उपवन जन-मन को आनन्दित करनेवाला और नन्दनवन के सौन्दर्य से मण्डित था। नागलताएँ फूलों और फलों से भरे हुए वृक्षों का आलिंगन कर रही थीं। सुपारी, नारियल, अनार और केले के वृक्षों से वह उपवन अत्यन्त सुन्दर दिखाई दे रहा था। अपनी रानियों से घिरे हुए सुमुख ने अनुकूल मित्रों और राजपुत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए उस उपवन में कुछ ही समय तक विहार किया, क्योंकि वनमाला के वियोग में वह जनसंकुल वनप्रदेश भी उसे शून्य जान पड़ता था।

इस नये अनुराग से हृदय हारा हुआ राजा जल्दी ही अपनी नगरी में लौट आया।

मन्त्री सुमति ने राजा की स्थिति का अनुमान लगाकर एकान्त में आदरपूर्वक राजा से पूछा, "प्रभु, आप विषादग्रस्त दिखाई दे रहे हैं। कृपया अपनी व्यथा का कारण कहिए। आप एकछत्र राज्य के स्वामी हैं। प्रजा आपको प्रेम करती है तथा अन्य राजा प्रेम और प्रताप के वशीभूत होकर आपके दास हो रहे हैं। वांछित वस्तुओं के दान से आपने याचकों को सन्तुष्ट कर रखा है तथा आपकी प्रीति से प्रसन्न होकर समस्त स्त्रियाँ अपने को धन्य अनुभव करती हैं।

वह धर्म हो, अर्थ हो अथवा काम हो—ऐसा कोई विषय नहीं है, जो आपके लिए दुर्लभ हो। इसलिए स्वामी, सब तरह कुशल होने पर भी आपके मन में दु:ख कहाँ से आ गया? प्राणसम प्रिय मित्र के दु:ख को बाँटकर सुखी हो जाने की परम्परा

इस संसार में है, इसलिए आप मुझसे कहें, मैं आज ही आपकी अभिलाषा पूर्ण करूँगा, ताकि आपको सुखी देखकर आपकी प्रजा भी सुख का अनुभव करे।''

मन्त्री की बात सुनकर राजा अपनी व्यथा को अपने तक नहीं रख सका और बोला, '' 'यमुनोत्तंस' उपवन में वसन्तोत्सव के लिए जाते समय आज मैंने एक युवती को देखा है। उसने श्रेष्ठ विद्या की तरह दर्शनमात्र से ही मुझे वशीभूत कर लिया है। उस स्त्री को आपने भी देखा होगा, क्योंकि हमारे प्रति उसकी चेष्टाएँ बहुत स्पष्ट थीं और उसके हृदयगत भावों को प्रकट कर रही थीं।''

मन्त्री ने कहा, ''स्वामी, मैंने उसे देखा है, वह वैश्य वीरक की स्त्री वनमाला है।''

राजा ने बड़ी व्यग्रता से कहा, ''अगर आज उसके साथ मेरा मिलन नहीं होता है, तो यह निश्चय है कि न मेरे जीवन की कुशल है और न उस वनमाला के ही जीवन की। न मैं उसके बिना एक दिन रह सकता हूँ और न वह मेरे बिना रह सकती है, इसलिए आप शीघ्र ही उपाय करें।

यह सच है कि ऐसे अकार्य से मुझे इस जन्म में अपयश और अगले जन्म में अनर्थ प्राप्त होगा, फिर भी मेरी अवस्था निवारण योग्य नहीं है। यदि जीवन रहा तो पाप-शान्ति के बहुत-से उपाय हो जाएँगे।''

नीतिविरुद्ध होने पर भी मन्त्री ने राजा के इन वचनों को मान लिया, क्योंकि मन्त्री सामने खड़ी विपत्तियों का निवारण पहले करते हैं, भविष्य के लिए ठहरे नहीं रहते।

मन्त्री ने अत्यन्त अनुकूल होकर विनम्र भाव से कहा, ''राजन्, आप आज ही वनमाला को अपने कण्ठ से लगी पाएँगे। आप सदा की भाँति स्नान-भोजन करें और दिव्य विलेपन, कोमल वस्त्र, पान तथा माला आदि ग्रहण करें।''

राजा को वनमाला के बिना कुछ भी इष्ट नहीं था, लेकिन प्रज्ञाचक्षु मन्त्री के नमस्कारपूर्वक प्रार्थना करने पर वह सब कार्यों में प्रवृत्त हुआ।

इधर सुमुख की प्रयोजनसिद्धि के लिए सूर्य ने भी अपनी किरणें समेट लीं और पश्चिम दिशा में झुक गया। उस समय धीरे-धीरे अदृश्यता को प्राप्त होता हुआ सूर्य ऐसा जान पड़ता था, मानो चक्रवाक पक्षियों ने अपनी दृष्टिरूपी रस्सियों से खींचकर ही उसे अभी तक रोक रखा था। वनमाला के अनुराग से व्याप्त राजा सुमुख के हृदय की तरह ही यह संसार सन्ध्याराग से रंजित दिखाई देने लगा। सूर्यमण्डल के प्रतापहीन होने पर समस्त उद्यमी मनुष्य भी उद्यम से विमुख हो गये। सूर्य के साथ-साथ खण्डित तेजवाले कमलों का समूह भी संकुचित हो गया। मित्र के उदय से विकास प्राप्त करनेवाले लोग मित्र के अस्त में विकसित कैसे रह सकते हैं?

सन्ध्याराग का अनुसन्धान करनेवाले अन्धकार के आने पर कुछ ऐसी स्थिति

उत्पन्न हो गयी थी कि विद्वानों को भी रक्त, श्वेत, पीत आदि रंगों का भेद नजर नहीं आ रहा था और जगत् ने अपने को पूरी तरह कृष्ण वस्त्र से ढँक लिया था।

रात्रि के इसी आरम्भकाल में मन्त्री सुमति ने राजा की आज्ञा से वनमाला के पास अपनी दूती आत्रेयी को भेजा। वनमाला ने आसन आदि देकर उस दूती का सम्मान किया, जिससे वह बहुत प्रसन्न हुई।

चतुर आत्रेयी ने अवसर देखकर एकान्त में वनमाला से कहा, "बेटी वनमाला, तू आज उदास-सी दिख रही है। क्या पति ने तुझे नाराज कर दिया है? वीरक की तू एक ही पत्नी है, फिर भला वह तुझसे क्रुद्ध क्यों होगा? उदासी का कारण तो कुछ और ही होना चाहिए। तू मुझे बता। सब रहस्यों में तूने मेरी परीक्षा की है, मेरे रहते वह कौन-सी इष्ट वस्तु है, जो तुझे सुलभ न हो सके।"

आत्रेयी के मुख से इतना सुनते ही गरम उसाँसों से वनमाला के ओठ कुम्हला गये। दूती के कई बार आग्रह करने पर उसने बड़ी कठिनाई से कहा, "माँ, तुझे छोड़कर इस विषय में मेरे लिए कोई भी विश्वसनीय नहीं है। छः कानों में पहुँचा हुआ मन्त्र फूट जाता है, इसलिए उसकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिए। बात यह है कि आज मैंने प्रशस्त रूप एवं सुन्दर मुखवाले राजा सुमुख को देखा था, देखते ही वह कामदेव के साथ मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गया। जैसे दुर्जन मनुष्य की वृत्ति स्वयं उसे ही सन्ताप पहुँचाती है, वैसे ही मेरी आकांक्षा आज मुझे ही सन्तप्त कर रही है। मेरा मन दुर्लभ वस्तु के लिए लालायित है और सुलभ वस्तु से दूर भाग रहा है। मेरा शरीर चन्दन के लेप से लिपा है, लेकिन हृदय सूख रहा है। कोई भी बाहरी उपचार अन्तरंग पीड़ा में क्या मदद कर सकता है? मेरे अंगों पर रखा हुआ गीला कपड़ा भी सूख जाता है। तपते हुए पदार्थ पर रखी हुई थोड़ी-सी शीतलता क्या कर सकती है? मैं उसके शरीर के स्पर्श के बिना शान्ति नहीं देखती, इसलिए दया करो और राजा से शीघ्र ही मेरा मिलन कराओ।

तुम विश्वास करो, राजा के हृदय में भी मेरी चाह है। तुम बड़ी चतुर हो और समय की गति को जाननेवाली हो, इसलिए हम दोनों सन्तप्त प्राणियों को एकान्त में मिला दो। एक सन्तप्त वस्तु का ही दूसरी सन्तप्त वस्तु से मिलन आसानी से हो सकता है।"

वनमाला के शब्द सुनकर तो आत्रेयी के आने का सारा प्रयोजन ही पूरा हो गया। वह कृतार्थ हो बोली, "बेटी, तेरे रूप ने वत्स देश के स्वामी राजा सुमुख का चित्त चुरा लिया है। मैं उसी की भेजी तेरे पास आयी हूँ। तू मेरे साथ चल और सुमुख के साथ मिलन-सुख का अनुभव कर।"

राजा सुमुख वनमाला को देखकर प्रसन्न हुआ और 'आओ, आओ'—इन प्रियवचनों से उसका अभिनन्दन करता हुआ उसे सुख पहुँचाने लगा। तरुण सुमुख

ने अपने स्वेदपूर्ण हाथ से तन्वंगी वनमाला का स्वेद भीगा हाथ पकड़कर उसे शय्या पर बिठा लिया।

उसी समय चाँद ऊपर आ गया। ऐसा लगता था, मानो रात्रि के मुख को प्रसन्न करने के लिए ही उगा हो। राजा सुमुख के हाथों के स्पर्श से वनमाला के अंग खिलने लगे थे, उधर चन्द्रमा के स्पर्श से कुमुदिनी के दल खिल रहे थे। राजा सुमुख और वनमाला मिलन-काल के अनुरूप अनेक शृंगार-चेष्टाओं में तल्लीन हुए और स्त्री-पुरुष की मिलनकालीन संगत भाव-क्रियाओं के आदान-प्रदान से एक-दूसरे को तृप्त करने लगे। वनमाला अपने उत्साह, भाव और चातुर्य के कारण राजा सुमुख के सुख का कारण हुई। वे दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में उस सुखशय्या पर सो गये।

मोह ने अत्यन्त कौशल से उनकी आत्मा का हरण कर लिया था और चित्त को प्रेमबन्ध से बाँध दिया था। रात इसी तरह बीत गयी थी। सुमुख और वनमाला गाढ़निद्रा में निमग्न थे। मानो उन सोये हुओं का हाल जानने के लिए ही सूर्य ने प्रभातसन्ध्या को भेजा। जिस तरह समवसरण में सिंहासनारूढ़ हो भगवान जिनेन्द्र समस्त लोक को जगाते हैं, वैसे ही उदयाचल पर आसीन सूर्य ने कमलश्री से सम्पन्न वनमाला के साथ सोते हुए राजा सुमुख को जगाया।

कमलवन खिल उठा, उसके स्पर्श से सुगन्धित वायु उन दोनों का श्रम हरने लगी। चकवा-चकवी के जोड़े की तरह उनका हृदय क्षणभर के लिए भी वियोग-विष को सहन नहीं करना चाहता था, इसलिए सुमुख ने वनमाला को अपने अन्तःपुर में ही रोक लिया। दुर्लभ वस्तु को पाकर उसे छोड़ा नहीं जाता। फिर राजा तो वनमाला के रस का आस्वाद भी ले चुका था। सुन्दरी वनमाला ने अपने उत्तम गुणों से विशेष सम्मान प्राप्त किया। राजा सुमुख की समस्त मुख्य रानियों में मुख्यता पाकर वह परम गौरवशालिनी हुई। स्वामी के अनुकूल रहने पर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुलभ न हो सके?

एक बार उत्कृष्ट तप के भण्डार पूज्य वरधर्म मुनि राजा सुमुख के महल में आये। ऐसा लगा कोई अचिन्तित निधि स्वयं ही आ पहुँची है। जब शुभ का उदय होता है, तब ऐसे अतिथि का आगमन होता है। वरधर्म मुनि की बुद्धि परम दर्शन की पवित्रता से पवित्र थी। आत्यन्तिक ज्ञान के कारण वे पदार्थों के ज्ञाता थे। व्रत, गुप्ति और समिति की अतिशय शुद्धता के कारण उनका शरीर शुद्ध था। वे उपवास एवं स्वाध्याय आदि तपों की लक्ष्मी से युक्त थे और समस्त विकारों से रहित, परम शुभ्र, गौरवजन्य वृद्धावस्था के समान 'कर्मनिर्जरा' से सुशोभित थे। उन्होंने 'दोषकषाय'

और 'परीषह' को जीत लिया था और इन्द्रिय वृत्तियों को नियन्त्रण से वशीभूत कर लिया था। ऐसे वरधर्म मुनि को अपने सामने देखकर राजा सुमुख शीघ्रता से खड़ा हो गया। आनन्दविह्वल हो उसने वनमाला के साथ आगे बढ़कर मुनिराज की प्रदक्षिणा की। फिर विनयपूर्वक उन्हें रत्नजटित पवित्र आसन पर बिठाया किया।

वनमाला हाथों में सोने की झारी लिये खड़ी थी। उसकी जलधारा से राजा सुमुख ने मुनि के चरण पखारे। फिर सुगन्धित चन्दन, शुभ्र अक्षत, धूप-दीप-नैवेद्य आदि से उनकी पूजा की। राजा ने पत्नी सहित मन-वचन-काय से उन्हें नमस्कार करके हर्षपूर्वक दान दिया।

उस समय राजा सुमुख और वनमाला के सभी कार्य गुणों में समान थे, इसलिए उन दोनों ने ही अगले जन्म में भोगरूपी फल को देनेवाला पापनाशक श्रेष्ठ पुण्यबन्ध किया।

अनेक दिन का उपवास-व्रत धारण करनेवाले, दाताओं के लिए हमेशा ही सुखोपाय में लगे हुए, तत्त्व का चिन्तन करनेवाले मुनि वरधर्म अपने कृश शरीर की स्थिरता के लिए 'पारणा' कर वन में चले गये।

राजा सुमुख पुण्य का फल भोग रहा था। परस्त्री के अपहरण से उत्पन्न हुए पाप के लिए वह निरन्तर पश्चात्ताप करता रहता था। उसने समस्त अहितों को नष्ट कर दिया था, इसलिए उसका जीवन सरल सुखमय था। एक दिन वह गुणों की मालास्वरूप वनमाला के साथ मणियों की कान्ति से व्याप्त सुगन्धित गर्भगृह में सोया था, तभी उनके ऊपर वर्षाकाल की बिजली आ गिरी। दोनों की ही श्रेष्ठ आयु पूरी हो चुकी थी, इसलिए बिजली गिरने से दोनों के प्राण एक साथ छूट गये। उन दोनों के मन एक-दूसरे के अधीन थे और उन दोनों ने उत्तम दान के फल को प्राप्त किया था, इसलिए सहज मृत्यु को प्राप्त कर वे विजयार्ध पर्वत पर विद्याधर-विद्याधरी हुए।

यह विजयार्ध पर्वत अपने पूर्वी-पश्चिमी किनारों से समुद्र का स्पर्श करता है। इसकी अपार शुभ्रता चन्द्रमा और क्षीर-समुद्र को भी मात करती है। चाँदी की-सी द्युति को धारण करनेवाला यह पर्वत पृथिवी के बड़े भारी हार के समान लम्बा है। पृथ्वी से दस योजन ऊपर इसकी दो श्रेणियों पर विद्याधर राजाओं की नगरी है, जो नितान्त नयी भोगभूमियों की तरह जान पड़ती थी। पच्चीस योजन चौड़ा यह पर्वत भरतक्षेत्र के समस्त पर्वतों का स्वामी है और इस पर अत्यन्त शोभा-सम्पन्न एक सौ दस नगर बसे हुए हैं।

विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी पर इन्द्रपुरी की तरह सुन्दर हरिपुर नाम की

नगरी है। अनेक प्रकार के वृक्षों से सम्पन्न वन-पंक्तियों के कारण यह नगरी उत्तर कुरु की भूमि का अनुकरण करती है।

इस नगरी का राजा था पवनगिरि और उसकी कलाकुशल गुणशीला स्त्री का नाम था मृगावती।

पवनगिरि और मृगावती ही सुमुख के इस जन्म के माता-पिता हुए। सुमुख को 'आर्य'—यह सार्थक नाम दिया गया। बालक आर्य धीरे-धीरे आनन्दप्रद अमृतवचन बोलने लगा और उसे एक दिन अपनी पूर्वजन्म की स्त्री वनमाला का स्मरण हो आया।

इधर वनमाला का जन्म भी श्रेष्ठ विद्याधर कुल में हुआ।

इसी विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अपार वैभवशाली मेघपुर नाम का नगर था। मणिमय महलों की पंक्तियों से सुशोभित इस नगर का राजा था पवनवेग और रति के समान सुन्दर उसकी पत्नी थी मनोहरी। इन्हीं दोनों की कन्या के रूप में वनमाला का जन्म हुआ। माता-पिता ने नाम दिया—मनोरमा। मनोरमा चन्द्रकला की तरह मन को रमणीय लगती थी। आर्य की तरह मनोरमा भी अपने पूर्वजन्म को जानती थी।

सुमुख और वनमाला ने अपनी भावना के अनुरूप ही पवित्र कुल प्राप्त किया था। ये दोनों बच्चे सुखपूर्वक अपने-अपने घरों में बढ़ रहे थे। अपनी बाललीलाओं से कुटुम्बियों के मन को प्रमुदित करते ये दोनों सूर्य और अग्नि की उपमा को धारण करते थे। समस्त विद्याधरों की सिद्ध की हुई विद्याएँ इन्हें प्राप्त थीं और अनेक गुणों से मण्डित, सुशोभन यौवन से सम्पन्न ये दोनों सभी के प्रिय थे।

हरिपुर के राजा पवनगिरि और मृगावती ने अपने पुत्र आर्य का विवाह अत्यन्त वैभव के साथ राजा पवनवेग और मनोहरी की कन्या मनोरमा के साथ कर दिया। लोकवन्दित कुमार आर्य अपनी लक्ष्मी जैसी पत्नी मनोरमा के साथ अनेक सुखों का उपभोग करने लगा। कभी वह गहरी कन्दराओंवाले मन्दराचल पर अपनी प्रिया के साथ क्रीड़ा करता था तो कभी सुगन्धित चन्दन और देवदारु के ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंवाले नन्दनवन में उसके साथ विहार करता था। कभी वह कुलाचल के पद्म सरोवरों में तो कभी महानदियों के तटों पर क्रीड़ा करता था। भोगभूमि के वृक्षों के नीचे असीम रागमयी मनोरमा के साथ प्रेमपूर्ण रतिक्रीड़ा करते हुए वह थकता नहीं था। देवांगनाओं के नूपुरों से झंकृत हरिपुर नगर में यह युगल उन सारे सुखों का अनायास भोग करता था, जो पृथिवी के लोगों के लिए अत्यन्त दुर्लभ थे।

उधर राजा सुमुख के द्वारा वंचित वीरक सेठ अपनी पत्नी वनमाला के विरह में कभी शान्ति न पा सका। न तो कोमल पल्लवों से रची हुई शीतल शय्या उसे सुख देती थी और न खुली चाँदनी में सरोवर का ठण्डा किनारा ही उसके अन्तर्दाह

को शान्त कर पाता था। वह वियुक्त चक्रवाक पक्षी की तरह विरह की आग में झुलसता रहता था।

बहुत समय बाद वीरक अपनी विरह-व्यथा का संयमन कर सका। उसने गृहस्थाश्रम छोड़ दिया और जितेन्द्रिय होकर जिनेन्द्र भगवान से प्रदर्शित आश्रम की शरण ली। दिगम्बरी दीक्षा लेकर उसने शरीर को सुखा देनेवाला कठिन तप किया। परिणामस्वरूप सुखसागर का पोषक और देवों का तोषक प्रथम स्वर्ग उसे प्राप्त हुआ।

एक बार वीरक का वह श्रेष्ठ देव स्वर्ग में उत्तम स्त्रियों के बीच बैठा था, कि तभी उसने अपनी पूर्वजन्म की पत्नी वनमाला को अवधिज्ञान का विषय बनाया। उसने अपने अवधिज्ञान नेत्र को बन्द कर जब उसे खोला तो आर्य और मनोरमा के रूप में विद्याधर और विद्याधरी का वह युगल सामने प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। वह सोचने लगा : 'जिस दुष्ट सुमुख ने अपनी प्रभुता के कारण मेरा तिरस्कार कर मेरी स्त्री का हरण किया था, वह इस जन्म में भी उसी स्त्री के साथ मिलन-सुख भोग रहा है। जो पराभव तब मेरी पीड़ा का कारण हुआ था, आज वही मुझमें क्रोध का संचार कर रहा है। अगर मैं विषम अपकार करनेवाले इस शत्रु का दूना अपकार नहीं करता हूँ तो मेरा पुरुषार्थ और प्रभुता व्यर्थ है।'

क्रोध की तीव्रता से मलिन मनवाले वीरक ने बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। सूर्य की तरह दिपता वह देव वीरक पूर्व वैर को बुद्धि में रखकर शीघ्र ही स्वर्ग से पृथिवी पर उतरा।

उस समय राजा सुमुख आर्य विद्याधर के रूप में अपनी विद्याधरी पत्नी मनोरमा के साथ हरिवर्ष क्षेत्र में क्रीड़ा करता हुआ इन्द्र की उपमा को धारण कर रहा था। इसी अवसर पर वीरक का देव वहाँ पहुँचा। उसने अपनी स्वाभाविक अखण्ड माया से इस विद्याधर दम्पती की सारी विद्याएँ हर लीं।

वीरक कुपित होकर बोला, "परस्त्री को हरनेवाले राजा सुमुख, क्या तुझे अपने वैरी वीरक का स्मरण है? शीलव्रत का खण्डन करनेवाली दुष्ट वनमाला, क्या तुझे भी वीरक की याद है? मैं तपस्या करके देव हुआ हूँ और तुम दोनों वरधर्म मुनि को दान करने के फल से विद्याधर हुए हो। तुम दोनों ने पूर्वजन्म में मुझे दुःख दिया था, इसलिए मैं भी तुम्हारी विद्याएँ नष्ट कर तुम्हें दुःख देता हूँ।"

ऐसा कहकर वीरक ने आश्चर्यचकित चित्त और भयकम्पित शरीरवाले उन दोनों को वैसे ही उठा लिया, जैसे गरुड़ दो छोटे पक्षियों को उठा लेता है और दक्षिण भरतक्षेत्र की ओर उड़ चला।

दक्षिण भरतक्षेत्र में चम्पापुरी नगरी के राजा की मृत्यु हो चुकी थी और इस समय इस नगरी में कोई राजा नहीं था। वीरक का देव वहाँ आया और आर्य विद्याधर

को चम्पापुरी का अनेक राजाओं से वन्दित राजा बनाकर स्वर्ग चला गया।

राजा आर्य ने अपने भुजबल से समस्त राजाओं को वशीभूत कर अपना आज्ञाकारी बनाया और अखण्ड प्रेममयी मनोरमा के साथ सुखभोग करता रहा। इन्हीं दोनों के पुत्र का नाम था हरि, जो इन्द्र जैसा प्रतापी और पराक्रमी था। पुत्र की विशाल लक्ष्मी का अनुभव करते हुए राजा आर्य और रानी मनोरमा एक दिन परलोक सिधार गये।

यही राजा हरि परम यशस्वी हरिवंश की उत्पत्ति का प्रथम कारण था। इसी के नाम से हरिवंश प्रसिद्ध हुआ। राजा हरि के महागिरि नाम का पुत्र हुआ। महागिरि के हिमगिरि पुत्र हुआ। हिमगिरि के वसुगिरि और वसुगिरि के गिरि नाम का पुत्र हुआ। ये सभी यथायोग्य स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए।

कालान्तर में इसी वंश में राजा सुमित्र हुआ, जो मगध देश का स्वामी और कुशाग्रपुर नगर का अधिपति था। इसकी पद्मावती नाम की जिनभक्त रानी थी। सुमित्र का पराक्रम शास्त्रज्ञान से मण्डित था। वह अपनी प्रिया रानी के साथ अनेक सुखों का उपभोग करता हुआ दीर्घ काल तक पृथिवी का शासन करता रहा।

अब तक उन्नीस तीर्थंकरों का अवतरण हो चुका था और अब बीसवें तीर्थंकर के अवतरण का समय समीप था। शुभ मुहूर्त जानकर कुबेर इन्द्र की आज्ञा से राजा सुमित्र के घर में रत्नों की वर्षा करने लगा। एक दिन कोमल शय्या पर सोयी रानी पद्मावती ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में लक्ष्मी, पुष्पहार, कलश, कमल, सरोवर, समुद्र, सिंहासन आदि दिव्य संकेतों को प्रकट करनेवाले सोलह स्वप्न देखे। सुबह होने पर दिव्य प्रभाव को धारण करनेवाली देवियाँ जिनमाता पद्मावती की सेवा करने लगीं। उनसे घिरी हुई रानी तारों से घिरी चन्द्रलेखा जैसी जान पड़ती थी। रानी पद्मावती के नेत्र, मुख, हाथ और पैर प्रफुल्ल कमल की तरह थे। उसका हृदय राग और आनन्द से परिपूर्ण था। हाथ में कमल लेकर वह ऊँचे सिंहासन पर बैठे राजा सुमित्र के पास गयी। जब रानी चल रही थी तो उसके वस्त्र बहते हुए पानी की तरह लग रहे थे। नूपुर जलपक्षियों की तरह झनकार कर रहे थे। आँखें मछलियों की तरह चंचल थीं और कमर में पड़ रही तीन रेखाएँ लहरों की तरह दिखाई दे रही थीं। नदी की उपमा को धारण करनेवाली रानी के पास आने पर राजा सुमित्र समुद्र की तरह दिखाई दिये। कल्पलता रूप रानी पद्मावती ने कल्पवृक्ष रूप राजा सुमित्र को नमस्कार किया। राजा ने बड़े आदर से उसे अपने पास उत्तम सिंहासन पर बैठाया।

रानी ने रात के आखिरी प्रहर में देखे अपने स्वप्नों के विषय में राजा को बताया तो राजा प्रसन्न हो उठे और कृतार्थ वाणी में बोले, ''देवि, शुभलक्षणे, हम दोनों शीघ्र ही तीनों जगत् के स्वामी भगवान जिनेन्द्र के माता-पिता होंगे।''

इतना सुनते ही रानी का शरीर रोमांचित हो गया और वह फूली हुई कमलिनी की तरह दिखाई देने लगी। जो नारीजन्म उसे हीन लगता था, उसे वह तीर्थंकर की माता होने के कारण श्रेष्ठ समझने लगी।

जिन्हें हजारों देवता दूर-दूर से ही नमन करते थे, ऐसे भगवान मुनिसुव्रत ने सहस्रार नाम के उत्कृष्ट स्वर्ग से उतरकर माता पद्मावती के पवित्र गर्भ में नौ माह साढ़े आठ दिन तक निवास किया।

उस समय पद्मावती वर्षा और शरद ऋतु के सन्धिकालीन आकाश की तरह नील-श्वेत पयोधरों से युक्त थी और बिजली की प्रभा को धारण करनेवाले आभूषणों से उसके शरीर की कान्ति और भी बढ़ी हुई जान पड़ती थी।

प्रसूति का योग्य समय आ उपस्थित हुआ। रानी पद्मावती ने 'इन्द्रमह' उत्सव के दिन माघ कृष्ण द्वादशी को बिना किसी श्रम के आनन्दकन्द भगवान जिनेन्द्र को जन्म दिया। माता पद्मावती की गोद में विराजमान भगवान खान में चमकती इन्द्रनीलमणि की तरह प्रकाशित हो रहे थे और माता को सुख-विभोर कर रहे थे।

भगवान जिनेन्द्र के जन्मक्षण में तीनों लोक के इन्द्रों के आसन और मुकुट कम्पित हो गये। घण्टे, मृदंग और शंखों की तुमुल ध्वनि के कारण सारे देवजगत् को भगवान के जन्म का निश्चय हो गया। जल सुगन्धित हो गया, हवा मन्दगति से बहने लगी और निरन्तर पुष्प-वर्षा से पृथिवी भर उठी। देदीप्यमान आभूषणों से प्रकाशित देहवाले इन्द्र आदि देवताओं ने दसों दिशाओं से आकर कुशाग्रपुर नगरी की प्रदक्षिणाएँ कीं। समस्त देवताओं ने भगवान जिनेन्द्र और उनके माता-पिता को नमस्कार किया। देवकन्याओं ने जातकर्म-संस्कार किया। फिर सारा देवमण्डल जिनेन्द्र भगवान को ऐरावत हाथी पर बैठाकर बड़े ठाठ-बाट से सुमेरु पर्वत पर ले गया। सभी देवों ने सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणाएँ कीं और उसके सर्वोच्च स्थान पर बनी पाण्डुक शिला पर रखे पवित्र सिंहासन पर भगवान को आसीन किया। क्षीरसागर के पवित्र जल से उनका अभिषेक किया और अनेक स्तोत्रों से स्तुति करके उनका नाम मुनिसुव्रत रखा। इसके बाद इन्द्रादि देवताओं ने भगवान को माता की शुभ गोद में रखकर 'आनन्द नाटक' किया और भगवान तथा उनके माता-पिता को नमन कर अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान मुनिसुव्रत के शरीर और गुणों का विकास होने लगा। देवपुत्र निरन्तर उनकी सेवा करते थे और समय-समय पर कुबेर भी समस्त सुख-सामग्रियों का दान कर उनके योगक्षेम का ध्यान रखता था।

जिस तरह कुलपर्वतों से उत्पन्न नदियाँ अपने आरम्भ, मध्य और अन्त में समान रूप से बहती हुई समुद्र का वरण करती हैं, वैसे ही उच्च कुलों में उत्पन्न और तीनों अवस्थाओं में अभ्युदय को प्राप्त अनेक सुन्दर स्त्रियों ने अपूर्व सौन्दर्ययुक्त युवा

मुनिसुव्रत का वरण किया। मुनिसुव्रत राजा बने। वे हरिवंश के सूर्य थे। अनेक राजा, महाराजा और देवगण उनके चरणों की सेवा करते थे। वे श्रुत, मति, अवधिरूप ज्ञाननेत्रों को धारण करनेवाले थे।

एक बार वर्षा ऋतु के बीत जाने पर शरद ऋतु का आगमन हुआ। सरोवरों में कमलों का विकास हुआ। बन्धूक के लाल-लाल फूलों से वृक्ष भर उठे। कास के फूलों के उज्ज्वल चँवर हवा में डोलने लगे। बादलों का रंग सफेद हो गया। जलभरी काली मेघपंक्तियों ने गरजना बन्द कर दिया और ग्वाले अपनी सफेद गायों के समूह को लेकर 'हो...हो...' की जोरदार आवाजें करते हुए वन की तरफ निकलने लगे। दिशाओं से बादलों का आवरण हटने लगा। बहुत दिनों के बाद सूर्य अपने पैर लम्बे करने का सुख प्राप्त कर सका। स्त्रियाँ कल-कल ध्वनि करनेवाली शरदकालीन स्वच्छ नदियों की तरह राजा मुनिसुव्रत को सुख और राग से भरने लगीं।

भरी हुई सुगन्धित धान की बालियाँ और उन्हीं के बीच-बीच में ऊँची उठी गुलाब की पंक्तियाँ सौभाग्य गन्ध के आकर्षण से अंग से अंग मिलाकर एक-दूसरे का मुख सूँघ रही थीं। अभी तक जो भ्रमर फलों से भरे हुए कदम्ब वनों में मधुपान किया करते थे, अब हाथियों की मदगन्ध की तरह मादक सप्तपर्ण वृक्षों के वनों में मँडराते फिर रहे थे।

राजा मुनिसुव्रत की वैराग्य वेला आ उपस्थित हुई। राग और भोग का निर्वाणकाल सामने आ खड़ा हुआ। आज तक वे भोग के जिन उदात्त शिखरों पर पैर रखकर चल रहे थे, वे सहज ही एक क्षण में भूमिसात् हो गये। शरदकाल का एक छोटा-सा मेघ सम्यग्ज्ञान के उदय का निमित्त बन गया।

एक दिन राजा मुनिसुव्रत महल की छत पर अपनी सुन्दर रानियों के बीच बैठे हुए थे। वे श्रेष्ठ रानियाँ, जो लज्जा और भीति भाव के कारण और भी सुन्दर जान पड़ती थीं, रति की तरल लीला-भाव प्रकट करती हुई महाराजा का मनबहलाव कर रही थीं। जब राजा शरद ऋतु के धान्यों से भरी हुई दिशाओं को देख रहे थे, तभी आकाश में एक मेघ उदित हुआ। वह चन्द्रमा की तरह धवल और अत्यन्त सुन्दर था और ऐसा लग रहा था, मानो नीले आकाश में जल-क्रीड़ा करने के लिए मदोन्मत्त ऐरावत ही उतर आया हो। उस मेघ के अनुपम सौन्दर्य ने राजा मुनिसुव्रत का मन हर लिया।

तभी प्रचण्ड वायु का आघात हुआ और उसने मेघ के सघन शरीर के अवयवों को नष्ट कर दिया। जिस तरह आग के समीप रखा मक्खन का पिण्ड पिघलकर बह जाता है, वैसी ही दशा उस मेघ की हुई। आकाश की नीलिमा में घुलकर वह पूरी तरह विलीन हो गया।

राजा मुनिसुव्रत का हृदय इस दृश्य से विचलित हो गया। वे सोचने लगे : 'अभी जो मेघ आकाश में खेल रहा था, वह कहाँ खो गया? जो हमारे चित्त को इतना आनन्द दे रहा था, अब उसका कोई चिह्न भी शेष नहीं रहा। आदमी आयु और शरीर की भंगुरता को याद नहीं रखता। क्या इसीलिए यह विलीन हो गया? हमने अपने परिणामों के अनुसार इस आयु का संचय किया है। यह आयु वास्तव में अल्पप्रमाण परमाणुओं की राशि ही तो है, इसीलिए तो मृत्यु का आघात लगते ही नष्ट हो जाती है, ठीक इस मेघ की तरह जो हवा के झोंके से नष्ट हो गया है। हमारा यह शरीर जो अस्थियों के जोड़ों से बँधा है, नवीन और सुन्दर है, मृत्यु के आघात को सहने में असमर्थ होकर इस मेघ की तरह क्षत-विक्षत हो जाता है। अपने श्री, सौन्दर्य, रूप और यौवन से मनुष्य के हृदय और नेत्रों के लिए सुखकारी इस शरीर की प्रभा बुढ़ापे से मलिन हो जाती है—फिर भी मनुष्य इसका मिथ्या गर्व करता हुआ जीता है, यह कैसा मोह है?

जिन राजाओं ने अपनी शूरता और प्रभाव के कारण समुद्र-पर्यन्त पृथिवी को नियन्त्रित किया है और भोगरूपी पर्वतों के शिखर स्थापित किये हैं, उनकी उदात्त और शक्तिशाली कामनाओं की तरह उठे वे शिखर कालवज्र के प्रचण्ड आघात से चूर-चूर हो जाते हैं। हृदय और आँखों के समान प्यारी स्त्री तथा प्राणों के समान सुख-दुख के साथी मित्र और पुत्र अदृष्ट की वायु में हिलते हुए सूखे पत्ते की तरह गिर जाते हैं। मनुष्य ही नहीं, देव भी इस संसार में प्रियजनों का वियोग सहते हैं।

मनुष्य की कैसी दशा है कि वह नित्य दूसरे शरीरों को गिरते हुए देखता है, फिर भी, स्वयं मृत्यु से आशंकित नहीं होता? उसकी ज्ञान-दृष्टि मोह से आच्छादित हो गयी है, इसलिए वह इष्टमार्ग को छोड़कर विषयों के गर्त में पड़ रहा है।'

मुनिसुव्रत के मन को चैन नहीं था। उनके भीतर एक के बाद एक दृष्टान्त उदय हो रहे थे और उनका आत्मस्वरूप बड़ी तीव्रता से छनकर ऊपर आ रहा था।

उनके चिन्तन का सिलसिला टूट नहीं रहा था। वे सोच रहे थे : 'व्यक्ति सचमुच ही मदग्रस्त हाथी के समान है। वह अपने अंगों से प्रिय स्त्री के अंगों का स्पर्श करता है और स्पर्शजन्य सुख से मूर्छित होकर विषय-बन्ध को प्राप्त होता है। वह अपनी जिह्वा के वशीभूत होकर अनेक रसों से युक्त खाद्य-पदार्थों को खाता है

और बंसी के काँटे पर लगे मांस के लोभ से फँसे मत्स्य की तरह फँस जाता है। जैसे बुद्धिहीन भँवरा विष-पुष्प की गन्ध को सूँघकर मर जाता है, वैसे ही मनुष्य अनेक सुगन्धित पदार्थों की गन्ध से अन्धा होकर दुष्परिणाम भोगता है।

कैसी है इस मनुष्य की दशा! दीपशिखा पर पड़े पतंगे की तरह स्त्रियों के रूप का लोभी यह प्राणी अन्त में भयानक सन्ताप को प्राप्त करता है। स्त्रियों के नूपुरों की झनकार और मधुर सम्भाषणों से पूरी तरह अपनी बुद्धि को विनष्ट करता हुआ यह मनुष्य उसी मृत्यु को पाता है, जो व्याध के संगीत से पास खिंच आये हिरन को प्राप्त होती है।

इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि साधारण मनुष्य ही विषय भोगों की कीचड़ में फँसकर क्लेश नहीं उठाते हैं, बल्कि शक्तिशाली श्रेष्ठ मनुष्य भी इस पाप-पंक में डूब जाते हैं। वे नहीं सोचते कि जो जीव स्वर्गों के दीर्घकालीन सुखों से भी तृप्त नहीं होता, वह पृथिवी के स्वल्प सुखों से कैसे सन्तुष्ट हो सकता है?

जिस तरह ईंधन कभी भी अग्नि को तृप्त नहीं कर पाता, जिस तरह हजारों नदियों का जल समुद्र में गिरकर भी उसे तुष्ट नहीं करता, उसी तरह संसार के संचित भोग-पदार्थों से आत्मा की तृप्ति नहीं होती। विषय रूप ईंधन की राशि अग्नि- ज्वालाओं को बढ़ाती है और विषयों की विमुखता स्थिर जलधारा के समान उस अग्नि को शान्त करती है।'

राजा मुनिसुव्रत ने निश्चय किया—'मैं इन सारहीन विषय-सुखों को त्याग कर मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होता हूँ। सबसे पहले आत्मप्रयोजन सिद्ध करूँगा, फिर परमार्थ में प्रवृत्ति करूँगा।'

स्वयंभू भगवान के प्रतिबुद्ध होते ही समस्त इन्द्रों के आसन डोल गये। इसी सिद्धिक्षण में सारस्वत आदि लौकान्तिक देव आ गये। वे निश्चल मनोवृत्ति और श्वेत दीप्ति को धारण कर रहे थे। उन्होंने सुन्दर कुण्डल और हार पहन रखे थे। वे जुड़ी हुई अंजलियों से फूल बिखेरते हुए जिनेन्द्र की इस प्रकार स्तुति करने लगे :

'प्रभु जिनेन्द्रचन्द्र, सम्यग्ज्ञान की किरणों से मोह के तमस् को नष्ट
करनेवाले भगवान, आप बन्धरहित हैं और लोकमंगलकारी बीसवें
धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हैं। आप प्रवृद्ध हों, समृद्ध हों, जयवन्त हों,

चिरायु हों, आप धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करें, जिससे संसार की दुखाग्नि में जलते हुए लोग उसमें स्नान कर पवित्र हों और शीघ्र ही उत्तम आनन्दप्रद शिवालय को प्राप्त करें।'

मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ने स्वयं ही प्रतिबोध प्राप्त किया था। इसलिए देवों ने अधिक कुछ नहीं कहा। श्रेष्ठ मनुष्य अपने नियोग की पूर्ति में पुनर्वचन की अपेक्षा नहीं रखते।

तभी अनेक विमानों ने आकाश को छा लिया और सौधर्मेन्द्र आदि देव भगवान के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने सुगन्धित जल से भगवान का अभिषेक किया और आश्चर्यजनक आभूषणों से उन्हें सजाया।

राजा मुनिसुव्रत ने अपनी रानी प्रभावती के पुत्र सुव्रत का राज्याभिषेक किया और स्वयं पालकी पर आरूढ़ हो वन में चले गये। कभी इसी पालकी को भूमि पर राजाओं ने उठाया था और आकाश में देव समुदाय ने। आज वही पालकी भगवान के वनगमन का वाहन बनी थी।

कार्तिक शुक्ला सप्तमी का दिन आ उपस्थित हुआ। भगवान दीक्षा के लिए प्रस्तुत हुए। तीनों लोक साक्षी थे जब भगवान ने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ली। उन्होंने अपने सिर के केश उखाड़कर फेंक दिये। इन्द्र ने उन केशों को सुन्दर पिटारी में रखा और विधिपूर्वक समुद्र में विसर्जित कर दिया।

भगवान ने वेला का उपवास धारण किया। अगले दिन आहार की विधि प्रकट करने के लिए वे कुशाग्रपुर नगरी में आये। तब वृषभदत्त नाम के एक पुरुष ने उन्हें विधिपूर्वक खीर का आहार दिया। भगवान मर्यादा के ज्ञाता थे। उन्होंने अपने तीर्थ में निर्दोष-चरित्र मुनियों के योग्य आहार की विधि का प्रवर्तन किया। यह विधि स्वाधीन थी, बाधाहीन थी। इसमें खड़े होकर भोजन करना पड़ता था। पाणि के पात्र में भोजन होता था और दानकर्ता को विधिपूर्वक भोजन का दान देना पड़ता था।

आश्चर्य की बात थी, जब वृषभदत्त ने मुनिराज के हाथ में खीर परोसी तो बाकी बची खीर से हजारों अन्य मुनियों के आहार हुए। घर के अन्य लोगों ने भी उसे ग्रहण किया, फिर भी वह समाप्त नहीं हुई।

दुन्दुभि बजने लगी। आकाश में 'धन्य-धन्य' की ध्वनि होने लगी। सुगन्धित वायु बहने लगी। विचित्र फूलों की वर्षा से पृथिवी भर उठी और देवगण रत्न बरसाने लगे। देवों ने इस पंचाश्चर्य को बहुत देर तक किया। वृषभदत्त ने पुण्यराशि का संचय किया। भगवान भी विहार-योग्य स्थान में पधारे। भगवान ने तेरह महीने का छद्मस्थ काल बिताया और मगसिर मास की शुक्ल पंचमी को केवलज्ञान प्राप्त किया।

अब केवलज्ञान-रूपी एक ही विशुद्ध लोचन से भगवान समस्त पदार्थों को एकसाथ प्रत्यक्ष देखने लगे। उनकी अवस्था निरावरण सूर्य के समान थी, जो प्रकाशित करने योग्य पदार्थों के बारे में न तो क्रम की अपेक्षा रखता है और न किसी दूसरे की सहायता की। उस समय समस्त अहमिन्द्र अपने आसनों से सात डग आगे चले और उन्होंने माथे पर अंजलि लगाकर भगवान को नमस्कार किया। आनन्द के अतिरेक के कारण इन्द्रादि देवता सब दिशाओं से वहाँ आये। देवाधिदेव मुनिसुव्रत के चम्पक नाम का चैत्य वृक्ष प्रकट हुआ था। वे आठ प्रतिहार्य वैभवों से अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहे थे और अचिन्त्य अरिहतन्त पद को प्राप्त हुए। अनेक राजाओं और तीनों भुवनों के स्वामियों ने उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की।

इसके बाद जब बारह गण बारह सभाओं में यथास्थान बैठ गये, तब विशाख नाम के गणधर ने विनयपूर्वक बारह अंगोंवाले 'अनुयोगपथ' के बारे में पूछा। उसके उत्तर में भगवान ने धर्म का निरूपण कर पृथिवी पर तीर्थ प्रकट किया। भगवान भी अनेक प्राणियों के लिए धर्मामृत की वर्षा करते हुए अनेक देशों में विहार करने लगे। भगवान के संघ में हजारों मुनि, अवधिज्ञानी, आर्यिकाएँ, श्रावक और श्राविकाएँ थीं। इन सभी सभासदों से घिरे हुए भगवान नक्षत्रों से घिरे चन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे। आयु के अन्त में भगवान मुनिसुव्रत वनमालाओं से मण्डित सम्मेदाचल पर आरूढ़ होकर कर्म निवृत्त हुए। माघ शुक्ल त्रयोदशी का तीसरा पहर था। पुण्य नक्षत्र में भगवान ने पद्मासन लगाकर एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। मुक्त होने पर इन्द्र ने निर्वाण कल्याणक की पूजा की। भगवान मुनिसुव्रत का धर्मतीर्थ छ: लाख वर्ष तक चला। उनके तीर्थ में मुनियों का पूर्ण प्रभाव था और देवों का निरन्तर आगमन रहता था। बीसवें तीर्थंकर का यह चरित्र पंचकल्याणकों से युक्त है और समाधि एवं बोधि का प्रदाता है।

चौथा प्रकरण

मुनिसुव्रत का पुत्र सुव्रत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः अन्तरंग शत्रुओं का विजेता था और धर्म, अर्थ, काम—इन तीन पुरुषार्थों का प्रवर्तक था। उसके दक्ष नाम का अत्यन्त चतुर पुत्र था। उसे राज्य-पद देकर राजा सुव्रत ने अपने तीर्थंकर पिता के पास ही दीक्षा ले ली थी और मोक्षपद प्राप्त किया था।

कालान्तर में दक्ष के पुत्र ऐलेय ने अंगदेश में ताम्रलिप्ति नाम का नगर और नर्मदा नदी के तट पर माहिष्मती नाम से प्रसिद्ध नगरी बसायी थी। उसी के विजेता पुत्र कुणिम ने विदर्भ देश में वरदा नदी के किनारे कुण्डिलपुर नगर बसाया था। इसी तरह उसके पुत्र पुलोम ने पुलोमपुर और उसके पुत्रों पौलोम और चरम ने रेवा नदी के तट पर इन्द्रपुर नाम का नगर बसाया था। पौलोम के महीदत्त और महीदत्त के अरिष्टनेमि तथा मत्स्य दो पुत्र हुए। मत्स्य ने अपनी चतुरंग सेना से भद्रपुर और हस्तिनापुर को जीता और हस्तिनापुर को अपना निवास-स्थान बनाया। उसके सौ पुत्र हुए, जिनमें अयोधन सबसे बड़ा था। अयोधन की वंशपरम्परा में क्रमशः मूल, शाल, सूर्य, अमर, देवदत्त, हरिष्ण, नभसेन, शंख, भद्र आदि हरिवंश के राजा हुए। इनके बाद भद्र का पुत्र अभिचन्द्र राजा हुआ। उसने विन्ध्याचल के ऊपर चेदिराष्ट्र की स्थापना की और शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नगरी बसायी।

एक दक्ष राजा को छोड़कर हरिवंश के ये सभी राजा तपोलक्ष्मी को प्राप्त हुए थे।

अभिचन्द्र का पुत्र वसु, उसकी वसुमती रानी से जन्मा था। वसु चन्द्रकान्त मणि की तरह आर्द्रहृदय और मृदु स्वभाव का था।

राजा अभिचन्द्र ने अपने पुत्र को क्षीरकदम्ब नाम के एक वेदार्थवेत्ता ब्राह्मण के पास विद्याध्ययन के लिए भेजा था। इस ब्राह्मण की स्त्री का नाम था स्वस्तिमती और पुत्र का नाम था पर्वत। बुद्धिमान गुरु क्षीरकदम्ब राजकुमार वसु, पुत्र पर्वत और

एक अन्य युवक नारद—इन तीन शिष्यों को गूढ़ार्थ सहित शास्त्र पढ़ाया करता था।

एक बार वन में क्षीरकदम्ब तीनों शिष्यों को आरण्यक वेद पढ़ा रहा था कि उसने आकाश में किसी अवधिज्ञानी चारण ऋद्धिधारी मुनि को दूसरे मुनि से यह कहते हुए सुना : 'वेदाध्ययन में लगे इन चार मनुष्यों में से दो तो अपने पाप के कारण अधोगति को जाएँगे और दो अपने पुण्य के कारण ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे।'

मुनि के वचन सुनकर क्षीरकदम्ब का हृदय शंकित हो उठा। जब दिन ढल गया तो उसने शिष्यों को तो घर भेज दिया और स्वयं कहीं और चला गया।

शिष्यों के साथ पति को न देखकर स्वस्तिमती चिन्तित हो उठी और उसने आकुल होकर पूछा, "बच्चो, उपाध्याय कहाँ रह गये?"

शिष्यों ने कहा, "माँ, उन्होंने हमसे कहा था, 'तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।' इसलिए चिन्ता न करो, वे पीछे आते ही होंगे।"

जब तक दिन बाकी रहा, तब तक तो स्वस्तिमती चुप रही, लेकिन जब पति रात को भी घर नहीं आया, तो उसके शोक की सीमा न रही। वह रातभर कलपती रही।

सुबह होने पर पर्वत और नारद गुरु को खोजने लगे। वे सारे दिन वन में भटकते रहे। थककर लौटने ही वाले थे कि उन्होंने देखा, क्षीरकदम्ब वनान्त में अपने गुरु के पास निर्ग्रन्थ मुद्रा में बैठकर पढ़ रहे हैं।

पिता को इस तरह बैठा हुआ देखकर पर्वत का तो धैर्य छूट गया और वह दूर से ही लौट आया, लेकिन नारद विनयी और जिज्ञासु था, इसलिए उसने निकट जाकर गुरु की प्रदक्षिणा कर नमस्कार किया और उनसे वार्तालाप करके अणुव्रत धारण किये।

पर्वत के मुख से पति की दीक्षा का समाचार सुनकर स्वस्तिमती बहुत दुखी हुई। नारद भी लौटा और उसने शोकसन्तप्त पर्वत और पर्वत की माता को समझा-बुझाकर आश्वस्त किया और नमस्कारपूर्वक अपने घर वापस चला गया।

इधर वसु के पिता राजा अभिचन्द्र ने भी संसार के सुख से उदासीन होकर राज्यभार वसु को सौंप दिया और स्वयं तप के लिए वन में चले गये।

नवयौवन से मण्डित, नीतिवेत्ता वसु ने पृथिवी को स्त्री की तरह वशीभूत कर लिया था। वह राजसभा में आकाशस्फटिक के ऊपर स्थित सिंहासन पर बैठता था, इसलिए सारे राजा उसे आकाश में ही स्थित मानते थे। राजा वसु सदा आकाश-स्फटिक पर ही चलता था और सत्य का ही पोषण करता था, इसलिए पृथिवी पर यही यश फैला रहा था कि वह धर्म की महिमा से आकाश में चलता है।

राजा वसु की इक्ष्वाकुवंश की स्त्री से बृहद्वसु, चित्रवसु, वासव, अर्क और महावसु—ये पाँच पुत्र थे और कुरुवंश की स्त्री से विश्वावसु, रवि, सूर्य, सुवसु और बृहद्ध्वज—ये पाँच पुत्र थे। ये दसों पुत्र पिता के समान ही अत्यन्त विजया-भिलाषी और पराक्रमी थे।

इधर नारद ने वेदविद्या में अत्यन्त उत्कर्ष प्राप्त किया था। एक दिन वह बहुत-से छत्रधारी शिष्यों से घिरा हुआ अपने गुरुपुत्र पर्वत से मिलने के लिए आया। परस्पर अभिवादन और गुरुपत्नी को नमस्कार करने के बाद गुरुचर्चा करता हुआ बैठ गया।

उस समय पर्वत अपने छात्रों के सामने वेद के 'अजैर्यष्टव्यम्' वेद वाक्य की व्याख्या कर रहा था। नारद के सामने भी वह गुरुतुल्य गर्व से उसी तरह व्याख्या करता रहा।

वह समझा रहा था, 'अजैर्यष्टव्यम्' वेदवाक्य में जो 'अज' शब्द है, वह पशुवाचक है, इसलिए द्विजों को अज अर्थात् बकरे से ही यज्ञ करना चाहिए।

नारद ने अज्ञानी पर्वत के इस अर्थ पर आपत्ति की। उसने पर्वत से कहा, "गुरुपुत्र पर्वत, तुम इस तरह की निन्दनीय व्याख्या क्यों कर रहे हो? हम एक ही गुरु के पास साथ-साथ पढ़े हैं। एक ही उपाध्याय के शिष्यों में सम्प्रदाय-भेद कैसे हो सकता है? यहाँ 'अज' शब्द का जो अर्थ गुरुजी ने बताया था, क्या वह तुम्हें याद नहीं है? उन्होंने बताया था, जिसमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति नहीं है, वह पुराना धान्य 'अज' कहलाता है और यही सच्चा सनातन अर्थ है।"

दुर्बुद्धि पर्वत ने नारद के इस तरह कहने पर भी अपना हठ नहीं छोड़ा और उलटे यह प्रतिज्ञा कर ली, "अगर इस विषय में पराजित हो जाऊँ, तो अपनी जीभ कटा लूँ।"

नारद ने फिर समझाया, "पर्वत, खोटे पंखोंवाले पतंगे की तरह क्यों दुःख की आग में कूदना चाहते हो?"

पर्वत उसी तरह बोला, "जाओ, बहुत कहने से क्या? कल राजा वसु की सभा में हम दोनों का शास्त्रार्थ हो जाए।"

वितण्डावाद बढ़ते देखकर नारद यह कहकर वहाँ से उठ गया, "पर्वत, मैं तुम्हें देखने आया था, सो देख लिया। तुम भ्रष्ट हो गये हो।"

नारद के चले जाने पर पर्वत भी दुखी हुआ और उसने सारा वृत्तान्त अपनी माता से कहा। पुत्र की बात सुनकर स्वस्तिमती भी बहुत दुखी हुई और उसने पर्वत को धिक्कारा। वह बार-बार यही कह रही थी, "पुत्र, तेरा कथन असत्य है। नारद का वचन परमार्थ का प्ररूपक होने के कारण सत्य है और तेरा वचन मिथ्या अर्थ का

आश्रय लेने के कारण झूठ है। अरे पर्वत, जो तेरे पिता ने कहा था, नारद वही कह रहा है।''

अगले दिन शास्त्रार्थ होना था। पुत्र की पराजय को निश्चित जान स्वस्तिमती राजा वसु के घर गयी। राजा ने उसे बड़े आदर से बैठाया और उसके आने का कारण पूछा। स्वस्तिमती ने वसु को सारा वृत्तान्त सुनाया और गुरुगृह में धरोहर रखी गुरुदक्षिणा का स्मरण दिलाते हुए याचना की, ''पुत्र, तू सब तत्त्व और अतत्त्व को जानता है, सच और झूठ को समझता है लेकिन सभा में तुझे पर्वत के वचन का ही समर्थन करना है और नारद के वचन को दोषपूर्ण ठहराना है।''

स्वस्तिमती ने वसु को गुरुदक्षिणा का स्मरण दिलाया था, इसलिए उसने गुरुपत्नी की बात स्वीकार कर ली।

सुबह हुई, राजसभा जुड़ी। अनेक क्षत्रियों से सेवित राजा वसु सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। तभी बहुत से शास्त्रज्ञ प्रश्नकर्ताओं से घिरे हुए पर्वत और नारद ने भी सभा में प्रवेश किया। वे आकाशस्फटिक के ऊपर सिंहासन पर बैठे राजा वसु को आशीर्वाद देकर अपने शिष्यों के साथ यथायोग्य आसनों पर बैठ गये।

उस समय राजसभा का आँगन खचाखच भरा हुआ था। चारों वर्णों के लोग और अनेक आश्रमवासी वहाँ उपस्थित थे। विशेष रूप से आमन्त्रित न होने पर भी बहुत से साधारण मनुष्य सहज स्वभाववश सभा में आ बैठे थे। उस समय कितने ही ब्राह्मण कर्णमधुर स्वर में सामवेद गा रहे थे। कितने ही ओंकार ध्वनिपूर्वक यजुर्वेद का पाठ कर रहे थे। कुछ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों के स्वरस का निरूपण कर रहे थे। डाण्डी और कमण्डलुओं से युक्त बल्कल और जटाओं को धारण करनेवाले कितने ही तपस्वी उस सभा में विद्यमान थे।

राजसभा में जो पण्डित अपने यथोचित आसनों पर बैठे थे, उनमें कुछ तो इस गुण और चरित्रवाले थे कि अगर सभारूप समुद्र में क्षोभ उत्पन्न हो जाय तो उसे रोकने के लिए सेतुबन्ध बन जाएँ। कुछ ऐसे थे जो पक्षपात न होने देने के लिए तुलादण्ड का काम करें। कितने ही पण्डित कुमार्ग की शरण लेनेवाले हाथियों के लिए अंकुश के समान थे और उनमें कितने ही श्रेष्ठतत्त्व को प्रमाणित करने के लिए निकष पाषाण की भाँति थे।

जब सारे विद्वान यथास्थान यथायोग्य आसनों पर आसीन हो गये, तब कुछ वृद्ध पुरुषों ने राजा वसु से इस प्रकार निवेदन किया :

''राजन्! नारद और पर्वत—ये दो विद्वान् किसी वस्तु में विसंवाद होने के कारण आपके पास आये हैं। आप न्यायमार्ग के ज्ञानी हैं और क्योंकि उन सबका

सम्प्रदाय छिन्न-भिन्न हो चुका है, इसलिए वैदिक अर्थ इस समय पृथिवी पर आपके अतिरिक्त अन्य लोगों के विचार का विषय नहीं है। न्याय द्वारा इस विसंवाद के समाप्त होने पर वेदों का अनुसरण करनेवाले लोगों की प्रवृत्ति सन्देहरहित और लोक-उपकारी हो जाएगी। इसलिए आपकी अध्यक्षता में सारे सभागतों के बीच इनका निर्णय हो और ये न्यायपूर्ण जय और पराजय को प्राप्त करें।''

वृद्धजनों के इस तरह कहने पर राजा वसु ने शास्त्रार्थ का आरम्भ करते हुए पर्वत को पूर्वपक्ष रखने का अवसर दिया। गर्वीले पर्वत ने पूर्वपक्ष ग्रहण किया और अपना पक्ष रखते हुए बोला, '' 'अजैर्यष्टव्यम्' इस श्रुति-वाक्य में 'अज' शब्द पशुवाचक है। यह न केवल वेदों में पशुवाचक है, बल्कि लोक में स्त्री, बालक, वृद्धजनों के बीच भी यह पशु के लिए ही प्रसिद्ध है। यह मनुष्य अज के बालक की तरह गन्धवाला है, 'यह अजा अर्थात् बकरी का दूध है' आदि स्थलों में 'अज' शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है, उसे देव भी मिथ्या नहीं कर सकते। सिद्ध शब्द और उसके अर्थ का जो सम्बन्ध पहले से निश्चित चला आ रहा है, अगर उसमें बाधा डाली जाएगी, तो व्यवहार का ही लोप हो जाएगा।

जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' 'स्वर्ग का इच्छुक मनुष्य अग्निहोत्र यज्ञ करे', इस श्रुति में अग्नि आदि शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ को ही लिया जाता है। उसी प्रकार 'अजैर्यष्टव्यम्' श्रुति में भी 'अज' का प्रसिद्ध अर्थ पशु ही लेना चाहिए और यागादि शब्द का अर्थ पशुघात निश्चित ही है इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्य का अर्थ यही लेना उचित है कि बकरे के छाल द्वारा अनुष्ठान करना चाहिए।

यहाँ यह आशंका भी नहीं करनी चाहिए कि घात करते समय पशु को दु:ख होता होगा, क्योंकि मन्त्र के प्रभाव से उसकी मृत्यु सुखपूर्वक होती है, दु:खपूर्वक नहीं। दीक्षा के अन्त में मन्त्रों का उच्चारण होते ही पशु को सुखस्थान दिखाई देने लगता है, इसमें सन्देह की कोई बात भी नहीं। क्योंकि मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है।

आत्मा तो अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए यहाँ घात किसका होगा? यह आत्मा तो अग्नि, विष और अस्त्र से भी नहीं मरता, फिर मन्त्रपाठ से इसका घात किस तरह हो सकता है? यजमान लोग यज्ञ में पशु का घात कर उसके चक्षु को सूर्य के पास, कानों को दिशाओं के पास, प्राणों को वायु के पास, रक्त को जल के पास और शरीर को पृथिवी के पास भेज देते हैं। इस तरह वे उसे शान्ति ही पहुँचाते हैं, न कि कष्ट। मन्त्र द्वारा आहूत पशु सीधा स्वर्ग भेज दिया जाता है और वह वहाँ याजक के समान कल्पकाल तक बहुत सुख भोगता है।

इसके अतिरिक्त यह कल्पना भी असंगत है कि अभिप्रायपूर्वक किया हुआ पुण्यबन्ध ही स्वर्गप्राप्ति का कारण है। बलपूर्वक होमे गये पशु को स्वर्ग मिलना

असम्भव है। जिस तरह बच्चे को उसकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती खिलाया हुआ घी आदि भी लाभ के लिए होता है और इससे उसके शरीर की वृद्धि देखी जा सकती है, वैसे ही यज्ञ में जबर्दस्ती होमे जानेवाले पशु की स्वर्गप्राप्ति भी देखी जाती है।''

पर्वत इस तरह अपना पूर्वपक्ष स्थापित कर चुप हो गया।

अब बुद्धिमान नारद उसका निराकरण करते हुए बोला, ''सज्जनो, आप ध्यानपूर्वक सुनें, मैं पर्वत के वचनों के अभी सौ टुकड़े करता हूँ।

'अजैर्यष्टयम्' वाक्य में अज का अर्थ पशु पर्वत की अपनी कल्पना है। वेद में शब्दार्थ की व्यवस्था अपने अभिप्राय से नहीं होती, आप्तजन के उपदेश से होती है। जिस तरह हम वेदाध्ययन के लिए गुरु के उपदेश का आश्रय लेते हैं, वैसे ही गुरुओं की पूर्वपरम्परा से शब्दों के अर्थ का भी निश्चय करते हैं। जहाँ से वेदाध्ययन होता है, वहीं से वेद के शब्दार्थ का निश्चय भी होता है। अगर यह कहा जाय कि अर्थज्ञान अध्ययन से भिन्न हो सकता है तो यह ठीक नहीं है। दोनों में ही समान न्याय होने के कारण अगर अध्ययन गुरु-परम्परा की अपेक्षा रखता है तो अर्थज्ञान भी गुरुपरम्परा की अपेक्षा रखेगा।

अगर यह कहा जाय कि प्रज्ञाशाली मनुष्य अपनी इच्छा से शब्द के अर्थ की कल्पना कर सकता है, तो हम यह कहेंगे कि तब उसे शब्द बनाने में भी सक्षम होना चाहिए।

गुरु ने यह अर्थ केवल पर्वत को ही बताया हो और मुझे और वसु को कुछ भिन्न अर्थ बताया हो, एक ही गुरु के पास यह सम्प्रदाय-भेद सम्भव नहीं है।

जगत् में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनका समान उच्चारण होता है, किन्तु विषयभेद के कारण वे अलग-अलग अर्थों को प्रकट करते हैं, जैसे गो शब्द गाय, किरण, मृग, इन्द्रिय, दिशा, पृथिवी आदि अनेक अर्थों का वाचक है। लेकिन सब अर्थों में उसका प्रयोग अलग-अलग ही होता है। जैसे 'चित्रगु' में गो शब्द का अर्थ किरण न होकर गाय है और 'अशीतगु' में गो शब्द गाय का वाचक न होकर किरण-वाचक है। अर्थ में प्रवृत्ति या तो रूढ़ि से होती है या क्रिया से। पर जिनके हृदय में गुरु का उपदेश स्थिर नहीं रहता, वे गुरु-प्रतिपादित अर्थ को भूल जाते हैं।''

नारद ने आगे कहा, '' 'न जायन्ते इति अजा:'—जो उत्पन्न न हो सके, वे अज हैं। इस व्युत्पत्ति से 'अज' शब्द को रूढ़िगत पशु अर्थ में न लेकर क्रियागत पुराने धान्य के अर्थ में लेना चाहिए। इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्'—इस वाक्य का अर्थ है कि ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए, जो अंकुरित न हो सके।

'यज्' धातु का अर्थ देवपूजा है, इसलिए स्वर्ग के इच्छुक मनुष्यों को धान से पूजा करनी चाहिए। यह इसका अर्थ है। नैवेद्य आदि के द्वारा की हुई पूजा से स्वर्ग

की प्राप्ति होती है। हित के अभिलाषी मनुष्य भगवान ऋषभदेव की ऐसे ही नैवेद्य से ही पूजा करते हैं, जिन्होंने युगारम्भ में छः कर्मों की प्रवृत्ति चलायी थी। वे पुराण पुरुष हैं, रक्षक हैं, मोक्षमार्ग के उपदेशक हैं, संसार-सागर के शोषक हैं, ईश हैं, महेश्वर हैं, ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं, ईशान हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, इन्द्र हैं, इन्द्र द्वारा पूज्य हैं और वेदों में स्वयंभू नाम से प्रसिद्ध हैं।

इसी पूजा से मनुष्यों को स्वर्ग-सुख मिलता है, इसी से मोक्ष का अविनाशी सुख, इसी से कीर्ति, कान्ति, दीप्ति और धृति की प्राप्ति होती है।

साक्षात् पशुबलि की बात तो दूर रही, आटे के पिण्ड से बनाये पशु से भी यज्ञ अर्थात् पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अशुभ संकल्प से भी पाप का उदय होता है।

पर्वत ने जो कहा कि मन्त्र द्वारा होनेवाली मृत्यु से कष्ट नहीं होता है, यह भी झूठ है। अगर यह सत्य हो तो पशु के पैर बाँधने और नाक मूँदने की क्या आवश्यकता है? जो पशु मारा जाता है, उसका कष्ट तो उसके जोर-जोर से चिल्लाने से ही प्रत्यक्ष है।

इसके अलावा पर्वत का यह कथन भी सत्य नहीं है कि आत्मा सूक्ष्म होने के कारण अवध्य है। आत्मा जब स्थूल शरीर में होता है, तब वह स्थूल भी होता है। अनन्त शरीर का अनुभव करनेवाले जीव को अगर सिर्फ सूक्ष्म ही मान लिया जाए, तो वह सुख-दुख कैसे भोगेगा? इसलिए आत्मा शरीर प्रमाण है और मन्त्र, तन्त्र, शस्त्र आदि से शरीर का घात होने पर कष्ट का अनुभव करता है।

जब यह जीव तीव्र दुःख से मरने लगता है, तब चक्षु आदि इन्द्रियों से स्वयं अलग हो जाता है। इसलिए उन्हें वियुक्त करनेवाला दूसरा और कौन है? इसलिए यह कहना कि याजक लोग उनके चक्षु आदि को सूर्य आदि के पास भेज देते हैं, मिथ्या है।

पर्वत ने कहा कि मन्त्र द्वारा होम करते ही पशु स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहाँ वह याजक के तुल्य स्वर्ग-सुखों का उपभोग करता है। भला प्राणियों को घात करनेवाले याजक को स्वर्ग कैसे मिल सकता है?

इसके अलावा धर्मयुक्त कार्य ही सुख-प्राप्ति में सहायक हो सकता है, अधर्मयुक्त नहीं। माता बच्चे को अगर जबर्दस्ती भी कुछ देती है, तो वह घी, दूध आदि हितकारी पदार्थ ही देती है, विष आदि अपथ्य पदार्थ नहीं। इसलिए पर्वत का यह कहना कि पशु का जबर्दस्ती होम करना भी उसकी स्वर्ग-प्राप्ति के लिए है, ठीक नहीं।''

नारद ने अपने तीक्ष्ण वचनों से पर्वत के मिथ्या तर्कों को इस तरह चूर-चूर कर दिया जैसे वज्र अपने नुकीले कोनों से पहाड़ के भद्दे किनारों को तोड़ देता है। सभा

में बैठे धर्मज्ञ पुरुषों ने शिर हिला-हिलाकर नारद को साधुवाद दिया।

अब निर्णय के लिए राजा वसु की बारी आयी। विद्वानों ने आकाशस्फटिक के आसन पर बैठनेवाले राजा वसु से पूछा, "राजन्, आपने गुरु के मुख से जो सत्य अर्थ सुना हो, वह कहिए।"

राजा वसु स्थिर बुद्धि था और उसे अपने गुरु के वचनों का स्मरण भी अच्छी तरह था। फिर भी सत्य के विषय में मोहयुक्त होकर उसने स्वस्तिमती के वचनों को महत्त्व दिया और सबके सामने बोला, "सभासदो, नारद ने जो कुछ कहा है, वह युक्तिसंगत है, लेकिन जो पर्वत ने कहा है, वह हमारे गुरु के द्वारा कहा हुआ है।"

वसु का इतना कहना था कि उसका आकाशस्फटिक का आसन पृथिवी में धँस गया और वह पाताल में जा गिरा।

अपने सामने वसु का यह पतन देखकर सारे सभाजन धिक्-धिक् करने लगे। उन्होंने असत्यवादी राजा वसु की निन्दा की और दुष्ट पर्वत का तिरस्कार कर उसे नगर से बाहर निकाल दिया। सबने तत्त्ववादी नारद का सम्मान किया और सभा विसर्जित की।

मन्त्रियों ने वसु के पहले आठ पुत्रों को क्रम से गद्दी पर बैठाया, पर कोई भी अधिक दिन जी न सका। छोटे दोनों पुत्र सुवसु और बृहद्ध्वज मृत्यु के भय से नगर छोड़कर भाग गये। बृहद्ध्वज मथुरा में जा बसा और सुवसु नागपुर में रहने लगा।

मथुरा के राजा बृहद्ध्वज के सुबाहु नाम का अत्यन्त तेजस्वी पुत्र हुआ। उसे राज्यलक्ष्मी सौंप बृहद्ध्वज ने तपलक्ष्मी को प्राप्त किया। इस वंश में कालक्रम से हजारों राजा हुए और सब अपने पुत्रों को राज्यपद देकर तपस्वी हो गये।

भगवान मुनिसुव्रत के बाद नेमिनाथ इक्कीसवें तीर्थंकर हुए। इन्हीं के तीर्थ में यदु नाम का राजा हुआ, जो हरिवंश का सूर्य और यादवों की उत्पत्ति का कारण था। अपने प्रताप से इसने समस्त पृथिवी को आच्छन्न कर रखा था। एक दिन भोगों से उदासीन होकर इसने पुत्र नरपति का राज्याभिषेक किया और स्वयं तप के लिए वन की राह पकड़ी। राजा नरपति ने भी अपने पुत्र शूर और सुवीर को राजा बनाकर अपने पूर्वजों का अनुसरण किया।

अत्यन्त कुशल शूर ने छोटे भाई सुवीर को मथुरा के राज्य पर अधिष्ठित किया और स्वयं कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर बसाकर रहने लगा।

शूर का पुत्र अन्धकवृष्णि था और मथुरा के स्वामी सुवीर के पुत्र का नाम भोजकवृष्णि था। ये दोनों भाई शूर और सुवीर भी अन्धकवृष्णि को शौर्यपुर का और

भोजकवृष्णि को मथुरा का स्वामी बनाकर स्वयं सुप्रतिष्ठ मुनि के पास दीक्षित हो गये।

अन्धकवृष्णि के दस पुत्र हुए। देवों के समान दीप्तिमान ये पुत्र स्वर्ग से च्युत होकर आये थे और 'दशार्ह' नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें सबसे बड़े पुत्र का नाम था समुद्रविजय और सबसे छोटा पुत्र वसुदेव कहलाता था। इनके अलावा राजा अन्धकवृष्णि के दो कन्याएँ भी थीं—कुन्ती और माद्री।

मथुरा के राजा भोजकवृष्णि के तीन पुत्र हुए, जिनमें उग्रसेन सबसे बड़े थे।

राजा वसु के पतन के बाद उसका जो सुवसु नाम का पुत्र नागपुर में रहने लगा था, उसका वंश भी कालक्रम से अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ। हजारों राजाओं के हो जाने के बाद इसी वंश में निहतशत्रु नाम का राजा हुआ। उसके शतपति और शतपति के बृहद्रथ नाम का पुत्र हुआ। यह राजगृह नगर का स्वामी था। इसी के जगत्-प्रसिद्ध पुत्र का नाम था जरासन्ध, जो विभूति में रावण तुल्य था, तीन खण्ड भरत का शासक था और देवों के समान प्रतापी प्रतिनारायणों में नौवाँ प्रतिनारायण था।

चक्रवर्ती जरासन्ध के अपराजित आदि अनेक भाई थे, जो हरिवंश-वृक्ष पर लगे हुए फलों के समान जान पड़ते थे। राजा जरासन्ध राजगृह नगर में रहता हुआ ही दक्षिण श्रेणी के सभी विद्याधर राजाओं पर शासन करता था। उत्तरापथ और दक्षिणापथ के समस्त राजा उसकी आज्ञा को मुकुटमणि की तरह शिर पर धारण करते थे। उसने पूर्व-पश्चिम के समुद्र-तटों और मध्य के सभी देशों को अपने वश में किया था।

एक बार शौर्यपुर के उद्यान में गन्धमादन पर्वत पर रात के समय सुप्रतिष्ठ मुनि प्रतिमा योग लेकर आसीन थे। इन्द्र और देवगण वहाँ आये और उन्होंने भक्तिपूर्वक केवली भगवान को नमस्कार किया। शौर्यपुर का राजा अन्धकवृष्णि भी अपने स्त्री-पुत्रों, सभासदों के साथ वहाँ आया और सुप्रतिष्ठ केवली की पूजा करके बैठ गया। उसके हृदय में सुप्रतिष्ठ मुनि के प्रति इसलिए भी विशेष पूजा भावना थी, क्योंकि उसके पिता शूर और चाचा सुवीर ने इन्हीं के निकट दीक्षा ली थी।

सबके शान्त बैठ जाने पर मुनिराज ने धर्मोपदेश किया। उन्होंने कहा, "धर्म उत्कृष्ट मंगलरूप है। वह धेनुओं में कामधेनु तथा श्रेष्ठ सुख की खान है। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक से सन्तप्त प्राणियों के लिए लोक में धर्म ही उत्तम शरण है। समस्त अभ्युदय और मोक्षसुखों का कारण धर्म ही है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युक्त अहिंसा, संयम और तप इस धर्म के लक्षण हैं।"

मुनि ने कहा, "गृहस्थ धर्म स्वर्गादि अभ्युदयों का कारण है। इसमें परम्परागत

रूप से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, लेकिन मुनिधर्म मोक्ष का साक्षात् कारण है।''

राजा अन्धकवृष्णि के पूछने पर मुनिराज ने उसके तथा उसके प्रथम नौ पुत्रों के पूर्वजन्म का वर्णन किया। अब रह गये वसुदेव। मनुष्यों और देवों की उस सभा में सबके कान खड़े हुए थे, जब भगवान सुप्रतिष्ठ केवली ने वसुदेव के जन्मान्तर की कथा कही :

मगध देश के शालिग्राम नगर में एक दरिद्र ब्राह्मण दम्पती रहता था। उनके एक ऐसा भाग्यहीन पुत्र हुआ, जिसका जन्म ही दु:ख के लिए था। जब वह गर्भ में था तो पिता मर गया और जब जनमा तो माँ भी परलोक सिधार गयी। उसका नन्दिषेण नाम था। मौसी ने उसका पालन-पोषण किया। अभी वह आठ वर्ष का भी न हो पाया था कि उसकी मौसी की भी मृत्यु हो गयी। अब वह राजगृह नगर में अपने मामा के यहाँ रहने लगा। उसका शरीर मैला था और उससे तीव्र गन्ध आया करती थी। केश रूखे और बिखरे हुए थे। वह गन्दे कपड़े पहने रहता था और उसकी आँखें स्वभावत: ही पीली थीं। इतना होने पर भी दुर्बुद्धि ऐसी कि अपने मामा की पुत्रियों से विवाह करना चाहता था। वे लड़कियाँ उससे घृणा करती थीं। एक दिन उन्होंने उसे घर से निकाल दिया।

दु:ख और निराशा से विकल नन्दिषेण आत्महत्या करने की इच्छा से वैभार पर्वत पर गया। वहाँ मुनियों ने उसे रोक लिया और धर्म-अधर्म के फल का उपदेश किया। जाग्रत् होकर नन्दिषेण ने संख्य मुनि से दीक्षा ले ली। गुरु के उपदेश से उसका आशापाश नष्ट हो गया और उसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त किया। उसने परहित के लिए कठोर तप किया और उसे तमाम ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। वह वैयावृत्य तप विशेष रूप से किया करता था। इसके द्वारा वह रोगी मुनियों को औषधिदान तथा इच्छित पथ्यदान देने में समर्थ था।

एक दिन इन्द्र ने अपनी सभा में नन्दिषेण के तप की प्रशंसा की और कहा—'जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में साधुओं की वैयावृत्य करनेवाले नन्दिषेण मुनि सबसे श्रेष्ठ हैं। रोग से पीड़ित मुनि जिस पथ्य की इच्छा करता है, उसे नन्दिषेण मुनि तत्काल पूर्ण कर देते हैं। परोपकार में लगा हुआ जो मनुष्य स्वयं प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखता, वह शीघ्र ही आत्मा का मोक्ष प्राप्त करता है। नन्दिषेण मुनि ऐसे ही उत्तम मुनि हैं।'

इन्द्र से प्रशंसा सुन सब देवों ने नन्दिषेण मुनि को मन-ही-मन नमस्कार किया। उन्हीं देवों में एक देव परीक्षा लेने के लिए एक और मुनि का रूप रख नन्दिषेण मुनि के पास पहुँचा और कहने लगा—'मुनिराज, मेरा शरीर व्याधि से पीड़ित है, इसलिए मुझे कुछ औषधि दीजिए।'

नन्दिषेण मुनि ने दयार्द्र होकर कहा—'मैं औषधि देता हूँ, साथ ही यह भी

बताओ कि तुम्हारी किस भोजन में रुचि है?'

मुनिवेश में आये देव ने कहा—'पूर्वदेश के धान का शुभ सुगन्धित भात, पांचाल देश की मूँग की रुचिकर दाल, पश्चिम देश की गायों का तपाया हुआ घी, कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और कुछ दूसरे व्यंजन भी अगर मिल जाएँ तो अच्छा हो, क्योंकि मेरी रुचि इन्हीं में है।'

'मैं लाता हूँ,' कहकर नन्दिषेण मुनि बड़ी श्रद्धा से ये आहार लेने के लिए चल दिये।

ये सभी वस्तुएँ विरुद्ध दिशाओं से लानी थीं; फिर भी उनके मन में कोई खेद नहीं हुआ। उन्होंने सब आहार लाकर उस मुनि को खाने के लिए दिये।

रात के समय उस मुनि का समस्त शरीर मल से मैला हो गया। नन्दिषेण मुनि ने बिना किसी ग्लानि के उसके शरीर को अपने हाथों से धोया।

जो परम उत्साह से वैयावृत्य का पालन कर रहे थे, ऐसे नन्दिषेण मुनि के धैर्य को देखकर माया से मुनि बना वह देव अपने स्वाभाविक दिव्य रूप में आ गया और बोला—'मुनिवर, देवों की सभा में इन्द्र ने आपकी जिस प्रकार स्तुति की थी, मैं देख रहा हूँ, आप वैसे ही हैं। आपकी ऋद्धि, आपका धैर्य, आपकी ग्लानि जीतने की क्षमता, आपका संशय-रहित वात्सल्य—सभी आश्चर्यजनक हैं। आप सचमुच ही मुनिराज हैं।'

इस प्रकार मुनि नन्दिषेण की स्तुति कर वह देव स्वर्ग चला गया।

इन्हीं नन्दिषेण मुनि ने अपने जीवन के अन्तिम छः मास में प्रायोपगमन संन्यास ले लिया। उन्होंने आहार का त्याग कर दिया। वे अपने शरीर की वैयावृत्ति न स्वयं करते थे, न दूसरे से कराते थे। लेकिन उन्होंने मोहवश अन्तिम समय में यह कामना की—'मैं अगले जन्म में लक्ष्मीवान तथा सौभाग्यशाली होऊँ, और इस तरह अपनी आत्मा को बद्ध कर लिया। अगर नन्दिषेण मुनि यह निन्दित कामना न करते, तो अपनी सामर्थ्य से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते।''

सुप्रतिष्ठ मुनि ने राजा अन्धकवृष्णि से कहा, ''हे राजन्, वही नन्दिषेण स्वर्ग में अनन्त सुख भोगकर वहाँ से च्युत हो आपका वसुदेव नाम का महायशस्वी पुत्र हुआ है।''

केवली मुनि से अपने पूर्वजन्मों की कथा सुनकर राजा, रानी और सारी सभा के लोग धर्म और संवेग को प्राप्त हुए। राजा अन्धकवृष्णि ने अपने बड़े पुत्र समुद्रविजय को राज्यसिंहासन पर बैठाया और उसे वसुदेव का भार सौंपकर स्वयं सुप्रतिष्ठ मुनि से दीक्षा ले ली। राजा समुद्रविजय अपनी पटरानी शिवादेवी के साथ अपने प्रताप का विस्तार करते हुए प्रजा को प्रसन्न करने लगा।

पाँचवाँ प्रकरण

गौतम गणधर ने कहा, हे श्रेणिक! अब तुम वसुदेव की पृथिवी तथा विजयार्ध पर्वत से जुड़ी चेष्टाओं को सुनो!

कुमार वसुदेव देवकुमार की तरह सुन्दर थे और शौर्यपुर में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। जनता उनके रूप, लावण्य, सौभाग्य और चतुरता पर मोहित थी। उनका शरीर सूर्य के समान देदीप्यमान था और मुख चन्द्रमा की तरह सौम्य था। जब वसुदेव नगर से निकलते, तब स्त्रियों में रागजनित क्षोभ फैल जाता। जिस तरह पूनम का चाँद समुद्र की लहरों में हलचल मचा देता है, वैसे ही वसुदेव का दर्शन स्त्रियों को आकुल-व्याकुल कर देता। उनके बाहर आते ही स्त्रियों की भीड़ गलियों को रोक लेती और महलों की खिड़कियों पर छा जाती।

वसुदेव की सौन्दर्यश्री से नगरी उद्भ्रान्त-सी हो गयी थी और सब जगह कुमार वसुदेव की कथा ही सुनाई देती थी।

एक बार कुछ वृद्ध पुरुष मलिन मन लेकर राजा समुद्रविजय के पास गये। उन्होंने राजा को नमस्कार किया और एकान्त में इस प्रकार निवेदन करने लगे :

"महाराज, आप मनुष्यों की रक्षा करते हैं, इसलिए नृप हैं। पृथिवी की रक्षा करते हैं, इसलिए भूप हैं और प्रजा का रंजन करने के कारण राजा हैं। आपके राज्यकाल में प्रजा उपद्रवों से मुक्त है और आनन्द मनाती है। धनधान्य और पुण्य की वृद्धि के कारण सब तरफ प्रेम, शान्ति और आनन्द है। लेकिन हे राजन्, अनेक सुखों के बीच थोड़ा-सा दुःख भी है। जिस तरह अपना पेट फाड़कर नहीं दिखाया जा सकता, उसी तरह यह थोड़ा-सा दुःख भी प्रकट नहीं किया जा सकता।"

समुद्रविजय ने वृद्ध नागरिकों से कहा, "अगर आप हमारा हित चाहते हैं तो निर्भय होकर अपना दुःख कहिए; क्योंकि हृदय में रहनेवाली छोटी-सी मानसिक व्यथा के कारण आदमी का अन्न भी छूट जाता है।"

राजा की ओर से आश्वासन मिलने पर वृद्धजनों ने कहा, "राजन्, कुमार

वसुदेव प्रतिदिन नगर से बाहर निकलते हैं। नगर की स्त्रियाँ उनका रूप देखकर पागल हो जाती हैं और अपने शरीर की सुध-बुध खो देती हैं। जब तक कुमार उनकी आँखों के सामने रहते हैं, तब तक वे न किसी और को देखती हैं और न कुछ और सुनती हैं। और काम तो दूर रहे, रागान्ध होकर वे अपने छोटे-छोटे बच्चों को स्तनपान कराना भी भूल जाती हैं।''

राजा समुद्रविजय शान्त बैठे सब सुन रहे थे।

उन वृद्धजनों ने ठहरकर फिर कहा, ''महाराज, यह सच है कि कुमार वसुदेव अत्यन्त सुन्दर, धीर-वीर, शुद्ध हृदय, पवित्र आत्मा और चरित्र में महान हैं, फिर भी नगरवासियों की उद्‌भ्रान्त अवस्था से चिन्तित होकर हम आपके पास आये हैं। कुमार वसुदेव और नागरिक, जिसमें दोनों का भला हो, वह आप करें।''

राजा समुद्रविजय ने नागरिकों को आश्वासन देकर विदा किया और सोचते हुए बहुत देर तक बैठे रहे।

तभी वसुदेव ने आकर उन्हें प्रणाम किया। लम्बे भ्रमण के कारण वे कुछ थके हुए, से जान पड़ते थे। राजा ने उन्हें गोद में बिठाया और स्नेह से माथा सूँघते हुए कहा, ''तुम वनों में घूमने के कारण थक गये हो। देखो, तुम्हारा रंग फीका पड़ गया है और धूप व हवा से शरीर कुम्हला गया है। तुम भूखे-प्यासे हो। शरीर की तरफ तुम्हारा ध्यान ही नहीं है। अब आज से खाने-नहाने के समय का उल्लंघन नहीं करना और महल के अन्दर जो इतना बड़ा उद्यान है, उसी में घूमना-खेलना।''

आज्ञाकारी वसुदेव को इस प्रकार समझा-बुझाकर समुद्रविजय उनका हाथ पकड़कर अपने महल में ले आये। पटरानी शिवादेवी के सात खण्डोंवाले महल में ही उन्होंने वसुदेव के साथ स्नान-भोजन किया और उनके वहीं रहने तथा बाहर न निकलने की ऐसी व्यवस्था कर दी कि कुमार को किसी भी तरह का सन्देह नहीं हुआ।

कुमार वसुदेव शिवादेवी के बगीचों में नाट्य-संगीत आदि आयोजनों से अपना मनोविनोद करते हुए रहने लगे। राजा समुद्रविजय भी निश्चिन्त हो गये और वृद्ध नगारिकों ने भी चैन की साँस ली।

यह समय कितना लम्बा हो सकता था? एक दिन दीवारों में छेद हो ही गया। प्रसंग छोटा था, परिणाम बड़ा हो गया। एक दिन अन्त:पुर की कुब्जा दासी शिवादेवी के लिए विलेपन लिये जा रही थी। कुमार ने उसे बीच में ही रोक लिया और परेशान करके विलेपन-पात्र छीन लिया।

कुमार की इस चेष्टा से कुब्जा रुष्ट हो गयी और उसके मुँह से निकल पड़ा, ''कुमार, अपनी ऐसी चेष्टाओं से ही तुम्हें कारागृह मिला है।''

वसुदेव के भीतर शंका की कील गड़ गयी। उन्होंने पूछा, ''कुब्जा, तेरी बात का अर्थ क्या है?''

कुब्जा ने राजा समुद्रविजय की अन्तरंग व्यवस्था के बारे में कुमार को सबकुछ बता दिया।

कुमार का कोमल मन इस छल को सहन नहीं कर सका। वे राजा से विमुख हो गये। चतुर तो थे ही, सबको धोखा देकर चुपचाप महल और नगर से बाहर निकल गये। मन्त्रसिद्धि का बहाना बनाकर सेवक के साथ वे श्मशानभूमि में गये और कहा, ''जब मैं पुकारूँ, उत्तर देना।'' सेवक को इस तरह समझाकर एक जगह बैठा दिया और स्वयं कुछ दूर आगे चले गये। वहाँ एक शव को अपने आभूषणों से सजा दिया और उसे चिता पर रखकर आग लगा दी। फिर आग में कूदने का अभिनय करते हुए जोर से चिल्लाकर कहा, ''पूज्य राजा और चुगलखोर प्रजा सन्तुष्ट और सुखी हो, मैं अग्नि में प्रवेश कर रहा हूँ।''

वास्तव में कुमार तो यह सारा नाटक करके जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए दूर चले गये थे, किन्तु सेवक ने यही समझा कि वे आग में जल गये हैं। उसने नगर में लौटकर सारी कथा राजा को कह सुनायी। समुद्रविजय उसी समय नगरवासियों, स्त्रियों, भाइयों तथा दूसरे यदुवंशियों के साथ श्मशानभूमि में गये। वहाँ राख में कुमार के आभूषण देखकर सबको कुमार की मृत्यु का पूरा विश्वास हो गया और वे जोर-जोर से रोने लगे। राजा समुद्रविजय को बहुत आघात लगा। वे बार-बार स्वयं को कोसने लगे, ''हाय, हमने भाई को खो दिया।''

इधर धीर-वीर वसुदेव ने ब्राह्मण का वेश धरा और नि:शंक होकर पश्चिम दिशा में कई कोस निकल गये। चलते-चलते वे विजयखेट नगरी में पहुँचे। देवनगरी के समान सुन्दर उस नगरी का राजा एक गन्धर्वाचार्य था। उसका नाम सुग्रीव था और वह क्षत्रियवंशी था। वसुदेव का रूप देखकर उसका मन वशीभूत-सा हो गया।

गन्धर्वाचार्य सुग्रीव की दो पुत्रियाँ थीं-सोमा और विजयसेना। सौन्दर्य की खान ये दोनों कन्याएँ गन्धर्व कलाओं में अपनी सानी नहीं रखती थीं। इसी गर्व के कारण पिता सुग्रीव ने ऐसा निश्चय कर लिया था कि जो गन्धर्वविद्या में इन्हें जीतेगा, वही इनका स्वामी होगा। सोमा और विजयसेना आज तक अनेक प्रार्थियों को निराश कर चुकी थीं। अब ऐसा हुआ कि जिन-जिन विषयों में उन दोनों कन्याओं की जीत हुई थी, उन्हीं विषयों में वसुदेव ने उन्हें भरी सभा के सामने पराजित कर दिया। सुग्रीव ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी दोनों कन्याएँ वसुदेव को ब्याह दीं। वसुदेव उनके साथ सुन्दर महलों में आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने लगे। विजयसेना के अक्रूर नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन वसुदेव अज्ञात रूप से बाहर निकल गये। विजयखेट नगरी दूर छूट गयी थी और अब सामने एक छोटी बस्ती थी। अन्दर जाने पर उन्होंने एक सरोवर देखा। हंस, सारस और कमलों से शोभाशाली उस महासरोवर का नाम जलावर्त था। वसुदेव उसमें घुसे और घण्टों तक ठण्डे पानी में नहाते रहे। वसुदेव का शरीर ऊँचा और महिमाशाली था। उन्होंने क्रीड़ा करते हुए जल को हाथों से इस तरह थपथपाया, मानो मृदंग बजा रहे हों। उस ध्वनि को सुनकर वहाँ सोया हुआ एक विशाल हाथी उठकर खड़ा हो गया। वह हाथी क्रुद्ध होकर उन्हें मारने के लिए आगे बढ़ा। लेकिन चतुर वसुदेव ने छलपूर्वक उसे वश में कर लिया और उसके दाँतों पर झूला-सा झूलने लगे। हाथी निश्चल खड़ा हो गया और वीर वसुदेव उसे हाथ से सहलाते हुए उस पर सवार हो गये। एकाकी वसुदेव को अपना यह कार्य अत्यन्त आश्चर्यजनक लगा और वे हाथों को ऊपर उठाकर सिर हिलाते हुए मन-ही-मन बोले—'किसी के भी साक्षी न होने के कारण मेरा यह कार्य अरण्यरोदन जैसा हो गया। अगर यह घटना शौर्यपुर में घटित हुई होती तो लोग वाह-वाह कर उठते और 'धन्य-धन्य' की ध्वनि से आकाश गूँज उठता।'

वसुदेव ऐसा सोच ही रहे थे कि तभी दो सौम्य आकृतिवाले विद्याधर कुमार उन्हें हाथी पर से उठा ले गये। वे वसुदेव को लेकर विजयार्ध पर्वत के कुंजरावर्त नगर में पहुँचे और उन्हें बाहर के एक उपवन में छोड़ दिया। सर्वकामिक नाम के इस उपवन में जब कुमार अशोक वृक्ष के नीचे आश्वस्त होकर आराम से बैठ गये, तब उन दोनों युवा विद्याधरों ने वसुदेव को नमस्कार किया और आदरपूर्वक बोले, "स्वामी, आप विद्याधर राजा अशनिवेग की आज्ञा से यहाँ लाये गये हैं। उन्हें आप अपना ससुर समझें। हमारा नाम अर्चिमाली और वायुवेग है।"

वसुदेव से इस प्रकार कहकर अर्चिमाली तो नगर की तरफ चला गया और वायुवेग उनकी रक्षा में वहीं खड़ा रहा।

अर्चिमाली ने राजा अशनिवेग से नमस्कार कर कहा, "महाराज,आपका भाग्य उदित हुआ है। हाथी का मर्दन करनेवाला, धीर-वीर, सुन्दर और विनीत वह कुमार आपके नगर के ही बाह्य उद्यान में लाया जा चुका है।"

राजा के नेत्र आनन्द से खिल गये। उन्होंने अपने सारे आभूषण पुरस्कार में शुभ की सूचना देनेवाले इस विद्याधर को दे दिये।

राजा ने मंगलाचारों के बीच कुमार वसुदेव का नगर-प्रवेश कराया। वहाँ शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त में राजा ने अपनी युवती कन्या श्यामा का विवाह वसुदेव के साथ कर दिया। कलावन्ती गुणशाली श्यामा के साथ वसुदेव आमोद-प्रमोद करने लगे। श्यामा कमलिनी की तरह सुन्दर थी। एक दिन उसने सत्रह तारवाली वीणा

के संगीत से वसुदेव का मन मोह लिया। प्रसन्न होकर कुमार ने कहा, ''प्रिये श्यामा, आज तुम मुझसे कुछ माँगो!''

श्यामा ने पति के सामने विनत होकर यह वर माँगा, ''देव, चाहे दिन हो, चाहे रात, आप मुझसे अलग कभी अकेले न रहें।''

श्यामा ने आगे कहा, ''स्वामी, मेरे इस वरदान माँगने का एक कारण है। मेरा शत्रु अंगारक अवसर पाकर आप का हरण कर सकता है। वैसे मैं अनेक विद्याएँ जानने के कारण आपकी रक्षा कर सकती हूँ, पर मुझसे दूर होने पर वह आपको अपनी शक्ति से हर सकता है। इसलिए आप कभी भी मुझसे अलग न हों।''

''अंगारक कौन है? वह तुम्हारा शत्रु कैसे हुआ?'' कुमार ने पूछा।

श्यामा बोली, ''विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर किन्नरोद्‌गीत नाम का एक नगर है। वहाँ पहले अत्यन्त यशस्वी अर्चिमाली नाम का राजा था। वह विद्याधरों का एकमात्र शासक माना जाता था। उसके ज्वलनवेग और अशनिवेग दो पुत्र हुए। राजा अर्चिमाली ने ज्वलनवेग को राज्य और प्रज्ञप्ति विद्या दी और छोटे पुत्र अशनिवेग को युवराज पद देकर स्वयं अरिन्दम गुरु से दीक्षा ले ली। अंगारक राजा ज्वलनवेग का ही पुत्र है और जैसा कि आप जानते हैं, मेरे पिता अशनिवेग हैं। राजा ज्वलनवेग ने मेरे पिता को राज्य और अपने पुत्र अंगारक को प्रज्ञप्ति विद्या देकर स्वयं भी अपने पिता अर्चिमाली के समान दीक्षा ले ली थी। अंगारक बड़ा दुष्ट और घमण्डी स्वभाव का है, उसने मेरे पिता का राज्य छीनकर उन्हें देश से निकाल दिया। पिता जी राज्यभ्रष्ट हो इसी कुंजरावर्त नगर में रहते हैं और पिंजरे के पंछी की तरह छटपटाते रहते हैं।''

श्यामा ने आगे बताया, ''एक दिन मेरे पिता कैलास पर्वत पर गये थे, वहाँ एक चारण ऋद्धिधारी मुनि आये हुए थे। पिता ने उन्हें नमस्कार कर पूछा था—'महात्मन्, आप त्रैलोक्यदर्शी हैं और अपने अवधिज्ञान नेत्र से मेरे राज्य को देखने में समर्थ हैं। कृपया कहिए, मुझे अपना राज्य फिर से प्राप्त होगा या नहीं?'

मुनि ने अपने अवधिज्ञान नेत्र खोलकर कहा था—'तुम्हारी कन्या श्यामा के पति के द्वारा तुम्हें फिर से राज्य की प्राप्ति होगी।'

पिता ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की थी—'मुनिवर, श्यामा का पति कौन होगा? उसे हम कैसे जान सकेंगे?'

मुनि ने समाधान करते हुए कहा था—'जलावर्त सरोवर में मदोन्मत्त हाथी के मद का मर्दन करनेवाला तुम्हारी कन्या श्यामा का पति होगा।'

उसी समय मेरे पिता ने जलावर्त सरोवर पर दो विद्याधरों को नियुक्त कर दिया और इस तरह एक दिन आप हमें मिले।''

श्यामा मधुर स्वर में बोली, ''देव, आप मेरे मनोरथ के सारथि हैं। मुझे विश्वास

है कि मुनि के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। फिर भी मेरे दिल में चिन्ता समायी रहती है। अंगारक को भी मुनि के वचनों का पता चल गया होगा और आपकी प्राप्ति का भी। वह हम लोगों से बहुत द्वेष रखता है और हमें नष्ट करने के लिए धूमिल अग्नि की तरह सुलगता रहता है। वह महाविद्या से बली और उद्धत है और आपके पास विद्या नहीं है।''

कुछ रुककर वह बोली, ''इसीलिए मैं चाहती हूँ, आप रात-दिन किसी भी समय मुझसे अलग न हों।''

वसुदेव बोले, ''इसमें तो लाभ ही लाभ है।'' और मधुर मुस्कान व प्रगाढ़ आलिंगन से प्रिया का अभिनन्दन करते हुए सुखपूर्वक विचरण करने लगे। जब तक वसुदेव वहाँ रहे, उन्होंने अत्यन्त आदर से विद्याधरों की गन्धर्वविद्या को सीखा।

एक दिन रात के समय वसुदेव प्रिया श्यामा के साथ सोये हुए थे कि अंगारक ने स्वच्छन्दतापूर्वक आकर उनका आलिंगन तोड़ दिया और जिस तरह गरुड़ सर्प को ले उड़ता है, उसी तरह वह वसुदेव को लेकर उड़ गया।

वसुदेव ने आकाश-मार्ग से जाते हुए उस विद्याधर को चिल्लाकर कहा, ''अरे पापी, छोड़, छोड़, तू कौन है और क्यों मुझे हरे लिये जा रहा है?''

वसुदेव तत्काल ही समझ गये कि यह श्यामा का बताया हुआ शत्रु अंगारक है। पर फिर भी उन्होंने उसे नीचे गिरने की आशंका से मुट्ठियों से मारा नहीं।

श्यामा भी तभी जाग उठी और तलवार तथा ढाल हाथ में लेकर बड़े वेगपूर्वक उड़ी। उस वीरांगना ने अंगारक का रास्ता रोक लिया और ललकारते हुए कहा, ''दुराचारी, चोर अंगारक, तू ठहर। मेरे रहते तू मेरे स्वामी को नहीं ले जा सकता। तू मुझे आज बहुत दिनों के बाद दिखा है, बस, अपनी मृत्यु को पास ही समझ।''

राक्षस की तरह रूखे वचनों का आश्रय लेनेवाला अंगारक गरजा, ''अरी नीच श्यामा, संसार में स्त्री को मारना निन्दनीय समझा जाता है। इसलिए तू सामने से हट जा। पर तू शत्रु बनकर सामने खड़ी हुई है, इसलिए मैं तेरा भी घात करूँगा। इसमें जरा भी अपयश नहीं है। अगर कोई शेरनी सामने आ जाए तो क्या उसे छोड़ा जाता है?''

इतना कहकर उग्र अंगारक श्यामा को तलवार की धार और पत्थरों की चोट से मारने लगा। प्रत्येक चोट के समय तलवार और ढाल की करारी टक्कर होती थी। श्यामा ने तलवार से निकले हुए स्फुलिंगों से अंगारक के शरीर को ढक दिया। श्यामा और अंगारक के मायायुद्ध को देखकर वसुदेव ने भी अंगारक की छाती पर इतना कठोर प्रहार किया कि वह तिलमिला गया। उसने पीड़ित होकर कुमार को छोड़ दिया। इससे पहले कि वे नीचे गिरते, श्यामा द्वारा नियुक्त श्यामल छाया नाम की दासी उन्हें बीच में ही सँभालकर नगर की तरफ ले जाने लगी।

उसी समय यह आकाशवाणी हुई, ''कुमार को इसी ग्राम में लाभ होनेवाला है, इसलिए इन्हें इस समय यहीं छोड़ दो।''

आकाशवाणी सुनकर श्यामल छाया रुक गयी और उसने कुमार को अपनी पर्णलघ्वी विद्या के हाथ में सौंप दिया। इस विद्या के आश्रय से कुमार पत्ते की तरह लघु शरीर होकर धीरे-धीरे पृथिवी की तरफ आये।

भाग्य से कुमार कमलों से भरे एक सरोवर में गिरे। बाहर आकर कुमार ने देखा, तट पर श्रीवासुपूज्य भगवान का मन्दिर है। वसुदेव ने मन्दिर की प्रदक्षिणा की और दीपमालाओं से प्रकाशित उस मन्दिर में ही टिक गये।

सुबह भगवान की पूजा के लिए एक ब्राह्मण मन्दिर में आया। वसुदेव ने उससे पूछा, ''यह कौन देश है और कौन-सी नगरी है?''

ब्राह्मण को इस प्रश्न पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा, ''महामना, क्या आप आकाश से नीचे आ पड़े हैं, जो नहीं जानते कि यह अंगदेश है और यह तीन लोक में प्रसिद्ध चम्पानगरी है?''

वसुदेव ने कहा, ''ब्राह्मणदेव, आपने बिलकुल ठीक कहा। मैं सचमुच ही आकाश से नीचे आ पड़ा हूँ। रूप की लोभी दो यक्षकुमारियाँ मुझे हरकर ले गयी थीं। उनका आपस में झगड़ा होने लगा और मैं छूटकर आकाश से पृथिवी पर गिर गया।''

कुछ देर बाद वसुदेव ने ब्राह्मण का वेश धरा और अत्यन्त शोभाशाली उस चम्पानगरी में प्रवेश किया। वहाँ जिधर देखो, लोग हाथ में वीणा लिये घूम रहे थे।

कुमार ने एक नागरिक से पूछा, ''भद्र, ये लोग वीणा लिये इधर-उधर क्यों घूम रहे हैं?''

नागरिक ने उत्तर दिया, ''तुम यहाँ नये आये मालूम होते हो। चम्पानगरी में कुबेर के समान धनवान एक चारुदत्त सेठ है। उसकी गन्धर्वसेना नाम की बेटी है। वह कुमारी रूप की खान और गन्धर्वविद्या में अत्यन्त कुशल है। उसने यह प्रतिज्ञा की है कि जो उसे गन्धर्वों के संगीत में जीतेगा, वह उसी को वरेगी। इसीलिए यहाँ इतनी भीड़ है। वीणा बजाने में निपुण ये लोग लोभवश दूर देशों से आये हैं।''

उस नागरिक ने और भी बखान करते हुए कहा, ''रूप-लावण्य और सौभाग्य के समुद्र में तैरनेवाली इस कन्या ने सारे संसार को भ्रमित कर रखा है। सारे ही कुलधरों में होड़ लगी हुई है। यहाँ हर युवक कन्या का इच्छुक, यश का इच्छुक, विजय का इच्छुक है और वीणा बजाने में कुशल है। हर महीने कलाकारों की सभा जुड़ती है और हर बार गन्धर्वसेना विजयपताका का हरण कर लेती है।''

कुमार ने फिर पूछा, ''अब अगली सभा कब होगी?''

नागरिक ने बताया, ''कल ही सभा हुई थी और अब एक माह बाद फिर होगी।''

अत्यन्त चतुर कुमार ने उस नागरिक से नगर के सबसे बड़े संगीतज्ञ सुग्रीव की जानकारी ली और उसी दिशा में अपने पग बढ़ाये।

संगीतज्ञ सुग्रीव के निकट आकर कुमार ने नमस्कार किया और कहा, ''मैं गौतम गोत्री हूँ और आपका शिष्य बनना चाहता हूँ।''

सुग्रीव कुमार की आकृति और व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने उन्हें तत्काल स्वीकार कर लिया। कुमार ने श्यामा के पास गन्धर्वविद्या सीखी ही थी, जो एक-दो बातें उन्हें और जाननी थीं, वे भी उन्होंने बड़ी आसानी से हस्तगत कर लीं।

नियत दिन फिर सभा जुड़ी। वसुदेव उस सभा में आये और विशाल जनसमूह को देखने लगे। वहाँ कलाविद् भी थे और श्रोतागण भी थे। चारों तरफ हलचल और कोलाहल का वातावरण था। तभी कान्तिमयी कन्या ने सभा में प्रवेश किया। वह सुन्दर अलंकारों से सजी हुई थी और ऐसी जान पड़ती थी, मानो साक्षात् विद्युत्लता ही हो।

गन्धर्वसेना क्या थी, मूर्तिमती गन्धर्वविद्या ही थी। वीणा बजाने में निपुण अनेक विद्वान जब हार गये, तब कुमार वसुदेव ने भी आसन ग्रहण किया। वसुदेव को बजाने के लिए अनेक वीणाएँ दी गयीं, लेकिन कुमार वसुदेव ने सबको दोषयुक्त बता दिया। तब गन्धर्वसेना ने उन्हें अपनी 'सुघोषा' नाम की सत्रह तारोंवाली वीणा दी।

वीणा हाथ में लेकर प्रसन्न होते हुए कुमार ने कहा, ''यह वीणा बहुत अच्छी है, बहुत अच्छी है। कुमारी गन्धर्वसेना, कहो, तुम्हें कौन-सी गेयवस्तु पसन्द है? तुम पण्डित हो, मुझे आदेश दो, मैं इन विद्वानों के आगे तुम्हारी कोमलकान्त वीणा बजाता हूँ।''

कुमारी ने कहा, ''बलि को बाँधनेवाले मुनि विष्णुकुमार के तीन डगों का करतब देखकर हा हा, तुम्बुरु और नारद ने तब जो गीत गाया था, अगर आप वाद्यविद्या के जानकार हैं, तो वही वस्तु आज बजाइए।''

कुमारी ने फिर कहा, ''आप तो जानते ही हैं, पुराण से सम्बन्ध रखनेवाली गेय वस्तु ही प्रशंसनीय होती है।''

गन्धर्वसेना का आदेश पाकर वसुदेव ने संगीत विद्या का विशद वर्णन किया और उसी गेय वस्तु को वीणा बजाकर गाया, जिसे मुनि विष्णुकुमार की प्रशस्ति में हा हा, तुम्बुरु और नारद ने गाया था। गन्धर्वसेना आश्चर्यचकित हो गयी।

साधुवाद करते हुए लोग हर्षित हो कहने लगे, "क्या यह तुम्बुरु है? क्या यह किन्नर है? क्या यह नारद है? ऐसी वीणा और कौन बजा सकता है?"

विजयपताका वसुदेव को मिली। गन्धर्वसेना स्वाभाविक अनुराग से भर उठी। उसने वसुदेव के गले में माला डालकर उनका वरण किया। कन्या के पिता चारुदत्त ने भी सन्तुष्ट होकर विधिपूर्वक दोनों का विवाह कर दिया।

तदनन्तर विशाल लक्ष्मी के धारक राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से पूछा, "हे विभो! विष्णुकुमार मुनि ने बलि को क्यों बाँधा था?"

इसके उत्तर में गौतम गणधर ने कहा, "हे श्रेणिक! तू सम्यग्दर्शन को शुद्ध करनेवाली विष्णुकुमार मुनि की मनोहारिणी कथा सुन, मैं कहता हूँ।

कभी उज्जयिनी में श्रीधर्मा नाम का राजा रहता था। उसकी पटरानी का नाम था श्रीमती, जो सचमुच ही श्रीसम्पन्न और गुणवती थी। राजा श्रीधर्मा के बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद—ये चार मन्त्री थे।

एक बार महामुनि अकम्पन अन्य सात सौ मुनियों के साथ उज्जयिनी के बाहरी उपवन में आकर ठहरे। श्रुत के पारगामी महामुनि की वन्दना के लिए नगरवासी लोग समुद्र की तरह उमड़ पड़े।

राजा महल की छत पर खड़े हुए थे। उन्होंने मन्त्री से पूछा, "ये लोग असमय में किस यात्रा पर जा रहे हैं?"

बलि बोला, "महाराज, ये लोग अज्ञानी दिगम्बर मुनियों की वन्दना के लिए जा रहे हैं।"

राजा श्रीधर्मा ने भी वहाँ जाने की इच्छा प्रकट की और मन्त्रियों के लाख मना करने पर भी मुनियों के दर्शन को चल पड़ा। विवश होकर मन्त्री भी राजा के साथ गये और वहाँ मुनियों को देखकर कुछ विवाद करने लगे।

उस समय महामुनि अकम्पन की आज्ञा से सारा मुनि-समुदाय मौन लेकर बैठा था, इसलिए ये चारों मन्त्री मन मारकर लौट आये।

वापस आते समय उसी संघ के एक मुनि को सामने देखकर इन्होंने राजा के सामने ही उससे विवाद छेड़ दिया। मन्त्री मिथ्यामार्गी तो थे ही इसलिए श्रुतसागर नाम के उस मुनि ने इन्हें बात ही बात में पराजित कर दिया।

उसी रात जब श्रुतसागर मुनि प्रतिमा योग से विराजमान थे, चारों मन्त्री उनकी हत्या करने के लिए गये, लेकिन रक्षा में सन्नद्ध यक्ष ने उन्हें कीलित कर दिया।

राजा को जब मन्त्रियों के दुष्कृत्य का पता चला तो उसने इन चारों को देश निकाला दे दिया।

ये चारों मन्त्री हस्तिनापुर पहुँचे। उस समय वहाँ महापद्म चक्रवर्ती का पुत्र पद्म नया-नया राजा बना था और महापद्म ने अपने छोटे पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा ले ली थी। अच्छा अवसर देखकर बलि आदि ये चारों मन्त्री नये राजा पद्म की सेवा करने लगे।

एक बार राजा पद्म बलि की सहायता से शत्रु सिंहबल को पकड़ने में सफल हो गया। प्रसन्न होकर उसने बलि से कहा, ''वर माँगो।''

बलि बड़ा चतुर था। उसने वर को राजा पद्म के हाथ में धरोहर रख दिया और कहा, ''जब आवश्यकता होगी, माँग लूँगा।''

कुछ दिनों बाद महामुनि अकम्पन, अनेक मुनियों के साथ हस्तिनापुर भी आये और चातुर्मास के लिए नगर के बाहर ठहर गये। ये सब मन्त्री शंकित और भयभीत होकर उन्हें दूर करने का उपाय सोचने लगे।

बलि ने राजा पद्म के पास आकर कहा, ''राजन्, आपने जो वर मुझे दिया था, उसके फलस्वरूप सात दिन का राज्य मुझे दिया जाए।''

''सँभाल, तुझे सात दिन का राज्य दिया।'' यह कहकर राजा पद्म अदृश्य की तरह रहने लगा।

राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होकर बलि उन मुनियों पर उपद्रव करवाने लगा। कभी वह उनके चारों तरफ पत्तों का धुआँ करवाता तो कभी जूठन और कुल्हड़ फिंकवाता।

अकम्पन आदि सब मुनियों ने कहा, ''उपसर्ग दूर होगा तो आहार-विहार करेंगे, अन्यथा नहीं। और कष्ट सहते हुए कायोत्सर्गपूर्वक खड़े हो गये।''

राजा पद्म के छोटे भाई मुनि विष्णुकुमार तब तक अनेक ऋद्धियों के स्वामी हो गये थे। उनके अवधिज्ञानी गुरु उस समय मिथिला में थे। अपने अवधिज्ञान से इन मुनियों की दशा विचार कर वे दयार्द्र हो बोले, ''बड़े दुख की बात है कि आज अकम्पन आदि सौ मुनियों पर इतना दारुण उपसर्ग हो रहा है।''

निकट बैठे पुष्पदन्त क्षुल्लक ने पूछा, ''गुरुदेव, यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है?''

''हस्तिनापुर में।'' गुरु बोले।

क्षुल्लक ने फिर पूछा, ''प्रभु, यह उपसर्ग कौन दूर कर सकता है्?''

''जिसे विक्रिया ऋद्धि की सामर्थ्य प्राप्त है और जो इन्द्र को भी अँगूठा दिखाने में समर्थ है, वह मुनि विष्णुकुमार।''

गुरु के वचन सुनकर पुष्पदन्त उसी समय मुनि विष्णुकुमार के पास गया और सब समाचार कह सुनाया।

मुनि विष्णुकुमार ने अपनी विक्रिया ऋद्धि की परीक्षा की और जाँचने के लिए

सामने खड़े पर्वत के आगे अपनी भुजा फैलायी तो वह भुजा उस पर्वत को भेदकर बिना किसी रुकावट के इस तरह बढ़ती गयी, मानो पानी में बढ़ी जा रही हो।

अपनी सामर्थ्य का निश्चय होने पर मुनि विष्णुकुमार तुरन्त राजा पद्म के पास गये और विनयावनत राजा से बोले, ''राजन्, राज्य पाते ही तुमने यह कैसा काम आरम्भ कर दिया? ऐसा काम तो रघुवंशियों में कभी हुआ ही नहीं। अगर कोई दुष्ट मनुष्य तपस्वियों पर उपसर्ग करता है तो राजा को उसे दूर करना चाहिए और कहाँ राजा से ही यह उपसर्ग हो रहा है।

''राजन्, कैसी से कैसी भीषण आग जल से शान्त हो जाती है, पर अगर जल से ही आग उठने लगे तो और कौन-सी वस्तु उसे शान्त करेगी?

''अगर राजा दुष्टों का दमन करने में समर्थ नहीं है तो उसे ठूँठ ही समझना चाहिए। इसलिए पद्मराज, तुम पशुतुल्य बलि के इस कार्य का जल्दी ही निवारण करो। शान्तिप्रिय साधु को सन्ताप पहुँचाना शान्तिप्रद नहीं होता। ज्यादा तपाया हुआ पानी भी विकृत होकर जला देता है।

''अकम्पन आदि ये सारे साधु धीर-वीर हैं। इनकी सामर्थ्य छिपी हुई है और इन्होंने अपने शरीर को अच्छी तरह वश में कर लिया है। इससे पहले कि तुम्हारे ऊपर कोई बड़ा संकट आए, तुम बलि के इस कुकर्म का निवारण करो। तुम राजा हो, तुम्हारी उपेक्षा ठीक नहीं।''

राजा पद्म ने नम्र होकर मुनि विष्णुकुमार से कहा, ''भगवन्, मैंने बलि को सात दिन के लिए राज्य दे रखा है, इसलिए मैं विवश हूँ। आप समर्थ हैं, आप स्वयं नियन्त्रित करें। आपकी कुशलता से बलि आपकी बात निश्चित ही सुनेगा।''

राजा के इस तरह कहने पर मुनि विष्णुकुमार बलि के पास गये और बोले, ''भले आदमी, सात दिन का अधिकार पाकर यह अधम कार्य क्यों कर रहा है? अरे, उन तपस्वी मुनियों ने तेरा क्या अनिष्ट कर दिया कि तू ऊँचा होकर भी नीच की तरह उन पर उपद्रव ढा रहा है? जो मुनि कभी किसी का अनिष्ट नहीं करते, उन पर इस तरह विपदा ढाना तुझे शोभा देता है? अगर शान्ति चाहता है तो तुरन्त इस प्रमादजन्य उपसर्ग का नियमन कर।''

बलि बोला, ''अगर ये मेरे राज्य से चले जाते हैं, तभी उपसर्ग दूर होगा, वरना ज्यों का त्यों बना रहेगा।''

विष्णुकुमार ने फिर कहा, ''ये सब तो आत्मध्यान में लीन हैं, इसलिए यहाँ से एक कदम भी नहीं जा सकते। ये अपने शरीर को छोड़ देंगे पर व्यवस्था का उल्लंघन नहीं करेंगे।''

फिर वे कुछ सोचकर बोले, ''अच्छा, तू ऐसा कर, मुझे उन मुनियों के ठहरने के लिए तीन डग भूमि देना स्वीकार कर। मैंने कभी किसी से याचना नहीं की।

इन मुनियों के लिए तुझसे तीन डग भूमि की याचना करता हूँ?"

बलि ने मुनि विष्णुकुमार की बात मान ली और कहा, "अगर उस तीन डग भूमि के बाहर इन्होंने कदम रखा तो ये दण्डनीय होंगे, फिर मुझे दोष मत देना।"

बलि की स्वीकृति पाते ही विष्णुकुमार उठे और दुष्ट बलि के प्रति कड़कती आवाज में बोले, "पापी, देख, मैं तीन डग भूमि नापता हूँ।"

विष्णुकुमार ने अपने शरीर को इतना बड़ा बना लिया कि वह ज्योतिष्पटल को छूने लगा। उन्होंने एक चरण मेरु पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर और तीसरा अवकाश न मिलने के कारण आकाश में ही घूमता रहा।

उस समय विष्णु मुनि के प्रभाव से तीनों लोकों में हलचल मच गयी। अनेक देव 'क्या है, क्या है?' का कोलाहल करने लगे। कुछ देवों ने मुनियों का उपसर्ग दूर कर बलि को बाँध लिया और उसे देश से बाहर निकाल दिया।

मुनि विष्णुकुमार की स्तुति में नारद, तुम्बुरु, हा हा आदि गायकों ने वीणा पर सुमधुर गीत गाये। घोषा, महाघोषा, सुघोषा—इन तीन वीणाओं को किन्नर देवों ने विद्याधरों को दिया।

कुमार वसुदेव ने गन्धर्वसेना की सुघोष वीणा पर वही गेयवस्तु गाकर गन्धर्वसेना को प्राप्त किया था।"

गन्धर्वसेना विद्याधर कुल में जनमी होने पर भी चारुदत्त को पुत्री के रूप में कैसे प्राप्त हुई और चारुदत्त के पास राजाओं की विभूतियों को भी तिरस्कृत करनेवाला यह अपार वैभव कहाँ से आया—ये दोनों बातें कुमार वसुदेव के मन में उत्सुकता जगा रही थीं। एक दिन उन्होंने चारुदत्त से पूछ ही लिया, "पूज्य, आपके भाग्य और पुरुषार्थ को प्रकट करनेवाली ये सम्पदाएँ आपको कैसे प्राप्त हुईं और विद्याधरी गन्धर्वसेना का निवास आपके भवन में क्योंकर हुआ, कृपया मुझे बतलाएँ।"

वसुदेव के इस स्वाभाविक प्रश्न से चारुदत्त बहुत प्रसन्न हुआ और प्रेमपूर्वक बोला, "प्रिय वसुदेव, तुम सचमुच ही सुपात्र हो। आज मैं तुमसे अपनी सारी कथा कहता हूँ :

इसी चम्पानगरी में अत्यन्त धनाढ्य भानुदत्त सेठ रहता था। वह और उसकी पत्नी सुभद्रा सम्यग्दर्शन की विशुद्धता के साथ अनेक अणुव्रतों का पालन करते थे। किसी चारण ऋद्धिधारी मुनि के आशीर्वाद से उनके घर में मेरा जन्म हुआ।

जब मैं बड़ा हुआ तो मेरे अनेक मित्र बने। उनमें वराह, गोमुख, हरिसिंह, तमोन्तक और मरुमूर्ति मुझे अत्यन्त प्रिय थे। एक बार उन मित्रों के साथ मनबहलाव करता हुआ मैं रत्नमालिनी नदी के किनारे पहुँचा। वहाँ से कुछ दूर आगे एक सघन

वन था, जहाँ एक वृक्ष पर लोहे की कीलों से कीलित एक विद्याधर दिखाई दिया। उस विद्याधर के सामने एक तलवार और ढाल पड़ी थी और उसकी फूली हुई लाल-लाल आँखें बराबर उन्हीं को देखकर चंचल हो रही थीं। मैंने उसके संकेत को समझा और डाल के नीचे छिपी हुई तीन दिव्य औषधियाँ उठा लीं। चालन औषधि से मैंने उस विद्याधर को चलाया, उत्कीलन औषधि से उसे कीलरहित किया और उन्मीलन-व्रणरोह औषधि से उसके घावों को भरा। स्वस्थ, मुक्त होते ही वह विद्याधर आकाश में उड़ा और जिस तरफ से रोने का शब्द आ रहा था, उसी दिशा में बड़ी तेजी से दौड़ा। कोई शत्रु उसकी विद्याधरी प्रिया को हरे लिये जा रहा था। उससे उसने उसे छुड़ाया और साथ लेकर उसी स्थान पर वापस आया।

मेरे पास आकर बड़े आदर से उसने कहा—'आज मुझ मरते हुए को आपने बचाया है, आप मुझे आज्ञा दें, मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ?'

इसके बाद उस विद्याधर ने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं विद्याधर राजा महेन्द्रविक्रम का पुत्र अमितगति हूँ। यह मेरी स्त्री सुकुमारिका है। एक अन्य विद्याधर धूमसिंह का सुकुमारिका के प्रति आग्रह देखकर मैं हमेशा सावधान होकर इसके साथ घूमता था, लेकिन आज क्षणभर का प्रमाद हुआ और धूमसिंह मुझे कीलित कर इसे हर ले गया। आपके कारण मुझे प्राण और प्राणप्रिया मिली है। मैं आयु में ज्येष्ठ हूँ, फिर भी आपकी सेवा करना चाहता हूँ, आप मुझे आज्ञा दें।'

उस मिठभाषी विद्याधर से मैंने कहा—'मेरे प्रति आपका शुभभाव ही मेरी कार्यसिद्धि है। अगर आप मेरा उपकार करना ही चाहते हैं तो इतना करें कि मुझे सदा अपना पुत्र समझें।' मेरे इस तरह कहने पर उसने मेरा नाम और गोत्र पूछा और स्त्रीसहित आकाश में उड़ गया।''

चारुदत्त अपनी कथा जारी रखते हुए वसुदेव से बोले, ''कुछ दिनों बाद माता-पिता ने मेरा विवाह मित्रवती नाम की सुशील कन्या से कर दिया। मुझे शास्त्रों में रुचि थी, इसलिए मैं अपनी स्त्री पर बहुत ध्यान नहीं देता था। मेरी निरासक्त स्थिति देखकर मेरी माता ने मेरे चाचा रुद्रदत्त को मेरे पीछे लगा दिया, जो बहुत व्यसनी और कामविद्या के समस्त व्यवहार को जाननेवाला था।

एक बार रुद्रदत्त मुझे साहित्यकारों से भरे हुए नृत्यमण्डप में ले गया, वहाँ नगर-वेश्या वसन्तसेना का नृत्य होनेवाला था। वसन्तसेना क्या थी, साक्षात् वसन्त की लक्ष्मी थी। उसने उस सभा में सूची नृत्य किया। नृत्य आरम्भ करने के लिए उसने सुइयों की नोकों पर अंजलिभर चमेली की कलियाँ बिखेर दीं और जब गीत के प्रभाव से कलियाँ खिल गयीं तो वह संकेत की प्रतीक्षा करने लगी।

शास्त्रज्ञान होने के कारण मैं जानता था कि फूलों के खिलने के बाद मालाकार राग होता है, मैंने वसन्तसेना को मालाकार राग का संकेत कर दिया। इसके बाद

उसने अंगुष्ठ नृत्य किया तो मैंने नापित राग का संकेत कर दिया। अब वसन्तसेना ने गौ और मक्षिका की कुक्षि का अभिनय किया, जिससे सारे सभासद उसकी प्रशंसा करने लगे। तभी मैंने गोपाल राग का संकेत कर दिया। इस तरह अनेक रस और भावों को प्रकट करनेवाली वसन्तसेना ललितकलाओं में मेरे ज्ञान को देखकर मेरे प्रति आकर्षित हो गयी।

घर जाकर उसने अपनी माँ कलिंगसेना से कहा—'माँ, इस जन्म में मैं चारुदत्त की ही हूँ, तू मुझे जल्दी ही चारुदत्त से मिलाने की व्यवस्था कर।'

वेश्या कलिंगसेना चतुर तो थी ही, उसने रुद्रदत्त को यह काम सौंप दिया।

एक बार मैं कहीं जा रहा था कि रुद्रदत्त ने रास्ते में दो हाथियों को लड़ा दिया और सुरक्षा के बहाने से वह मुझे वसन्तसेना के घर में ले गया। वहाँ कलिंगसेना ने पहले ही स्वागत की सारी तैयारियाँ कर रखी थीं। वसन्तसेना ने भी मेरा बहुत आदर किया और मुझे सम्मोहन योग से सुवासित शीतल जल पिलाकर पूरी तरह अपने वशीभूत कर लिया। वसन्तसेना में मेरा अनुराग देखकर उसकी माँ ने भी उसका हाथ मेरे हाथ में दे दिया। मैं उसमें इतना आसक्त हुआ कि बारह वर्ष तक मुझे अपने माता-पिता और स्त्री की याद भी नहीं आयी।

मेरे पिता भानुदत्त सोलह करोड़ दीनार के धनी थे। जब यह सारा धन धीरे-धीरे कलिंगसेना के घर आ गया तो उसने एकान्त में पुत्री वसन्तसेना से कहा—'बेटी, तू तो जानती ही है कि धनवान मनुष्य ही हमारा प्रिय होता है। धन निचोड़ लेने के बाद वह मनुष्य हमारे लिए गन्ने के छिलके की तरह त्याज्य होता है। आज घर में धन न होने के कारण चारुदत्त की स्त्री ने अपने शरीर का गहना उतारकर भेजा था। वह तो मैंने दयावश वापस कर दिया है, लेकिन अब तू चेत, सारहीन चारुदत्त को छोड़ और किसी दूसरे सारवान पुरुष का साथ कर।'

माँ की बात ने वसन्तसेना के कान में तो जैसे कील ही ठोक दिया। उसने कलिंगसेना से कहा—'माँ, तूने ये कैसे वचन कहे? चारुदत्त को छोड़कर मुझे कुबेर से भी क्या लेना है? और क्या कहूँ, अगर मेरे प्राण भी मुझे चारुदत्त से अलग करते हैं तो मुझे इनसे भी क्या लेना? अगर तुझे मेरा जीवन प्रिय है तो आगे से ऐसी बात मत कहना।'

'चारुदत्त की करोड़ों दीनारों से तेरा घर भर गया, फिर भी तूने ऐसी बात कही, सचमुच ही स्त्रियाँ बड़ी अकृतज्ञ होती हैं।'

'माँ, चारुदत्त कलाओं का पारगामी है, अत्यन्त रूपवान है, धर्म का ज्ञाता और उदारचेता है, उसका त्याग मैं कैसे कर सकती हूँ?'

उस समय तो कलिंगसेना बेटी की हाँ में हाँ मिलाती रही, लेकिन वह हमें अलग करने का उपाय सोचने लगी। हम दोनों हर क्षण साथ रहते थे, इसलिए उसे

कोई अवसर नहीं मिलता था। तब एक रात किसी तन्त्र के प्रयोग से उसने हमें गहरी नींद सुला दिया और उसी अवस्था में मुझे आधी रात घर से बाहर कर दिया।

आँख खुलने पर मैं बहुत दुखी हुआ और अपने पिता के घर पहुँचा। वे मुनिदीक्षा ले चुके थे और माँ तथा पत्नी की हालत बहुत खराब थी। मुझे देखकर वे बिलख-बिलखकर रोने लगीं। मेरी आँखों से भी आँसू बहने लगे। मैंने उन्हें ढाढ़स बँधाया और स्त्री के आभूषण लेकर उशीरावर्त देश गया।

मैं कई देश-नगरों में घूमता हुआ अपना भाग्य आजमाता रहा, लेकिन हर बार नुकसान ही मेरे हाथ आया। एक बार आठ करोड़ दीनारों का स्वामी होकर मैं जहाज से लौट रहा था कि रास्ते में ही मेरा जहाज डूब गया और मैं किसी तरह एक डोंगी के सहारे किनारे पर पहुँचा। वह राजपुर नगर था।

इसी नगर में मेरी भेंट एक संन्यासी से हुई। शान्तवेषधारी उस संन्यासी ने मुझे शरण दी और विश्राम के बाद मीठे वचन बोलकर वह मुझे रस के लोभ से एक घने जंगल में ले गया। उस संन्यासी ने मुझे एक तूमड़ी दी और रस्सी के सहारे एक भयानक कुएँ में उतार दिया। मैं भोलाभाला था, रस की तृष्णा से उस साधु से छला गया।

जब मैं तूमड़ी में रस भरने लगा तो किसी आवाज ने मुझे टोक दिया। मुझे सावधान करनेवाला मनुष्य एक अस्थिपंजर मात्र था। वह बोला—'भद्र, अगर तू जीवित रहना चाहता है तो इस भयंकर रस का स्पर्श मत कर। अगर किसी तरह इसका स्पर्श हो जाता है तो यह क्षय रोग की तरह जीवित नहीं छोड़ता।'

चकित हो मैंने पूछा, 'महाशय, आप कौन हैं? और किसने आपको यहाँ डाल रखा है?'

वह बोला—'मैं उज्जयिनी का एक व्यापारी हूँ। मेरा जहाज फट गया था, तभी एक अपात्र साधु से मेरा परिचय हुआ और उसने मुझे रस का लोभ देकर इस कुएँ में उतार दिया। इसके उपभोग से मैं अस्थिपंजर मात्र रह गया हूँ। मैं तो अब मरकर ही यहाँ से निकलूँगा, पर तुम किसी तरह जीवित रहो।'

फिर उसने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो और यहाँ कैसे आये?'

मैंने अपना परिचय दिया और बताया कि उसी दुष्ट साधु ने मुझे भी यहाँ गिराया है।'

अन्त में मैंने तूमड़ी में रस भरा। संन्यासी ने उस तूमड़ीवाली रस्सी को तो खींच लिया और जिस रस्सी के सहारे मुझे ऊपर चढ़ना था, उसे काट दिया। इस तरह वह दुष्ट अपना मनोरथ सिद्ध कर चलता बना।

जब मैं किनारे पर जा पड़ा तो उस सहृदय मनुष्य ने कहा—'चारुदत्त, रस पीने के लिए यहाँ एक गोह आएगी, तुम सरककर जल्दी से उसकी पूँछ पकड़ लेना।

इस तरह निश्चय ही तुम बाहर निकल जाओगे।'

उस मनुष्य का अन्तिम काल समीप था, मैंने उसे सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया और पंच नमस्कार मन्त्र भी सुनाया।

दूसरे दिन जब गोह रस पीकर जाने लगी तो मैंने दोनों हाथों से उसकी पूँछ पकड़ ली और वह मुझे बाहर खींच लायी। किनारों की रगड़ से मेरा शरीर लहूलुहान हो गया था, इसलिए बाहर आकर मैं मूर्च्छित हो गया। होश में आने पर मुझे ऐसा लगा कि मेरा पुनर्जन्म ही हुआ है।

धीरे-धीरे उठकर मैं आगे चला और अनेक स्थानों पर टक्कर खाता हुआ एक ऐसी पहाड़ी भूमि में पहुँचा जो स्वर्ग की तरह सुन्दर थी। मैंने वहाँ पर्वत के शिखर पर जिन मन्दिर देखा जो उड़ती हुई पताकाओं के कारण नाचता हुआ-सा लग रहा था।

जिन-मन्दिर के सामने आतापन योग से विराजमान एक चारण ऋद्धिधारी मुनि को देखकर मुझे ऐसा सुख मिला कि मैं अपने सारे दुख-दर्द भूल गया।

जब मुनिराज का नियम समाप्त हुआ तो वे मुझे मेरे नाम से सम्बोधित कर बोले—'चारुदत्त, कुशल तो हो? यहाँ तुम्हारा आना स्वप्न की तरह लग रहा है। मैं तुम्हें एक साधारण मनुष्य की तरह देख रहा हूँ। तुम्हारा कोई सहायक भी दिखाई नहीं दे रहा।'

कुछ आश्चर्यचकित होकर नमस्कारपूर्वक मैंने उनसे कहा—'पूज्य, आपके प्रसाद से सब कुशल है। लेकिन आपको मेरा नाम कैसे मालूम हुआ? मैं तो आज पहली बार आपका दर्शन कर रहा हूँ।'

वे कुछ मुस्कराकर बोले—'मैं वही अमितगति नाम का विद्याधर हूँ, जिसे तुमने कीलमुक्त किया था। उस घटना ने मेरे हृदय में सम्यग्दर्शन भर दिया था। जब मुझे राजा बनाकर मेरे पिता ने दीक्षा ले ली, तो कुछ बरसों बाद मैंने भी अपने बड़े पुत्र सिंहयश को राजा और छोटे पुत्र वाराहग्रीव को युवराज पद देकर दीक्षा ले ली। सुकुमारिका के अलावा विजयसेना की मेरी दूसरी स्त्री से एक पुत्री भी हुई। गन्धर्वसेना उसका नाम है।

'लेकिन तुम यहाँ कैसे आये?'

तब मैंने अपनी सारी कथा उन पितातुल्य मुनिराज से कह सुनायी, तभी उनके दोनों पुत्र आकाशमार्ग से उतरे और उन्हें नमस्कार किया। मुनिराज ने अपने दोनों पुत्रों को सम्बोधित कर कहा—'कुमारो, जिसके बारे में मैंने तुम्हें पहले बताया था, यह वही तुम्हारा भाई चारुदत्त है।'

दोनों भाइयों ने मेरा आलिंगन किया और मेरे पास ही बैठ गये। तभी एक देव

विमान से उतरा। उसने पहले मुझे नमस्कार कर फिर मुनिराज को नमस्कार किया और मेरे आगे बैठ गया।

विद्याधर कुमारों ने पूछा—'देव, तुमने मुनिराज को छोड़कर पहले चारुदत्त को नमस्कार क्यों किया?'

देव बोला—'चारुदत्त ने मुझे जिन धर्म का उपदेश दिया है, इसलिए वह मेरा साक्षात् गुरु है।'

इतना कहकर उसने कुएँवाली घटना कह सुनायी। इस देव का जीव वही मनुष्य था, जिसे दुष्ट संन्यासी ने कुएँ में डाल दिया था और जिसके अन्तिम समय में मैंने सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया था।

उसने कहा—'चारुदत्त के बताये धर्म को ग्रहण करने के बाद मैं मरा और अब सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ हूँ। इसलिए चारुदत्त मेरा साक्षात् गुरु है?'

इसके बाद उस देव ने सबके सामने अपनी बड़ी भारी ऋद्धि दिखलाकर अनेक वस्त्राभूषणों, माला-विलेपनों से मेरा सत्कार किया और कहा—'स्वामी, जो भी कार्य हो, आज्ञा दीजिए। क्या आज ही आप विशाल धन-सम्पदा के साथ चम्पानगरी जाना चाहेंगे?'

मैंने कहा—'इस समय आप स्वस्थान में जाएँ, जब मैं आपका स्मरण करूँ तो आने की कृपा करें।'

'जो आरा, कहकर, वह देव सबको नमस्कार कर चला गया। मैंने भी मुनिराज को नमस्कार किया और विद्याधर कुमारों के साथ विमान में बैठकर उनके शिवमन्दिर नगर गया। उस स्वर्ग जैसे नगर में मैं सुखपूर्वक रहने लगा। अनेक विद्याधर मेरी सेवा करते थे और हर जगह मेरा यश ही सुनाई पड़ता था।

एक बार सिंहयश और वाराहग्रीव अपनी माता के साथ मेरे पास आये और कुमारी गन्धर्वसेना के बारे में मुझसे सलाह करने लगे। उन्होंने कहा—'चारुदत्त, सुनो, जब हमारे पिता अमितगति राज्यपद पर आसीन थे तो उन्होंने एक अवधि-ज्ञानी मुनि से पूछा था—'हमारी पुत्री गन्धर्वसेना का स्वामी कौन होगा?'

'मुनि ने कहा—'चारुदत्त के घर गान्धर्वविद्या का पण्डित यदुवंशी राजा आएगा। इस कन्या को गन्धर्वविद्या में जीतकर इसका पाणिग्रहण करेगा।'

इसके बाद उन दोनों कुमारों ने कहा—'यह सच है कि हमारे पिता मुनि हो गये हैं, लेकिन तब उन्होंने इस कन्या का सम्पूर्ण भार आपको ही सौंपने का निश्चय किया था, इसलिए हमारे लिए भी आप ही प्रमाण हैं।'

मैंने इन भाइयों के कार्य को स्वीकार कर लिया और धाय तथा अन्य सखियों के साथ यह कन्या मुझे सौंप दी गयी।

कन्या के दोनों भाइयों ने अनेक रत्न-सुवर्ण आदि देकर हमें चम्पानगरी पहुँचाया और स्मरण के बाद उपस्थित हुए उस देव ने भी अद्भुत सम्पदाओं का ढेर लगा दिया। चम्पानगरी में आकर इन्होंने मेरी सारी व्यवस्था की और अपने स्थानों को लौट गये। मैं माता, पत्नी तथा अन्य बन्धुजनों से मिलकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ।

मैंने सुना, वसन्तसेना इस बीच अपनी माँ के घर से आकर सास की सेवा करती रही है और अणुव्रतों से विभूषित हो गयी है तो मुझे उसके प्रति बड़ा आदर हुआ और मैंने उसे स्वीकार कर लिया।

अन्त में चारुदत्त ने कहा, ''यदुकुमार, यही वह कथा है जो तुम जानना चाहते थे, गन्धर्वसेना तुम्हारी ही थी, तुम्हीं को प्राप्त हो गयी।

मेरा भी मोक्ष निकट है, अब मैं निश्चिन्त होकर तप के लिए ही यत्न करूँगा।''

चारुदत्त की कथा सुनकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उसकी अनेक तरह से स्तुति करने लगे। वसुदेव ने अपना भी सारा वृत्तान्त कह सुनाया और इस तरह परस्पर और भी गहरे प्रीतिभाव को धारण कर रहने लगे।

कुमार वसुदेव चम्पापुरी में गन्धर्वसेना के साथ सुखपूर्वक रह रहे थे कि तभी फागुन माह के आठ दिनों का महोत्सव आ पहुँचा। नन्दीश्वर द्वीप और सुमेरु पर्वत पर देव-विद्याधरों की भीड़ जमा होने लगी। चम्पानगरी के बाहर भगवान वासुपूज्य का पाँच कल्याणकों से पूज्य प्रकाशमान मन्दिर होने के कारण वहाँ भी देव विद्याधरों का आना हुआ। श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उत्सव करने के लिए सभी दिशाओं से विद्याधर राजा सपरिवार पधारे। चम्पानगरी के लोग भी राजा के साथ श्री वासुपूज्य स्वामी की पूजा के लिए नगर के बाहर गये। वसुदेव भी गन्धर्वसेना के साथ रथ पर आरूढ़ होकर श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के लिए सभी सामग्री के साथ नगर से बाहर चले।

जिन-मन्दिर के सामने आने पर कुमार वसुदेव ने देखा कि मातंगकन्या के वेश में सजी एक कन्या वहाँ नृत्य कर रही है। वह नीलकमल के पत्ते की तरह श्याम थी। वह यौवन से भरपूर थी और उसने बिजली की तरह चमकते हुए आभूषण पहन रखे थे। उसके होठ बन्धूक के फूल की तरह लाल थे। हाथ-पैर खिले हुए कमल के समान और आँखें पुण्डरीक की तरह थीं—ऐसा लगता था मानो मूर्तिमती शरद्-लक्ष्मी ही अपनी द्युति बिखेर रही हो। वह रूपवती कन्या जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से प्रेरित होकर नृत्य कर रही थी। साक्षात् प्रकट हुई श्री, धृति, बुद्धि, लक्ष्मी एवं सरस्वती की तरह। गन्धर्वसेना के साथ रथ पर बैठे हुए कुमार वसुदेव ने अपने अंग-प्रत्यंग से रस और भाव को प्रकट कर रही इस नर्तकी को देखा। प्रथम दर्शन

में ही दोनों एक-दूसरे के प्रेमपाश में बँध गये। गन्धर्वसेना से कुमार का भाव छिपा न रहा। उसने ईर्ष्या से अपनी आँखें सिकोड़ लीं और सारथी से कहा, ''तुम शीघ्र ही यहाँ से चलो, क्योंकि शक्कर भी अधिक खाने से रस नहीं देती।''

स्वामिनी की आज्ञा मिलने पर सारथी ने रथ को वेग से हाँका और जल्दी ही सब जिन-मन्दिर में पहुँच गये। वसुदेव और गन्धर्वसेना ने मन्दिर की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और दूध, गन्ने का रस, घी, दही तथा जलधाराओं से जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा का अभिषेक किया। उसके बाद हरिचन्दन की गन्ध, सुगन्धित अखण्ड चावल, अनेक प्रकार के पुष्प, कालागुरु, चन्दन की धूप, प्रज्वलित शिखाओंवाले दीपक और पवित्र नैवेद्य से जिन-प्रतिमा की पूजा की।

पूजा-स्तवन करते कुमार वसुदेव और गन्धर्वसेना का शरीर रोमांचित हो उठा। उन्होंने पृथिवी पर माथा रखकर प्रणाम किया और कहा, ''अरहन्तों को नमस्कार हो, समस्त सिद्धों को नमस्कार हो, पृथिवी पर जितने भी आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, सबको नमस्कार हो।''

अन्त में फिर उन्होंने मन्दिर की प्रदक्षिणा की और रथ में बैठकर चम्पानगरी लौट आये।

नर्तकी को देखकर कुमार की आँखों में जो रागजनित विकार आया था, वह गन्धर्वसेना ने देख लिया था, इसलिए वह उनसे मान करने लगी थी। लेकिन कुमार ने हाथ जोड़कर उसे मना लिया।

एक दिन कुमार वसुदेव एकान्त स्थान में बैठे हुए थे कि एक वृद्धा विद्याधरी उनके पास आयी। उसने त्रिपुण्डाकार तिलक लगाया हुआ था और वह मूर्तिमती वार्धक्य विद्या के समान जान पड़ती थी। उसे उस नर्तकी कन्या ने भेजा था। आते ही उसने कुमारो को आशीर्वाद दिया और सामने के आसन पर बैठकर कुमार से बोली, ''हे वीर, आपके हृदय में पुराणों का ज्ञान प्रकाशित है, फिर भी मैं विद्याधरों से सम्बन्धित एक बात आपसे कहती हूँ। जिस समय युग के आदिमपुरुष ऋषभदेव भरतेश्वर को राज्य देकर दीक्षित हुए थे, उस समय चार हज़ार क्षत्रिय राजाओं ने भी तप-दीक्षा ली थी। बाद में वे तपभ्रष्ट हो गये। उन राजाओं में नमि और विनमि दो भाई भी थे। उन्हें राज्य की इच्छा थी, इसलिए वे भगवान के चरणों में ही बैठे रहे। जिनभक्त धरणेन्द्र ने अपने देवविशेषों और देवियों से इन दोनों को विद्याओं का भण्डार दिलाया। ये सभी विद्याएँ परम कल्याणरूप थीं, मन्त्रों से परिष्कृत थीं और सभी लोगों के लिए हितकारिणी थीं। धरणेन्द्र ने इन विद्याओं के साथ नमि और विनमि को दिव्य औषधियाँ भी दीं।

''धरणेन्द्र के द्वारा दिये गये विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में नमि रहता था और उत्तर श्रेणी में विनमि। ये अनेक देशवासियों, मित्रों और बन्धुजनों के साथ दोनों

श्रेणियों में सुख से रहते थे। इन दोनों ने अनेक विद्याधरों को अपनी विद्याएँ दीं, जिससे वे उन्हीं विद्याओं के नाम से प्रसिद्ध हो गये। गौरी विद्यावाले गैरिक कहलाने लगे, मनु विद्यावाले मनु; गान्धारीवाले गान्धार और मानवीवाले मानव कहलाने लगे।

"आगे चलकर इन दोनों राजाओं ने पुत्रों को अपना राज्य सौंपा और जिनदीक्षा ले ली। राजा विनमि के पुत्र मातंग के अनेक पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र हुए। सभी अपनी-अपनी साधना के अनुसार स्वर्ग तथा मोक्ष गये। उसी मातंग के वंश में बहुत दिनों बाद, जब इक्कीसवें तीर्थंकर का तीर्थ चल रहा था, तब असितपर्वत नगर में राजा प्रहसित हुआ। मैं उसी की स्त्री हिरण्यवती हूँ। अपनी विद्या से मैंने बूढ़ी स्त्री का रूप धारण किया है। मेरे पुत्र का नाम सिंहदंष्ट्र है और पुत्रवधू का नाम नीलांजना। उन्हीं दोनों की पुत्री है नीलयशा, जो नीले कमल की नीली आभा से प्रकाशमान है।"

उस विद्याधरी ने किंचित् रुककर कहा, "हे यदुकुलचन्द्र, वह नीलयशा कन्या आठ दिनों के उत्सव के समय श्रीवासुपूज्य भगवान की पूजा के लिए यहाँ चम्पानगरी में आयी थी। मन्दिर के आगे जब वह नृत्य कर रही थी, तब उसने आपको देखा था। तब से उसकी विचित्र दशा है। न वह स्नान करती है, न खाना खाती है, न बोलती है। काम के बाणों से छिदी वह कन्या जीवित है, यही बड़ा आश्चर्य है। उसकी दशा देखकर सारा कुल व्याकुल हो रहा है।

मैंने उसके हृदय का हाल अपनी कुलविद्या से पूछा था। तब उसने यही बताया कि हाथी के द्वारा नष्ट की हुई कमलिनी के समान इसका हृदय किसी युवापुरुष ने दूषित किया है। मैं उसी क्षण जान गयी कि उसके हृदय की पीड़ा आपके कारण ही है।

हे यादव, मैं आपको वहाँ ले जाने के लिए आयी हूँ। निमित्त ज्ञानियों ने भी कहा है कि वह आपकी ही है, इसलिए आप वहाँ चलें और उसे स्वीकार करें।"

नीलयशा पहले ही वसुदेव का हृदय हर चुकी थी। अब उसकी अवस्था का हाल सुनकर वे और भी उत्कण्ठित हो गये, लेकिन फिर भी उन्होंने चम्पानगरी से बाहर जाना उचित नहीं समझा।

उन्होंने विद्याधरी से कहा, "माँ, मैं आऊँगा। आप जाकर नीलयशा को सान्त्वना दें।"

वृद्धा आश्वस्त हो गयी और कुमार को आशीर्वाद देकर चली गयी।

एक बार वसुदेव वर्षा-जल से स्नान कर गन्धर्वसेना के साथ सो रहे थे। तभी एक

भयंकर आकृतिवाली ने आकर उनका हाथ खींचा। उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से उस वेतालकन्या का प्रतिरोध किया, लेकिन वह कन्या उन्हें मजबूती से पकड़कर श्मशानभूमि में ले गयी। वहाँ कुमार ने अनेक काली मातंगियों के बीच एक मातंगी को देखा। उसने हँसकर कुमार से कहा, ''आइए, आपका स्वागत है।''

इसके बाद उसने असली रूप में प्रकट होकर कहा, ''कुमार, मुझे मातंगी मत समझो, मैं हिरण्यवती हूँ। मैंने अपनी कार्यसिद्धि के लिए यह वेश धरा था।''

उसने पास बैठी नीलयशा की तरफ संकेत कर कहा, ''देखो, यह वही नर्तकी कन्या नीलयशा है, जो आपके विरह में मुरझा गयी है।''

कुमार से इतना कहकर हिरण्यवती ने पास बैठी नीलयशा से कहा, ''बेटी, यही तेरे स्वामी हैं, तू इनका हाथ थाम।''

हिरण्यवती की आज्ञा पाकर नीलयशा ने कुमार वसुदेव के फैलाये हुए हाथ को अपने हाथ में ले लिया। उस समय उन दोनों के शरीर से पसीना छूट रहा था और हृदय भी स्नेह से भीगा हुआ था।

हर्षध्वनि करती वे सब विद्याधरी नीलयशा के साथ कुमार वसुदेव को लेकर आकाश में उड़ गयीं और उत्तर दिशा की तरफ चलने लगीं। आभूषण और औषधियों की प्रभा से मण्डित उनके शरीर बिजलियों के झुण्ड की तरह प्रतीत हो रहे थे। कुमार के स्पर्श से नीलयशा का मुरझाया मुख ज्योतिर्मय हो उठा था। उधर सूर्य ने दिशाओं को उज्ज्वल कर दिया था। सूर्य का बिम्ब कानों के कुण्डल-सा आकाश में उठ आया था और पृथिवी का हर हिस्सा अब स्पष्ट दिखाई देने लगा था।

नीचे की तरफ संकेत करते हुए हिरण्यवती ने वसुदेव से कहा, ''कुमार, पृथिवी पर महावन के वृक्षों से घिरे हुए जिस उन्नत पर्वत को तुम देख रहे हो, इसे लोग ह्रीमन्त पर्वत कहते हैं। यह पर्वत लज्जावान मनुष्य को भी तपलक्ष्मी से सम्पन्न कर देता है। यहाँ अशनिवेग की पुत्री श्यामा ने युद्ध में शत्रु अंगारक की विद्या खण्डित कर दी थी, वही अंगारक अब यहाँ विद्या सिद्ध कर रहा है। आपके दर्शन से इसे विद्या तत्काल सिद्ध हो सकती है, इसलिए आप चाहें तो इसका उपकार करें।''

हिरण्यवती की बात सुनकर कुमार को श्यामा का स्मरण हो आया। उस पूर्वप्रिया का कुशल समाचार जानकर वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले, ''अंगारक तो हमारा शत्रु है, हमें उससे मिलने में क्या लाभ है! हम यहाँ नहीं रुकेंगे।''

कुमार की अनिच्छा जानकर हिरण्यवती उन्हें असितपर्वत नगर ले गयी और उन्हें नगर के बाहर एक सुन्दर बगीचे में ठहरा दिया। कई विद्याधरी उनकी रक्षा में नियुक्त हुईं।

नीलयशा के पिता सिंहदंष्ट्र कुमार वसुदेव की अगवानी को नगर के बाहर आये। विद्याधरों ने कुमार को स्नान कराया और बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण पहनाये।

बड़े वैभव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश हुआ। रथ पर बैठे हुए कुमार के मनोहर रूप पर सबकी आँखें अटकी हुई थीं। पुण्यशाली परम रूपवान कुमार वसुदेव और नीलयशा का विधिपूर्वक विवाह हुआ।

कुमार वसुदेव असितपर्वत नगर में नीलयशा के साथ स्वर्गिक सुखों का भोग करने लगे। नीलयशा का यश अम्लान था। उधर वसुदेव भी निष्कलंक यश के स्वामी थे, इसलिए उन दोनों का योग अनुपम सुखकारी हुआ।

वर्षा ऋतु आयी, कुमार ने प्रिय स्त्री की तरह उसका स्वागत किया। वर्षा के बाद शरद ऋतु आते ही विद्याधर अपनी विद्याओं और औषधियों की सिद्धि के लिए बाहर निकले। उन्होंने अपने मनोवेग को नियन्त्रित कर लिया था। उस समय कुमार वसुदेव भी पत्नी नीलयशा के साथ ह्रीमन्त पर्वत की तरफ चल दिये। जाते हुए वे दोनों ऐसे लगते थे, मानो आलिंगनबद्ध बिजली और मेघ ही पर्वत की तरफ जा रहे हों। उस पर्वत पर अनेक तपस्वी अपनी स्त्रियों सहित तप में लगे हुए थे। जगह-जगह मधुपायी भौंरें और मतवाले पक्षी कोलाहल कर रहे थे। सप्तवर्ण वनों की उत्कट सुगन्ध से व्याप्त वह पर्वत अत्यन्त सुन्दर था। हवा से डोलते वृक्षों के बीच कुमार नीलयशा के साथ विचरण करने लगे। कभी वे गुप्त कदली वनों में भोगसुख भोगते तो कभी चाँदी की तरह चमकते हुए शिखरों के मुलायम शिलातलों पर। झरते हुए फूलों और पत्तों की कोमल शैयाएँ हर कहीं उनके भोग से म्लान होने लगीं।

एक बार कुमार रति के बाद नीलयशा के साथ लतामण्डप से बाहर निकले। उनका शरीर पसीने से व्याप्त था और आँखें मद से भरी हुई थीं। उन्होंने देखा, तीव्र स्वर करता एक मयूर बाहर नाच रहा है। उसका शरीर अत्यन्त शोभाशाली और चित्रविचित्र है तथा आँखें मतवाली हैं। इस मयूर के सौन्दर्य ने नीलयशा का चित्त हर लिया। वह कौतुकवश उसे पकड़ने दौड़ी, लेकिन वह मयूर नीलयशा को कन्धे पर बैठाकर आकाश में उड़ गया। वास्तव में यह मयूर नहीं था, बल्कि मयूर का शरीर धारण करनेवाला पूर्ववैरी नीलकण्ठ था। कभी नीलयशा और नीलकण्ठ के माता-पिता ने अपने बच्चों के लिए विवाह का निर्णय किया था, लेकिन अमोघ वचनी मुनि बृहस्पति के कहे अनुसार सिंहदंष्ट्र ने अपनी बेटी नीलयशा का हाथ नीलकण्ठ को न देकर वसुदेव को दिया। मुनिराज ने यह भी बताया था कि कुमार वसुदेव अर्धचक्रवर्ती पुत्र के पिता होंगे। नीलकण्ठ दुष्ट प्रकृति का था, आज बदला लेने के लिए वही नीलयशा को हर ले गया था।

स्त्री का हरण हो जाने पर वसुदेव विह्वल होकर वन में घूमते रहे। भूख-प्यास से पीड़ित हो वे गोपों की एक बस्ती में गये। वहाँ उनके रूप और प्रभाव के अधीन हुई गोप-स्त्रियों ने उन्हें बड़े प्रेम और आदर से खिलाया-पिलाया और उनके लिए नर्म बिस्तर बिछाया।

छठा प्रकरण

गोपो की उस बस्ती में रात बिताकर कुमार पौ फटते ही चल दिये। दक्षिण दिशा में कुछ दूर जाकर उन्हें गिरितट नाम का एक नगर मिला। ऊँची प्राचीरों से घिरे इस नगर में प्रवेश करते हुए कुमार ने देखा, वहाँ आगन्तुकों की भरमार है और लगभग वे सभी ब्राह्मणवेश में हैं। वेदपाठ की ध्वनियों से नगर का आकाश गूँज रहा है और वातावरण में एक विशेष प्रकार का धार्मिक उल्लास है।

कुमार ने एक नागरिक से पूछा, ''भाई, ऐसा लगता है कि वेदों को जाननेवाले सारे ब्राह्मण यहीं इकट्ठा हो गये हैं, तो क्या किसी ने ब्राह्मणों के लिए महादान दिया है?''

उस नागरिक ने कहा, ''यहाँ वसुदेव ब्राह्मण की सोमश्री नाम की कन्या है। वह चन्द्रमा के समान सुन्दर और अनेक कलाओं तथा वेदशास्त्रों की ज्ञाता है। किसी ज्योतिषी ने बताया है कि जो इसे वेदों के ज्ञान में जीत लेगा, वही इसका पति होगा। इसीलिए यहाँ वेदों के पण्डितों की इतनी भीड़ इकट्ठा हुई है।''

उसने किंचित् विनोद करते हुए कहा, ''अब देखना यह है कि पतली कटि से सुन्दर यह कन्या किस भाग्यशाली पर गिरती है!''

कुमार वसुदेव का मन हंस की तरह उत्कण्ठित हो गया, वे कुछ व्याकुल-से होकर सोमश्री की प्राप्ति का उपाय करने लगे।

वे ब्रह्मदत्त नाम के एक उपाध्याय के पास पहुँचे और उससे वेद पढ़ाने का आग्रह किया।

ब्रह्मदत्त ने प्रश्न किया, ''तुम धर्म को प्रकट करनेवाले आर्ष वेदों को पढ़ना चाहते हो या अनार्ष वेदों को?''

कुमार ने पूछा, ''वेद आर्ष और अनार्ष कैसे हुए?''

यथार्थवादी उपाध्याय उनके प्रश्न से प्रसन्न होकर बोला, ''युग के आदि में कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर जिन्होंने शरणागत प्रजा को उपदेश दिया था और राजा

बनकर हिमालय-विन्ध्य और विजयार्ध पर्वतों से मण्डित समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का उपभोग किया था; जिन्होंने विरक्त होकर चार हजार राजाओं के साथ दीक्षा ली थी और एक हजार वर्ष तक कठिन तप किया था; जो स्वयं प्रतिबुद्ध थे, धीर वीर थे और केवलज्ञान के नेत्रों से समस्त पदार्थों को देखते थे; जिन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके धर्मक्षेत्र को दुष्टों से रहित कर दिया था; जिन्होंने मुनिधर्म का वर्णन करने के लिए द्वादशांग वेदों का और उन्हीं के अन्तर्गत गृहस्थों के आचार का वर्णन भी किया था, उन्हीं भगवान ऋषभदेव के द्वारा प्रदर्शित वेद आर्षवेद कहलाते हैं।

युग के आदि में भरत चक्रवर्ती से सम्मानित ब्राह्मणों ने इन्हीं आर्षवेदों का अध्ययन किया था और इन्हीं की बतायी हुई विधि से वे धर्मयज्ञ करते थे।''

''अनार्ष वेद आप किन्हें कहते हैं?'' वसुदेव ने जिज्ञासा प्रकट की।

उपाध्याय ब्रह्मदत्त ने अनार्ष वेदों की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए कहा, ''धारण-युग्म नगर में एक राजा रहता था। युद्धभूमि में उसके साथ कोई युद्ध नहीं कर सकता था, इसलिए वह अयोधन नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी रानी का नाम दिति था। महाराज सूर्यवंशी थे और दिति चन्द्रवंशी कुमारी थीं। इन दोनों की अद्वितीय सुन्दरी, गुणशील एक कन्या थी। माता-पिता ने नाम दिया था सुलसा। जब वह युवती हुई तो पिता ने उसका स्वयंवर कराया। इस स्वयंवर में अनेक यशस्वी राजाओं ने भाग लिया। कन्या के अभिलाषी परम यशस्वी राजा सगर भी स्वयंवर में आये।

एक दिन राजा सगर की प्रतिहारी रानी दिति के घर गयी थी। वहाँ उसने सुना, दिति अपनी बेटी से कह रही है—'सुलसा, तू मुझे बहुत प्रेम करती है न! तू मेरी बात सुन, मेरे बड़े भाई का पुत्र मधुपिंगल सब राजाओं में सबसे अधिक सुन्दर और प्रतापी है। मैंने बहुत दिन हुए, तभी उससे तेरे विवाह का संकल्प कर लिया था। इसलिए बेटी, तू स्वयंवर में मेरी मनोकामना पूरी करना।' इतना कहकर रानी दिति आँसू बहाने लगी।

माँ के आँसू देखकर कन्या का मन विचलित हो गया, उसने वचन दिया—'माँ, मैं स्वयंवर में मधुपिंगल को ही वरूँगी।'

प्रतिहारी ने यह सब सुना और जाकर राजा सगर को कह सुनाया।

राजा सगर ने तत्काल अपने पुरोहित विश्वभूति को बुलाया और गुप्त रूप से एक ऐसे शास्त्र की रचना करवायी, जिसमें मनुष्य के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया था। उन्होंने उसे धुएँ से धूसरित किया और लोहे के सन्दूक में बन्द कर स्वयंवर की भूमि में गड़वा दिया।

स्वयंवर के दिन राजा सगर ने जमीन खुदवाकर वह सन्दूक बाहर निकलवाया और उसमें से वह शास्त्र बाहर निकाला।

स्वयंवर में आये राजाओं ने उस शास्त्र में वर्णित मनुष्यों के लक्षण सुनने की इच्छा प्रकट की। राजा सगर तो यह चाहते ही थे। उनकी आज्ञा से विश्वभूति ने उस शास्त्र को जोर-जोर से पढ़ना शुरू किया।''

उपाध्याय ब्रह्मदत्त ने कुमार से कहा, ''उस शास्त्र में राजा, धनवान, निर्धन, विद्वान, मूर्ख, भाग्यशाली, भाग्यहीन, दीर्घायु, अल्पायु आदि भेदों से मनुष्य के अनेक प्रकार के लक्षणों का वर्णन किया गया था। अन्त में उस विश्वभूति पुरोहित ने नेत्रों के लक्षणों पर विशेष जोर दिया और कहा—जिस मनुष्य के नेत्र पिंगलवर्ण के हों, वह अमांगलिक और पापी होता है। जिसके नेत्र माजरिक के समान हों वह दुर्जन, अभागा, क्रूर और पापी होता है। ऐसे मनुष्यों से न तो बात करनी चाहिए, न उनकी तरफ देखना चाहिए। अन्त में उस पुरोहित ने बड़ी चतुरता से कहा—समस्त लक्षणों के गुण और दोष का विचार करते समय आँखों के लक्षणों का पूर्ण विचार करना चाहिए, क्योंकि केवल आँख के लक्षणों से भी बहुत कुछ जाना जा सकता है। विद्वान वही है, जो मनुष्य के मान-सम्मान, शरीर, चाल-ढाल, वंश, उत्तम वर्ण और प्रकृति को देखकर अपने कार्य का निर्णय करे।

शास्त्र सुनकर मधुपिंगल को यह आशंका हो गयी कि उसके नेत्र में दोष है और वह स्वयंवर छोड़कर चला गया। इधर चतुर राजा सगर कमलनयना सुलसा को स्वयंवर में प्राप्त कर सुख भोगने लगा।

आदमी अपने सुख के लिए सभी अच्छे-बुरे उपायों का आश्रय लेता है, लेकिन जो बुराई है वह कभी न कभी दुष्परिणाम में बदलती ही है। राजा सगर की इस प्रवृत्ति को भले ही चातुर्य की संज्ञा दे दी जाय, लेकिन कोई भी कपटपूर्ण चातुर्य एक दिन विष की तरह फूट ही जाता है।

मधुपिंगल सुन्दर युवक था। अपनी मिथ्या आशंका के कारण वह स्वयंवर छोड़ चला आया था। सुलसा को न पाकर उसने दीक्षा ले ली और मुनि के आचरण का पालन करता हुआ अनेक देशों में भ्रमण करने लगा।

एक दिन मधुपिंगल पारणा के लिए दोपहर के समय किसी नगर में आया। एक सामुद्रिकशास्त्री की दृष्टि उस पर पड़ी। मधुपिंगल के दिगम्बर शरीर के सारे अवयवों को देखकर वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया और सिर हिलाते हुए कहने लगा—समुद्रशास्त्र की दृष्टि से इन मुनि के शरीर में कोई दोष नहीं है। इसका शरीर अत्यन्त श्रेष्ठ चिह्नों को प्रकट कर रहा है। विशेष रूप से इसके नेत्रों की पीताभा इसके राज्य और सौभाग्य को सूचित करनेवाली है। इतना होने पर भी अगर यह भिक्षाटन कर रहा है तो समुद्रशास्त्र और सामुद्रिक विद्या को धिक्कार है।

फिर वह सोचते हुए बोला—यह भी तो हो सकता है कि जो मनुष्य मोक्ष-सुख की इच्छा रखते हैं, वे फलों से लदी विषबेल के समान प्राप्त हुई लक्ष्मी को

छूते भी नहीं। वास्तव में यह मुनि शुभ लक्षणों से पूर्ण पवित्र कुल का है तथा मोक्ष की इच्छा से तप कर रहा है, इसलिए इसका दीक्षा लेना उचित ही है।

सामुद्रिक के वचन सुनकर एक मनुष्य ठिठक गया और उससे बोला—महाशय, क्या आप मधुपिंगल के बारे में नहीं जानते? उस कथा को तो सारा संसार जानता है। सुलसा के स्वयंवर में एकत्रित हुए दुष्ट राजाओं ने सामुद्रिकशास्त्र का आधार लेकर उसके नेत्रों को दोषपूर्ण बतलाया था। यह भोलाभाला था और दूसरों को प्रमाण मानता था, इसलिए शुभनयन होने पर भी अपने आपको अशुभ लक्षणवाला मान बैठा और लज्जित होकर तप करने लगा। दोष मधुपिंगल का ही है कि उसने आलस्य और प्रमादवश स्वयं शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया और धोखा खाया।

मधुपिंगल के चले जाने पर कन्या ने राजा सगर को वर लिया। वह क्षत्रियों से घिरा भोगों में आसक्त है।

यह बातचीत मधुपिंगल भी सुन रहा था। उसे भयानक क्रोध आया और वह उसी क्षण मरकर महाकाल नाम का नीच देव हुआ। सचमुच ही कषाय बड़ी विषम वस्तु है। मधुपिंगल के हृदय में जन्मा सम्यग्दर्शन का मीठा रस क्रोध के कषाय से कड़वा हो गया। वह सगर को नष्ट करने की इच्छा से रात-दिन जलने लगा। राजा सगर निरन्तर दुख भोगता रहे, वह इसका उपाय सोचने लगा। मनुष्य नहीं जानता कि अपकारी का अपकार भी जिन उपायों से किया जाता है, उनसे उसका अपना पतन भी हो जाता है।

सगर पर क्रोध से उबलता हुआ मधुपिंगल का नीच देव महाकाल पृथिवी पर आया। आते ही उसने नारद से शास्त्रार्थ में पराजित पर्वत को देखा।

महाकाल ने उसके पिता क्षीरकदम्ब के गुरु भाई शाण्डिल्य का रूप धरा और पर्वत को आश्वासन देते हुए कहा—'पर्वत, तुम इस बात का खेद मत करो कि मैं शास्त्रार्थ में हार गया हूँ। तुम क्षीरकदम्ब के पुत्र हो, इसलिए मेरे भी पुत्र के समान हो। तुम्हारा पराभव मेरा पराभव है। तुम मेरी सहायता से अपने क्षेत्र को निष्कण्टक करो। तुम जानते ही हो, वायु का बल पाकर अग्नि भयंकर रूप धारण कर सकती है।'

पर्वत महाकाल के साथ मिल गया। महाकाल ने समस्त भरतक्षेत्र को बीमारियों से व्याकुल कर दिया। उन बीमारियों को नष्ट करने के लिए पर्वत शान्तिकर्म करता था, जिससे लोग विश्वास कर उसकी शरण आने लगे। यहाँ तक कि राजा सगर भी उसके पास आया और उसके बताये होमादि से नीरोग हो गया।

दुष्ट महाकाल हिंसा फैलाने के लिए अनार्ष वेद पढ़ाने लगा और यज्ञ के फल की इच्छा रखनेवाले क्षत्रियों को अश्वमेध, अजमेध, गोमेध यज्ञों की ओर प्रेरित करने लगा। उसने राजसूय यज्ञ का विधान बताकर अनेक राजाओं को भी यज्ञ में होम

दिया। अन्त में राजा सगर और सुलसा को भी यज्ञ में होम कर वह स्वस्थान में लौट गया।

नारद ने इन सारे अनार्ष यज्ञों और हिंसाओं में बाधा डालने का यत्न किया, लेकिन उसकी चल न सकी। उसी नारद के वंश में वसुदेव ब्राह्मण की क्षत्रिया स्त्री से इस सोमश्री नाम की उत्तम कन्या का जन्म हुआ। अवधिज्ञानी एक मुनि ने कहा था कि जो सोमश्री को वेदों में जीतेगा, वही महापुरुष इसका पति होगा।''

कुमार वसुदेव ने यह सारी वार्ता सुनी और उपाध्याय के पास रहकर समस्त आर्ष वेदों का अध्ययन किया। वेदों के ज्ञान में सोमश्री पराजित हुई और वसुदेव उसके साथ विधिपूर्वक विवाह करके वहीं रहने लगे। सौन्दर्य और गुणसम्पदा में विद्याधरों से भी श्रेष्ठ कुमार वसुदेव का समय गिरितट नगर में जिनभक्त रमणी सोमश्री के साथ इच्छापूर्वक रमण करते हुए बीतने लगा।

एक बार कुमार इन्द्र शर्मा ब्राह्मण के उपदेश से गिरितट नगर के उद्यान में रात के समय कोई विद्या सिद्ध कर रहे थे कि कुछ धूर्तों ने उन्हें देख लिया। वे रात के पिछले प्रहर में उन्हें पालकी पर बैठाकर दूर ले गये और तिलवस्तु नगर के बाहर छोड़ दिया। कुमार एक चैत्यालय के बगीचे में सो रहे थे कि एक राक्षसतुल्य मनुष्यभक्षी पुरुष ने उन्हें झिंझोड़कर उठा दिया और चिल्लाकर बोला, ''अरे जाग, तू यहाँ कौन सो रहा है? भूखे बाघ जैसे मेरे मुख में तू स्वयं आ गिरा है।''

उसकी भयंकर आवाज से कुमार को वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। जब वह मनुष्यभक्षी कुमार को मारने के लिए उद्यत हुआ, तब शूरवीर कुमार ने भी अपनी शक्ति दिखलायी। दोनों के बीच भयानक युद्ध हुआ। वसुदेव बहुत बलवान थे। उन्होंने उस दानवाकार मनुष्य को मल्लयुद्ध में निष्प्राण कर दिया।

सुबह हुई तो नगरवासी आये और नरभक्षी पापी को मारनेवाले कुमार वसुदेव को रथ पर बैठाकर नगर में ले गये। उन्होंने वसुदेव को रूप की खान, कुल और शील से सुन्दर कन्याएँ भेंट कीं और उनका बहुत अधिक सम्मान किया।

एक दिन वसुदेव ने उस नरभक्षी मनुष्य के बारे में जिज्ञासा प्रकट की तो वृद्धजनों ने यह कथा सुनायी :

कलिंगदेश के कांचनपुर नगर में जितशत्रु नाम का राजा था। इस राजा की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था। वह नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करता और जीवहिंसा से दूर रहता था। उसने समस्त राज्य में अभय की घोषणा करा रखी थी। उसका एक पुत्र था–सौदास। वह मांस खाने का बड़ा लम्पट था, इसलिए उसने पिता से मयूर का मांस खाने की आज्ञा प्राप्त कर ली थी। रसोइया प्रतिदिन उसे मयूर का मांस तैयार कर देता था और वह उसे महल के भीतर छिपकर खाया करता था। एक दिन मांस को बिल्ली उठा ले गयी। रसोइया मांस की तलाश में नगर के बाहर

गया, वहाँ उसने एक मरा हुआ बालक देखा। वह बालक को छिपाकर ले आया और उसके मांस को पकाकर सौदास को दे दिया। सौदास ने उस मांस को अत्यन्त रुचि के साथ खाया और रसोइये का खूब आदर किया। सौदास की प्रसन्नता और आग्रह देखकर रसोइये ने अपनी करनी बता दी। सौदास ने कहा—'मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूँ, मेरे लिए प्रतिदिन मनुष्य का ही मांस लाया कर।

पिता के मरने पर सौदास राजा हुआ। उसका रसोइया किसी न किसी उपाय से प्रतिदिन बच्चों को मारने लगा। नगर में खलबली मच गयी। उन्होंने परीक्षा करने पर सौदास को शिशुभक्षक पाया और उसे नगर से बाहर खदेड़ दिया। वह व्याघ्र की तरह रात में झपाटा मारकर मनुष्यों को ले जाता और दिन में जंगल में छिपा रहता। आपने अपनी असाधारण शक्ति के कारण उसी सौदास को यमलोक पहुँचाया है, हमारे लिए तो वह असाध्य था।''

कुमार भेंट में प्राप्त उन स्त्रियों के साथ वहीं रहने लगे। सभी उनका वस्त्र, माला, आभूषणों से सत्कार करते थे।

कुछ दिनों के बाद कुमार ने वहाँ से प्रस्थान किया और अचलग्राम के सेठ की वनमाला नाम की कन्या से विवाह किया। वनमाला के साथ वे वेदसामपुर पहुँचे और वहाँ के राजा कपिलमुनि को युद्ध में जीतकर उसकी पुत्री कपिला से विवाह किया। कुमार वसुदेव को कपिला के भाई अंशुमान से विशेष प्रेमभाव था। वे वहाँ रह गये। उन्हें कपिला से पुत्र की प्राप्ति हुई, उसे उन्होंने कपिल नाम दिया।

जिस शत्रु नीलकण्ठ ने पहले नीलयशा का अपहरण किया था, वह एक दिन गन्धहस्ती का रूप धरकर वेदसामपुर आया। उसे बाँधने के लिए वसुदेव जब उस पर चढ़े तो वह उन्हें हरकर आकाश में ले गया। वसुदेव ने उस पर कठिन प्रहार किये, जिससे आकुल हो उसने गन्धहस्ती का रूप छोड़ दिया और नीलकण्ठ हो गया। वसुदेव उससे छूटकर तालाब के जल में गिरे और बिना किसी कष्ट के बाहर आकर शालगुहा नगरी में पहुँचे। वहाँ धनुर्वेद के उपदेश से उन्होंने पद्मावती नाम की कन्या प्राप्त की। वहाँ से वे अपने साले अंशुमान के साथ भद्रिलपुर नगर में पहुँचे। वहाँ राजा पौण्ड्र राज्य करता था। उसकी कन्या चारुहासिनी दिव्य औषधि के प्रभाव से सदा यौवन को धारण करती थी। वसुदेव को इसका पता लग गया। उन्होंने इस अत्यन्त सुन्दरी कन्या से विवाह किया और कुछ दिनों बाद उससे उन्हें पौण्ड्र नाम से प्रसिद्ध पुत्र प्राप्त हुआ।

कुमार वसुदेव अपने गुण और सौन्दर्य के प्रभाव से श्रेष्ठ कन्याओं का वरण करते हुए एक दिन इन्द्रध्वज का विधान देखने के लिए महापुर नगर में पहुँचे। वहाँ

नगर के बाहर ऊँचे-ऊँचे महलों को देखकर उन्होंने किसी मनुष्य से पूछा, ''ये महल क्यों बनाये गये हैं?''

उस मनुष्य ने जवाब दिया, ''राजा सोमदत्त ने अपनी कन्या के स्वयंवर में आनेवाले राजाओं के ठहरने के लिए ये महल बनवाये थे, लेकिन किसी कारणवश कन्या सोमश्री स्वयंवर से विरक्त हो गयी और स्वयंवर न हो सका और अब सब राजा विदा कर दिये गये हैं।''

कुमार उस कन्या के मन की गति का विचार करते हुए इन्द्रध्वज विधान देख रहे थे कि तभी अपना खम्भा तोड़कर एक मदोन्मत्त हाथी लोगों को कुचलता हुआ वहाँ आ पहुँचा। चारों तरफ शोर मच गया। राजकुल की स्त्रियाँ जाने के लिए रथों में बैठ चुकी थीं कि तभी वह हाथी दौड़ता हुआ उनके रथों के समीप आया। भयभीत हो एक कन्या रथ से नीचे गिर पड़ी। कुमार वसुदेव से रहा नहीं गया। वे उठे और उन्होंने उस हाथी का सारा मद चूर कर दिया और देखते-देखते उस हाथी पर सवार होकर उससे क्रीड़ा करने लगे। हाथी थक गया। तब वसुदेव भय से मूर्छित उस कन्या के पास आये और उसे उठाकर सान्त्वना दी। वसुदेव के मनोहर रूप को देखकर कन्या उसाँस भरने लगी। उसकी आँखें आँसुओं से तर हो गयीं और उसने कातर हो कुमार का हाथ पकड़ लिया।

कुछ समय बाद कुमार वसुदेव एक दिन कुबेरदत्त सेठ के यहाँ बैठे थे कि तभी राजाज्ञा से एक प्रतिहारिणी उनके पास आयी और बोली, ''देव, आप जानते ही हैं कि यहाँ के राजा सोमदत्त और महारानी पूर्णचन्द्र हैं। उनके भूरिश्रवा नाम का पुत्र और सोमश्री नाम की कन्या है। कन्या सोमश्री के स्वयंवर के लिए राजा ने अनेक राजाओं को बुलाया था, लेकिन एक रात सोमश्री महल की छत पर बैठी थी, तभी वहाँ देवों का आगमन हुआ और कुमारी को पूर्वजन्म के पति का स्मरण हो आया। वह उस पूर्वप्रेम के कारण मूर्छित हो गयी। सचेत होने पर भी वह अपने देव पति के ध्यान में ही रहती है और स्नान-भोजन छोड़ दिया है। जब मैंने एकान्त में उससे पूछा तो बड़ी कठिनाई से उसने मुझे बताया कि पूर्वजन्म में वह देवी और उसका पति देव था। देव उससे पहले ही च्युत हो गया था। तब केवली भगवान ने उसे बताया था कि वह देव हरिवंश में उत्पन्न हुआ है और हाथी के भय को नष्ट करनेवाले उस पति के साथ उसका फिर मिलन होगा।

केवली भगवान का वचन सत्य हो गया है, अब सोमश्री आपके मिलन की अभिलाषिणी है।

जब मैंने कन्या के पिता राजा सोमदत्त को सब बात बतायी तो उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। हे देव, अब आप सोमश्री का पाणिग्रहण करें।''

वसुदेव ने सन्तुष्ट होकर अपनी पूर्वजन्म की प्रिया सोमश्री से विवाह कर लिया। एक रात जब सोमश्री पति के आलिंगन में बद्ध सो रही थी, तब कोई विद्याधरी वैरी उसे हर ले गया। वसुदेव आलिंगन में पत्नी को न पाकर बहुत व्याकुल हुए और उसका नाम ले-लेकर पुकारने लगे। सोमश्री वापस आयी।

कुमार ने पूछा, ''प्रिये, तुम कहाँ गयी थीं?''

''गर्मी शान्त करने के लिए बाहर गयी थी।'' सोमश्री बोली और वे फिर उसी तरह रहने लगे।

एक मध्यरात्रि में कुमार की आँख खुली तो उन्होंने देखा कि उनके पार्श्व में सोमश्री के स्थान पर कोई और रूपवती स्त्री सोयी हुई है। वसुदेव को बड़ा आश्चर्य हुआ, तभी वह स्त्री भी जाग उठी।

कुमार ने पूछा, ''तू सोमश्री के समान कौन है?''

तब उस स्त्री ने प्रणाम कर कहा, ''सौम्य, दक्षिण श्रेणी में एक स्वर्णाभ नाम का नगर है। मनोवेग नाम का विद्याधर वहाँ का राजा है और उसकी रानी अंगारवती है। उनके पुत्र का नाम मानसवेग है और उनकी पुत्री मैं वेगवती हूँ। पिता के तपस्वी हो जाने पर मानसवेग वहाँ का स्वामी है। उसी ने सोमश्री का हरण किया था। सोमश्री शील का पालन करती हुई वहाँ रहती है। भाई ने मुझे सोमश्री को मनाने का कार्य सौंपा, लेकिन आपकी प्रिया के सत्त्व और शील से प्रभावित हो मैं उसकी सखी बन गयी—उसी ने मुझे अपना समाचार देने के लिए आपके पास भेजा था, लेकिन आपके रूप से आकर्षित हो मैं सोमश्री का रूप रख आपके साथ रहने लगी। केवल सोने के समय ही मैं वेगवती का रूप ग्रहण करती हूँ।''

सोमश्री के पिता और भाई को भी सोमश्री के हरण का हाल मालूम हुआ। वे शोकाकुल हो गये। वेगवती पहले की तरह ही पति को सुख देती हुई रहने लगी।

एक रात वसुदेव वेगवती के साथ सो रहे थे कि मानसवेग उन्हें हर ले गया। कुमार की मुट्ठियों की चोट से पीड़ित होकर उसने उन्हें गंगा के जल में छोड़ दिया। उस समय गंगा में बैठा कोई विद्याधर विद्या सिद्ध कर रहा था। कुमार उसके कन्धे पर गिरे और उनके स्पर्शमात्र से उसे विद्या सिद्ध हो गयी। वह विद्याधर कुमार को प्रणाम कर चला गया। तभी एक विद्याधरी उन्हें विजयार्ध पर्वत पर ले गयी। उनके वहाँ पहुँचते ही आकाश विद्याधरों से व्याप्त हो गया। उन सबने कुमार को प्रणाम किया और उन पर पाँच रंग के फूलों की वर्षा की। उन्होंने कुमार को सूर्य की तरह देदीप्यमान रथ पर बैठाकर तुरही और शंखध्वनि के बीच नगर-प्रवेश कराया। वहाँ विद्याधरों ने उन्हें मदनवेगा नाम की अत्यन्त सुन्दर कन्या दी। वसुदेव

मदनवेगा से विवाह कर सुखों का भोग करने लगे।

एक रात मदनवेगा ने उन्हें प्रगाढ़ रतिसुख दिया। कुमार ने प्रसन्न होकर पत्नी से कहा, ''प्रिये, मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, कोई वर माँगो।''

वह बोली, ''स्वामी, हमारे पिता कारागार में पड़े हैं, उन्हें आप छुड़ा दीजिए।''

उन्हीं दिनों मदनवेगा का भाई दधिमुख भी वसुदेव के पास आया। उसने कुमार से पिता विद्युद्वेग को बन्धन से छुड़ाने की प्रार्थना की। इसी सन्दर्भ में उसने अपने वंश का इतिहास भी कह सुनाया :

नमि वंश में असंख्य राजा हुए, उनमें राजा मेघनाद को अरिंजयपुर का राज्य मिला। उसके पद्मश्री नाम की एक कन्या थी। निमित्तज्ञानियों ने बताया था कि उस कन्या का पति चक्रवर्ती होगा। मेघनाद के समय में ही राजा वज्रपाणि भी हुआ। उसकी राजधानी का नाम था नभस्तिलक। वह रूपवती पद्मश्री के लिए कई बार याचना कर चुका था, लेकिन मेघनाद ने अपनी कन्या उसे नहीं दी। रुष्ट होकर उसने युद्ध ठान दिया। मेघनाद अत्यन्त बलशाली था, इसलिए वज्रपाणि को मात खानी पड़ी।

उसी समय कोई केवलज्ञानी मुनिराज वहाँ पधारे। देव, मनुष्यों और धरणेन्द्रों की सभा में राजा मेघनाद ने उनकी पूजा कर प्रश्न किया—'प्रभु, इस भरतक्षेत्र में मेरी कन्या का पति कौन होगा?'

उन्होंने कहा—'क्षत्रियों के शत्रु परशुराम को मारनेवाला चक्रवर्ती राजा सुभौम तुम्हारी कन्या का पति होगा।'

मुनिराज आगे बोले—'हस्तिनापुर नगर में कौरववंश में कार्तवीर्य नाम का एक राजा था। वह जितना पराक्रमी था, उतना ही उद्दण्ड भी था। उसने कामधेनु के लोभ से मुनि जमदग्नि को मार डाला था। जमदग्नि का पुत्र परशुराम बलवीर्य में अद्वितीय था। उसने पिता के घात से क्रोधित होकर कार्तवीर्य को मार डाला। इतने से ही उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसने स्त्री-पुरुष सहित हजारों क्षत्रियों का नाश किया। भयभीत होकर राजा कार्तवीर्य की गर्भवती स्त्री तारा गुप्त रूप से निकलकर कौशिक ऋषि के आश्रम में जा पहुँची। वहाँ उसने एक पुत्र को जन्म दिया, वही सुभौम है।

जैसे-जैसे बालक ऋषि के आश्रम में बड़ा होने लगा, परशुराम के घर सैकड़ों उत्पात होने लगे। आशंकित और आश्चर्यचकित होकर परशुराम ने निमित्तज्ञानी से पूछा—'ये उत्पात किस अनिष्ट के सूचक हैं?'

निमित्तज्ञानी ने कहा—'आपका शत्रु कहीं छिपकर प्रवृद्ध हो रहा है।'

'उसका पता कैसे लगे?'

'निमित्तज्ञानी ने जवाब दिया—'आपके द्वारा मारे हुए क्षत्रियों की डाढ़ें जिसके

भोजन करते समय खीर में बदल जाएँ, वही आपका शत्रु है।'

'परशुराम ने शीघ्र ही एक विशाल दानशाला बनवायी। उसके बीचोंबीच उन्होंने डाढ़ों से भरा बरतन रख दिया और उसके अध्यक्ष को सब वृत्तान्त समझा दिया। तब से वहाँ गुप्त पहरा रहता है।'

केवलज्ञानी मुनि से सब सुनकर राजा मेघनाद हस्तिनापुर पहुँचा और वहाँ उसने कुमार सुभौम को देखा। उस समय कुमार सुभौम शस्त्र और शास्त्र के शिखर पर विद्यमान था। वह अत्यन्त सुन्दर था और उदित होते सूर्य के समान जान पड़ता था। उसका प्रताप चारों तरफ फैल रहा था। जिस तरह वायु अग्नि को प्रेरित कर देती है, उसी तरह राजा मेघनाद ने सारा वृत्तान्त सुनाकर कुमार को शत्रु के वध के लिए प्रेरित कर दिया।

कुमार सुभौम कुशासन ले परशुराम की दानशाला में भोजन के लिए जा बैठा। कुमार के आगे ढका हुआ डाढ़ों का पात्र रखा गया और वे सभी डाढ़ें तत्क्षण खीर में परिणत हो गयीं। परशुराम को सूचना मिली तो वह सुभौम को मारने के लिए फरसा ले दानशाला में आ पहुँचा। सुभौम आनन्दपूर्वक थाली में खीर का भोजन कर रहा था, तभी परशुराम ने उसे मारने के लिए फरसा उठाया, किन्तु सुभौम के प्रभाव से वह थाली चक्र के रूप में परिवर्तित हो गयी और सुभौम ने उसी चक्र से परशुराम का घात किया।

सुभौम अष्टम चक्रवर्ती हुआ। मुकुटधारी बत्तीस हजार राजा उसकी सेवा करने लगे। पद्मश्री की प्राप्ति से सन्तुष्ट होकर चक्रवर्ती सुभौम ने मेघनाद को विद्याधरों का राजा बना दिया।''

अन्त में दधिमुख ने कुमार वसुदेव से कहा, ''हे यादव, उन्हीं राजा मेघनाद के वंश में हम जन्मे हैं।

एक बार मेरे पिता विद्युत्वेग ने किन्हीं अवधिज्ञानी मुनि से पूछा था—'प्रभु, हमारी पुत्री मदनवेगा का पति कौन होगा?'

तब उन्होंने बताया था—'रात के समय गंगा के जल में विद्या सिद्ध करनेवाले तुम्हारे पुत्र चण्डवेग के कन्धे पर जो गिरेगा, वही इसका पति होगा।' तब से पिता ने चण्डवेग को गंगा नदी में विद्या सिद्ध करने के लिए नियुक्त कर दिया। अब आप हमें प्राप्त हुए हैं।''

दधिमुख ने पिता विद्युत्वेग के बन्दी होने का प्रसंग सुनाते हुए कहा, ''नभस्तिलक नगर का राजा त्रिशिखर नाम का दुष्ट विद्याधर है। वह अपने पुत्र सूर्यक के लिए मदनवेगा की कई बार याचना कर चुका था, लेकिन उसे प्राप्त नहीं कर सका। वह हमारा वैरी हो गया और एक दिन युद्ध में अवसर पाकर उसने हमारे पिता को बाँधकर कारागार में डाल दिया।

आप परम पराक्रमी हैं। सुभौम चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर जो विद्यास्त्र हमारे पूर्वज मेघनाद को दिये थे, आप उन्हें स्वीकार करें और हमारे पिता और अपने श्वसुर विद्युत्वेग को बन्धनमुक्त करें।''

कुमार वसुदेव ने श्वसुर को छुड़ाने का निश्चय किया। चण्डवेग ने देवों से पूजित पुरातन विद्यास्त्र विधिपूर्वक कुमार को अर्पित किये, कुमार ने उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण किया।

तभी बल से उद्धत दुष्ट त्रिशिखर अपनी सेनाएँ लेकर चण्डवेग के नगर के पास आ पहुँचा। 'शत्रु स्वयं ही समीप आ गया'—इस विचार से सन्तुष्ट हुए वसुदेव अपने सम्बन्धी विद्याधरों की सेना के साथ त्रिशिखर का सामना करने के लिए आ पहुँचे। उस समय वसुदेव देवों से घिरे इन्द्र की तरह प्रतीत हो रहे थे और त्रिशिखर भी असुरों से सेवित चमरेन्द्र की तरह प्रकट हो रहा था।

दोनों सेनाओं के बड़े-बड़े विमानों, रथों, घोड़ों और मदोन्मत्त हाथियों से सारी दिशाएँ ढक गयीं। वसुदेव वेगशाली घोड़ों के रथ पर आरूढ़ थे। दधिमुख उनका रथ हाँक रहा था और वे अनेक शस्त्रास्त्रों से भय उत्पन्न कर रहे थे। कुमार का त्रिशिखर के साथ पहले साधारण शस्त्रों से युद्ध हुआ। इसके बाद दिव्य शस्त्रास्त्रों से उनमें गम्भीर युद्ध होने लगा। वे शस्त्र को प्रतिशस्त्र से काटने लगे। अन्त में वसुदेव ने माहेन्द्रास्त्र छोड़कर शत्रु के टुकड़े कर दिये। त्रिशिखर के मरते ही शत्रु विद्याधर भाग गये और वसुदेव ने अपने पक्ष के विद्याधरों के साथ जाकर श्वसुर को कारागृह से मुक्त किया।

कुछ दिनों बाद मदनवेगा ने एक पुत्र को जन्म दिया। वसुदेव के इस बलवान और नीतिज्ञ पुत्र का नाम था अनावृष्टि।

एक दिन सभी विद्याधर अपनी स्त्रियों के साथ सिद्धकूट जिनालय की वन्दना करने के लिए गये। कुमार वसुदेव भी मदनवेगा के साथ वहाँ पहुँचे। जिनेन्द्र भगवान और प्रतिमागृहों की पूजा करने के बाद विद्याधरगण अपने-अपने स्तम्भों का आश्रय लेकर बैठ गये। शोभासम्पन्न विद्युत्वेग भी भगवान की पूजा कर अपने निकाय के लोगों के साथ गौरी विद्याओं के स्तम्भ का सहारा लेकर बैठ गया।

वसुदेव के मन में जिज्ञासा हुई तो उन्होंने मदनवेगा से पूछा, ''ये विद्याधर विशिष्ट स्तम्भों का सहारा लेकर क्यों बैठे हैं? इन निकायों का परिचय क्या है?''

मदनवेगा ने बड़ी सुन्दरता से विद्याधरों के निकायों का वर्णन किया और आर्य विद्याधरों तथा मातंग विद्याधरों के भेद को भी स्पष्ट किया।

समाधान पाकर वसुदेव बड़े सन्तुष्ट हुए।

ऐसे ही कुछ दिन बीतते चले गये। एक दिन वसुदेव ने किसी कारणवश मदनवेगा को वेगवती कहकर सम्बोधित किया, जिससे वह रुष्ट होकर घर के अन्दर

चली गयी। उसी समय त्रिशिखर विद्याधर की विधवा पत्नी शूर्पणखी मदनवेगा का रूप धरकर आयी और छल से वसुदेव को हर ले गयी। वह उन्हें आकाश में ले जाकर छोड़ना ही चाहती थी कि उसे निचले आकाश में कुमार का वैरी मानसवेग दिखाई दिया। उसने कुमार को मारने का काम मानसवेग को सौंपा और स्वयं चली गयी। मानसवेग ने कुमार को आकाश से गिरा दिया। एक तो वह निचला आकाश था, दूसरे कुमार घास के ढेर पर गिरे, इसलिए उन्हें जरा भी चोट नहीं आयी।

सातवाँ प्रकरण

कुमार ने सुना, लोग जरासन्ध का कीर्तिमान गा रहे हैं। वे तत्काल समझ गये कि यह जरासन्ध का राजगृह नगर है। राजगृह नगर में कुमार ने जुए में सोने की एक करोड़ मुद्राएँ जीतीं और तत्काल उन्हें लोगों में बाँट दीं।

निमित्तज्ञानियों ने जरासन्ध को बतलाया था कि जो जुए में एक करोड़ सोने की मुद्राएँ जीतकर बाँट देगा, वह उसे मारनेवाले पुत्र को जन्म देगा। जरासन्ध ने जुआघर में अपने अधिकारियों को नियुक्त कर रखा था, ताकि वे अमुक व्यक्ति को पकड़कर मार दें।

उन्होंने वसुदेव को देखकर पकड़ लिया और उन्हें चमड़े की थैली में बन्द कर पहाड़ की चोटी से नीचे फेंक दिया। वसुदेव नीचे गिर ही रहे थे कि अकस्मात् वेगवती ने आकर उन्हें थाम लिया और आकाश में उड़ने लगी। थैली में बन्द कुमार सोचने लगे—पता नहीं, कौन मुझे पकड़े लिये जा रहा है? पता नहीं अब क्या दुख देखने को मिले? ये बन्धुजनों के सम्बन्ध भी दुखदायक ही होते हैं। ये सारी भोग-सम्पदाएँ, यह कान्तिमान शरीर सब दुख के लिए ही हैं। आदमी इन्हें सुखप्रद समझता है। जीव अकेला ही पुण्य और पाप करता है। अकेला ही सुख और दुख भोगता है। अकेला ही पैदा होता और मरता है। फिर भी आत्मीयों को संग्रह करने में लगा रहता है। वे ही लोग सुखी हैं जो आत्महित में लगे हुए हैं और भोगों से सम्बन्ध तोड़कर मोक्षमार्ग में स्थित हैं। हमारे कर्म बड़े वजनी हैं कि हम तृष्णा की तरंगों में डूब-उतरा रहे हैं और सुख-दुख की प्राप्ति में बार-बार चक्कर लगा रहे हैं।

नियति की चाल बड़ी विलक्षण है। वह मनुष्य को उसके लक्ष्य स्थान तक ले जाकर ही छोड़ती है। वसुदेव की नियति हर कदम पर उन्हें श्रेष्ठ सम्पदाओं से संयुक्त कर रही थी और श्रेष्ठतर की तरफ ले जा रही थी। अनेक स्त्रियों, सुख-

भोगों, यश-विभवों के बीच से गुजरते हुए वसुदेव भी अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर प्रेरित-से चल रहे थे।

वसुदेव को लगा, वे किसी ठोस स्थान पर उतारे गये हैं। वेगवती ने उन्हें थैली से बाहर निकाला। पति को देख वेगवती आकुल हो रोने लगी। वसुदेव ने उसका आलिंगन कर कुशलक्षेम पूछा।

वेगवती रोती हुई बोली, ''मैंने आपको विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों में खोजा। अनेक वन और नगरों में देखा तथा समस्त भरतक्षेत्र की यात्रा की, लेकिन आपको पा न सकी। बहुत भटकने के बाद जब मैंने मदनवेगा के पास आपको देखा तो वहाँ आपके दर्शनों की इच्छा से अलक्षित रूप से रहना पसन्द किया। जब शूर्पणखी आपको मारने की इच्छा से हर ले गयी और जब जरासन्ध के लोगों ने आपको पर्वत की चोटी से फेंक दिया, तब मैंने लपककर आपको बीच में थाम लिया। इस समय आप पंचनद तीर्थ में हीमन्त पर्वत पर विराजमान हैं।''

वेगवती से सब हाल जानकर कुमार उसी पर्वत की उपत्यकाओं में उसके साथ रमण करते हुए रहने लगे।

एक दिन कुमार वसुदेव वहाँ इच्छापूर्वक घूम रहे थे कि उन्होंने नागपाश से बँधी हुई एक सुन्दर कन्या को देखा। उसे देखकर कुमार का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने उसे बन्धनमुक्त कर दिया। स्वतन्त्र होते ही उस कन्या ने अपने अतर्कित बन्धु वसुदेव को नमस्कार किया और मधुर स्वर से बोली, ''नाथ, आपके प्रसाद से मेरी विद्या सिद्ध हो गयी है। मैं दक्षिण श्रेणी पर स्थित गगनवल्लभ नगर की राजकन्या बालचन्द्रा हूँ। मैं नदी में बैठकर महाविद्या सिद्ध कर रही थी कि एक शत्रु विद्याधर ने मुझे नागपाश में बाँध दिया। आपने मुझे बन्धनमुक्त किया है। मैं एक दिन आपकी पत्नी होनेवाली हूँ, यह आप विश्वास करें। स्वामी, यह विद्या मैं आपको देना चाहती हूँ, आप इसे ग्रहण करें।''

राजकुमारी बालचन्द्रा के इस प्रकार कहने पर कुमार बोले, ''मेरी इच्छा है कि यह विद्या तुम वेगवती को दे दो।''

कुमार की आज्ञा से बालचन्द्रा ने यह विद्या वेगवती को दे दी और आकाश में उड़कर अपने नगर को चली गयी।

एक दिन वसुदेव वन में भ्रमण कर रहे थे। वहाँ उन्हें एक आश्रम दिखाई दिया। प्रवेश करने पर उन्हें कुछ तापस विकथा करते हुए मिले। कुमार वसुदेव बोले, ''तपस्वियो, आप लोग इस तरह राजकथा और युद्धकथा में क्यों लगे हैं? तापस

तो वे कहलाते हैं, जो तप में लगे हों और तप वह कहलाता है, जिसमें वाणी-संयम हो।''

उन्हें कुमार के प्रति विशिष्ट स्नेह की अनुभूति हुई। उन्होंने कहा, ''हम अभी नये ही दीक्षित हुए हैं, इसलिए मुनियों की वृत्ति को विशेष नहीं जानते।''

उन तपस्वियों ने पूरी कथा सुनाते हुए कहा, ''यह श्रावस्ती नगरी है। यहाँ का राजा एणीपुत्र अत्यन्त पराक्रमी और यशस्वी है। उसने अपनी अद्वितीय सुन्दरी कन्या प्रियंगुसुन्दरी के स्वयंवर के लिए हम सब राजाओं को बुलाया था; किन्तु किसी कारणवश उस परमशोभन कन्या ने किसी को नहीं वरा। जो राजा कन्या के लिए लालायित थे और उसे प्राप्त न कर पाने के कारण मन-ही-मन लज्जित हो रहे थे, कन्या के पिता के साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। महाराज एणीपुत्र ने अकेले ही उन सब राजाओं को तेजविहीन कर दिया। उनमें से कितने ही तो पराजय के कारण मर गये और कुछ तपस्वियों के वेश में इस सघन वन में आ घुसे हैं। हम वही हैं और धर्म के बारे में कुछ भी नहीं जानते। भद्र, आपके वचनों से पता लगता है कि आपने धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझा है, इसलिए आप हमें धर्म का उपदेश दीजिए।''

वसुदेव ने उन्हें श्रावक और मुनि के भेद से दोनों प्रकार का धर्म बतलाया। उस उपदेश को सुनकर तापस बने उन राजाओं ने वास्तविक साधुता प्राप्त की।

इसके उपरान्त प्रियंगुसुन्दरी को पाने की इच्छा से कुमार श्रावस्ती नगरी में आये। वहाँ उन्होंने बाहरी उद्यान में कामदेव का मन्दिर देखा। जिनमन्दिर में कामदेव और रति की मूर्ति देखकर कुमार को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। किसी ब्राह्मण से पूछने पर उसने बताया, ''कामदेव और रति को देखने के कौतूहल से सारे संसार के लोग जिनमन्दिर में आते हैं और इस बहाने उन्हें जिनधर्म की प्राप्ति हो जाती है।''

उस ब्राह्मण ने बातचीत जारी रखते हुए कहा, ''यहाँ कामदेव नाम का एक सेठ है। उसकी रूप और यौवन से परिपूर्ण बन्धुमती नाम की कन्या है। किसी निमित्तज्ञानी ने सेठ को बताया था कि जो मनुष्य कामदेव के मन्दिर का दरवाजा खोलकर कामदेव की पूजा करेगा, वही इसका पति होगा।''

ब्राह्मण से पूरी वार्ता जान लेने के बाद कुमार कामदेव के मन्दिर के द्वार पर जा पहुँचे और बत्तीस अर्गलाओं से दुर्गम उस द्वार को खोलकर भीतर प्रवेश किया। वसुदेव ने वहाँ पहले तो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं की पूजा की और उसके बाद रति-कामदेव की पूजा की।

उसी समय नगर का वह सेठ भी पूजा के लिए मन्दिर में आया। वसुदेव को देखकर उसकी आत्मा प्रसन्न हो गयी और उसने निमित्तज्ञानी के आदेशानुसार अपनी अत्यन्त सुन्दर कन्या बन्धुमती वसुदेव को ब्याह दी।

उसी समय नगरी में यह समाचार फैल गया कि कामदेव ने मनोरथों को पूर्ण करनेवाला कामदेव की तरह कोई अद्‌भुत जमाई सेठ कामदेव को दिया है। इस समाचार से प्रेरित होकर राजा अपने अन्त:पुर की स्त्रियों के साथ वसुदेव को देखने आया। राजकन्या प्रियंगुसुन्दरी ने भी उन्हें देखा और देखकर इतनी अनुरक्त हो गयी कि खाना-पीना सब छोड़ दिया। प्रियंगुसुन्दरी ने अपनी सखी बन्धुमती से एक दिन एकान्त में पूछा, ''तुम पति को बहुत प्यारी हो, कुछ उनके बारे में बताओ।''

भोली बन्धुमती ने पति की सारी चेष्टाओं का वर्णन इस तरह से किया कि प्रियंगुसुन्दरी मोहग्रस्त हो गयी। विवश होकर उसने द्वारपाल के हाथ वसुदेव के पास यह सन्देश भेजा : 'या तो मिलन स्वीकार करो या हमारी मृत्यु स्वीकार करो।'

सुनकर कुमार चिन्ता में पड़ गये और कुमारी से कुछ दिन ठहरने का सन्देश कहला भेजा। प्रियंगुसुन्दरी को कुमार की प्राप्ति की आशा बँध गयी और वह अपने मनोरथ को पूर्ण हुआ समझने लगी।

एक रात कुमार वसुदेव बन्धुमती को आलिंगन में लेकर सो रहे थे कि ज्वलनप्रभा नाम की एक दिव्य नागकन्या ने आकर उन्हें जगा दिया। कुमार जाग गये और उस दिव्य कन्या को देखकर आश्चर्य में पड़ गये। नागकन्या उन्हें विनयपूर्वक अशोकवाटिका में ले गयी और बोली, ''हे धीर, निश्चिन्त होकर मेरे आने का कारण सुनिए। मेरी बात आपके कानों को अत्यन्त प्रिय लगेगी।''

ज्वलनप्रभा ने कुमार को प्रियंगुसुन्दरी के जन्मपर्यन्त राजकुल की सारी कथा कह सुनायी। ज्वलनप्रभा स्वयं पूर्वजन्म में ऋषिदत्ता नाम की कन्या थी और प्रियंगुसुन्दरी के पिता एणीपुत्र की माता थी। प्रसूति के बाद उसकी मृत्यु हो गयी थी और सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उसने देवी-पद पाया था। तब से वह इस कुल की रक्षा नितान्त निजी स्नेह के कारण करती रहती है।

ज्वलनप्रभा ने कुमार को बताया, ''प्रियंगुसुन्दरी प्रियंगुपुरुष के समान श्यामल, अत्यन्त रूपवती और कोमलांगी है। राजा ने उसका स्वयंवर किया, किन्तु भोगों से विरक्त उस कन्या ने पृथिवी के सारे राजकुमारों को अस्वीकृत कर दिया। लेकिन जिस दिन से उसने आपको देखा है, वह रागजनित क्षोभ को सहन कर रही है। इसलिए हे वीर, तुम उसे स्वीकार करो। वह कन्या अदत्ता है, ऐसी आशंका मत करो, क्योंकि मैं उस कन्या को दे रही हूँ। इस राजकुल में जो भी कुछ करणीय होता है, मेरी ही सम्मति से होता है।''

नागकन्या ने कुमार को कामदेव के मन्दिर में अगले दिन की रात का संकेत दिया और अन्त में बोली, ''कुमार, आपको जो भी कुछ इष्ट हो, मुझसे माँगो।''

वसुदेव ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, ''देवि, मैं यही चाहता हूँ कि जब मैं आपका स्मरण करूँ, आप मेरा ध्यान रखें।''

"ठीक है।" कहकर वह देवी नागकन्या अन्तर्हित हो गयी।

अगले दिन कुमार रात के समय कामदेव के मन्दिर में प्रियंगुसुन्दरी से मिले। वहाँ उन दोनों ने गन्धर्वरीति से विवाह कर लिया। जब राजा को मालूम हुआ कि इन दोनों का यह मिलन देवी ने कराया है तो वह बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने सबकी जानकारी के लिए इनका विवाह करा दिया।

अब गुण और कलाओं की भण्डार रूपश्री सम्पन्न बन्धुमती और प्रियंगुसुन्दरी कुमार की सेवा करने लगीं। जिनमन्दिरों से सुशोभित श्रावस्ती नगरी में कुमार ने बहुत समय तक निवास किया।

कार्तिक पूर्णिमा की रात कुमार वसुदेव प्रियंगुसुन्दरी के साथ सुख की नींद सो रहे थे कि अचानक जाग उठे। आँख खुलते ही उन्होंने देखा कि उनके सामने लक्ष्मी की तरह रूपवती एक कन्या खड़ी है।

कुमार ने पूछा, "कमलाक्षी, तुम कौन हो?"

उत्तर में कन्या ने कहा, "कुमार, आप जल्दी ही मेरा सारा वृत्तान्त जान लेंगे। अभी आप मेरे साथ बाहर आइए।"

बाहर आकर वह कन्या भवन के तल पर बैठ गयी और अपने आने का कारण बताते हुए बोली :

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में गन्धसमृद्ध नाम का नगर है। उसके राजा गन्धार हैं और मैं उन्हीं की कन्या प्रभावती हूँ। मैं एक दिन मानसवेग के नगर स्वर्णनाभ गयी थी। माता अंगारवती से परिचय होने के कारण मैंने उनसे वेगवती के बारे में पूछा था। वहाँ मुझे मालूम हुआ कि चन्द्रमा के साथ जिस तरह चित्रा नक्षत्र का संयोग होता है, उसी तरह आपके साथ वेगवती का मिलन हुआ है।

स्वर्णनाभ नगर में ही सोमश्री भी रहती है, शुद्धशील ही उसका सुन्दर वेश और आपका नामजप उसका आहार है। उसके कपोल सफेद हो गये हैं और उन पर केश झूलते रहते हैं। आपकी उसी सोमश्री प्रिया ने मुझे आपके पास भेजा है और पूछा है—'आर्यपुत्र, यह सत्य है कि मैं अपनी शीलरूपी प्राचीर के अन्दर सुरक्षित हूँ, पर इस तरह मुझे यहाँ कितने दिन और रहना होगा? हे नाथ, इस शत्रु से आप मुझे जल्दी छुड़ाइए, कठोर बुद्धि होकर मेरी उपेक्षा न कीजिए।'

जब कुमार वसुदेव को प्रभावती की बात का अच्छी तरह विश्वास हो गया तो वे बोले, "सौम्या प्रभावती, तुम मुझे जल्दी ही सोमश्री के पास पहुँचा दो।"

अनुमति पाते ही प्रभावती कुमार को लेकर इतनी शीघ्रता से आकाश में उड़ी, मानो बिजली ही कौंध उठी हो। वे जल्दी ही स्वर्णनाभ नगर पहुँच गये। तीव्रता

से उड़ने के कारण प्रभावती का कटिवस्त्र कुछ नीचे खिसक गया था और शरीर रोमांच से व्याप्त था। उसने गुप्त रूप से वसुदेव को सोमश्री के घर जा उतारा। कुमार ने सोमश्री को देखा। विरह के कारण उसका मुख पीला पड़ गया था। उसने विरहावस्था की सूचक एक वेणी बाँध रखी थी तो ऐसा लगता था मानो पतले पुलवाली नदी ही हो। उसके होठ कुम्हला गये थे और वस्त्र म्लान थे।

पति को आया देख वह उठकर खड़ी हो गयी। कुमार ने सोमश्री का प्रगाढ़ आलिंगन किया। उन्हें देख ऐसा प्रतीत होता था, मानो विरह के भय से वे दोनों एक-दूसरे में समा गये हैं। सोमश्री ने कार्य सिद्ध करनेवाली सखी प्रभावती को गले से लगाया और मीठे वचनों से उसका अभिनन्दन किया। वसुदेव के आने का रहस्य प्रकट न हो जाए, इसलिए प्रभावती उन्हें अपना रूप और नाम देकर चली गयी। कुमार ने इस परिवर्तित रूप के साथ मानसवेग के घर में सोमश्री के साथ कितने ही दिन बिताये।

एक दिन सोमश्री पहले ही जाग गयी और सोये हुए पति को अपने निजी रूप में देखकर शत्रु-भय से रोने लगी। कुमार ने जागकर सोमश्री के रोने का कारण पूछा तो उसने कहा—आपका रूप परिवर्तित नहीं देख रही हूँ, यही मेरे रोने का कारण है।"

कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "रोओ मत, विद्याओं का यह स्वभाव है कि वे सोते हुए मनुष्य के शरीर को छोड़कर अलग हो जाती हैं और जागने पर पुन: आ जाती हैं।"

एक दिन मानसवेग ने कुमार वसुदेव को उनके असली रूप में देख लिया। वह क्रुद्ध हो उठा और 'वसुदेव हमारी स्त्री सोमश्री के साथ रूप बदलकर रहता है'—यह शिकायत लेकर वैजयन्ती नगरी के राजा बलसिंह के पास गया। राजा बलसिंह न्यायी पुरुष था। जब उसने इस आरोप की छानबीन की, तो मानसवेग हार गया। वह पराजय की लज्जा से वसुदेव के साथ युद्ध करने के लिए उठ खड़ा हुआ। यह देख कितने ही विद्याधर वसुदेव का पक्ष लेकर खड़े हो गये। वेगवती की माता ने जमाई वसुदेव को एक दिव्य धनुष और दिव्य बाणों से भरे दो तरकश दिये और प्रभावती ने युद्ध का समाचार जानकर कुमार को प्रज्ञप्ति नाम की विद्या दी। वसुदेव और मानसवेग का युद्ध हुआ। कुमार ने अपनी शक्ति और दिव्यास्त्रों तथा विद्याओं के प्रभाव से मानसवेग को बाँध लिया। अंगारवती ने कुमार से पुत्र की भिक्षा माँगी। दयावान कुमार ने मानसवेग को सोमश्री के पास ले जाकर छोड़ दिया। इस घटना से मानसवेग का हृदय बदल गया और वह कुमार का गहरा बन्धु हो गया। वह सोमश्री के साथ कुमार को विमान में बैठाकर महापुर ले गया। सोमश्री को पाकर उसके कुटुम्बीजन बहुत प्रसन्न हुए और मानसवेग भी आज्ञा लेकर वापस लौट गया।

सोमश्री और कुमार कामरस के अधीन हो सुख से रहने लगे।

फिर एक घटना घटी। कुमार ने जिसका वध किया था, उस त्रिशिखर का पुत्र सूर्पक एक दिन उन्हें हर ले गया और उन्हें आकाश से नीचे गिरा दिया। भाग्य से वे गंगानदी के जल में गिरे। गंगा पार कर कुमार एक आश्रम में पहुँचे, वहाँ उन्होंने मनुष्यों की हड्डियों का सेहरा बाँधे एक पागल स्त्री को देखा। उत्सुकतावश कुमार ने एक तापस से पूछा, "यह सुन्दरी कौन है, जो उन्मादिनी हो इधर-उधर भटक रही है?"

तापस ने कहा, "यह राजा जरासन्ध की पुत्री केतुमती है और राजा जितशत्रु की पत्नी है। किसी मान्त्रिक ने इसे वशीभूत कर लिया था। वह मर गया। अब यह उसकी हड्डियों की माला पहनकर घूमती है।"

सुनकर वसुदेव का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने महामन्त्रों के प्रभाव से केतुमती को पिशाच-मुक्त कर दिया।

जरासन्ध के आदमी वहाँ पहले से ही नियुक्त थे। उन्होंने कुमार वसुदेव को घेर लिया और राजगृह में ले गये।

उपकारी कुमार ने पूछा, "राजपुरुषो, यह तो बताओ, मैंने राजा का कौन-सा अपराध किया है कि आप मुझे इस तरह पकड़कर लिये जा रहे हैं?"

राजपुरुष बोले, "निमित्तज्ञानियों ने राजा से कहा था कि जो राजपुत्री के पिशाच का निग्रह करेगा, वह राजा के घात करनेवाले शत्रु का पिता होगा। इसलिए हम तुम्हें वधस्थान पर ले जा रहे हैं।"

वधभूमि में जब कुमार के वध की तैयारी हो गयी, तभी कोई विद्याधर उन्हें झपटकर आकाश में ले गया। इस विद्याधर ने कुमार को सम्बोधित करते हुए कहा, "वीर, मैं प्रभावती का पितामह भगीरथ हूँ और तुम्हें प्रभावती के पास ले जाने के लिए आया हूँ। तुम मुझे अपने मनोरथ को पूर्ण करनेवाला समझो।"

वह विद्याधर उन्हें विजयार्ध पर्वत पर ले गया, जहाँ प्रभावती का गन्धसमृद्ध नगर था। बड़े वैभव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश हुआ और प्रशस्त तिथि-नक्षत्र के योग में वसुदेव और प्रभावती का विवाह हुआ। वसुदेव और प्रभावती पहले से ही एक-दूसरे के अंगस्पर्श का रोमांच अनुभव कर चुके थे, अब वे वर-वधू बनकर प्रेमपूर्ण भोगसागर में निमग्न हो गये।

कुमार जिनधर्म को धारण करनेवाले थे, इसलिए साधारण मनुष्य की अपेक्षा उन्होंने हजारों बार हजारों प्रियजनों का संयोग प्राप्त किया।

तभी एक दिन जलक्रीड़ा कर रहे कुमार को उनका वैरी सूर्पक हरकर ले गया। उससे छूटकर वे भागीरथी नदी में जा गिरे। वहाँ से निकलकर वे वन में घूमने लगे। वहाँ म्लेच्छों के राजा ने उन्हें देखा और अपनी कन्या जरा का पाणिग्रहण कुमार के साथ कर दिया। पराक्रमी वसुदेव के उस कन्या से जरत्कुमार नाम का यशस्वी पुत्र उत्पन्न

हुआ। कुमार ने अवन्तिसुन्दरी, शूरसेना और वर खोजने के लिए निकली जीवद्यशा नाम की श्रेष्ठ कन्याओं से विवाह किया। अब वसुदेव अरिष्टपुर नगर में आये।

अरिष्टपुर का राजा रुधिर था और उसकी महारानी मित्रा थी जो अपनी प्रभा के कारण देवी के समान जान पड़ती थी। इनका पुत्र था हिरण्य-नीतिवेत्ता, रणनिपुण, महापराक्रमी और शास्त्र एवं शस्त्रों का शिखरस्थ अधिकारी। पुत्री थी रोहिणी—कलाओं में पारंगत, रूपश्रीसम्पन्न, युवती। रोहिणी सचमुच ही रोहिणी नक्षत्र के समान कीर्तिमती थी।

रोहिणी के स्वयंवर में जरासन्ध को अग्रणी बना वसुदेव के बड़े भाई राजा समुद्रविजय भी आये और अन्य अनेक राजाओं के अलावा मथुरा के राजा उग्रसेन ने भी स्वयंवर में भाग लिया। ये अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी राजा स्वयंवर-मण्डप में मणिमय खम्भों से सुशोभित मंचों पर बैठ गये।

समुद्रविजय आदि भाई वसुदेव को न पहचान सकें, इसलिए उन्होंने अलग वेश बदला और स्वयंवर में 'पणव' बाजा बजानेवाले लोगों के अग्रणी वादक बनकर बैठ गये।

इन सब राजाओं के यथास्थान बैठ जाने पर रूप की खान भाग्यशालिनी कन्या रोहिणी ने स्वयंवर सभा में प्रवेश किया। उस समय सब राजाओं ने अपने नेत्र-कमलों से उसकी पूजा की। रूपसी रोहिणी की कीर्ति सुनकर जिन राजाओं के हृदय में अभिलाषा का अंकुर फूटा था, वह इस कन्या को देखते ही वृक्ष की तरह विशाल हो गया। प्रीति परमप्रीति में बदल गयी।

शंख और तुरही की ध्वनि के शान्त होने पर पवित्र वचन बोलनेवाली धाय कुमारी को सब राजाओं के सम्मुख ले गयी।

उसने सर्वप्रथम जरासन्ध को दिखलाते हुए कुमारी से कहा, ''पुत्री, जिसका यह सफेद छत्र चन्द्रमण्डल के समान सुन्दर है और तीन खण्डों की विजय के कारण प्राप्त हुए यश की शुभ्रता को धारण करता है, सारी पृथिवी का स्वामी यह जरासन्ध बैठा है। ऐसा लगता है, आकाश से रोहिणी नक्षत्र का साथ छोड़ तुझ रोहिणी को पाने के लिए चन्द्रमा ही उतर आया है, तू इसे स्वीकार कर।''

सतोगुणी धाय ने जब देखा, जरासन्ध में रोहिणी का अनुराग नहीं है तो उसने आगे बढ़कर कहा, ''ये जरासन्ध के कीर्तिमान पुत्र हैं, इनमें जो तुझे प्रिय लगे, तू उसका वरण कर।''

जब उनमें भी रोहिणी विरक्त रही तो धाय उसे राजा उग्रसेन के सामने ले गयी। वहाँ भी राजकन्या उन्मुख न हो सकी तो चित्तवृत्ति को जाननेवाली धाय ने आगे बढ़कर कहा, ''पुत्री, ये शौर्यपुर के स्वामी समुद्रविजय बैठे हैं, अगर तेरी रुचि हो तो इनके गले में वरमाला डाल।''

धाय के इस तरह कहने पर रोहिणी ने इन सब राजाओं को गुरुजन समझकर नमस्कार किया। इसके उपरान्त धाय ने राजा पाण्डु और विदुर को दिखाया। जब इनमें से किसी पर भी कन्या का अनुराग नहीं दिखा, तब उसने अनेक यशस्वी राजाओं के कुल और पराक्रम का वर्णन करके रोहिणी का मन आकर्षित करना चाहा। इसके बाद और भी अनेक राजाओं का परिचय देने के बाद धाय बोली, ''राजकुमारी, मैंने सभी राजाओं को तुझे दिखा दिया है। तू चुप क्यों है? इनमें से जो भी तेरे मन को भाता है, उसके गले में वरमाला डाल दे। ये सभी राजा तेरे सौभाग्यगुण से आकर्षित होकर इस स्वयंवर में आये हैं। जो भी तेरे मन को हरता हो, वरकर उसके सौभाग्य को प्रकाशित कर।''

धाय ने आगे समझाते हुए कहा, ''बेटी, तेरे लिए योग्य पति की प्राप्ति की चिन्ता से तेरे माता-पिता की नींद नष्ट हो गयी है। इसलिए योग्य वर को स्वीकार कर उन्हें सुखी बना।''

धाय की बात सुनकर रोहिणी बोली, ''माता, आपने ठीक कहा है। लेकिन इनमें से किसी भी राजा पर मेरा मन अनुरक्त नहीं हो रहा है। देखने के बाद ही जिसके ऊपर हृदय में स्नेह की अनुभूति हो, उसे वरने में ही सुख है। इन राजाओं पर न मुझे राग है, न द्वेष है, न मोह है, न शून्यता है। मेरे मुनिमन ने किसी कारण से इन सबकी उपेक्षा कर दी है। यदि विधाता ने कोई और वर मेरे लिए रचा है, तो मैं उसे आज ही वरना चाहती हूँ।''

रोहिणी ने अपनी बात समाप्त ही की थी कि उसने चित्त को भेदनेवाली पणव की मधुर ध्वनि सुनी। उस ध्वनि में कुछ ऐसा खिंचाव था कि कुमारी ने घूमकर उस तरफ देखा। वहाँ राजलक्षणों से युक्त कुमार वसुदेव को देखकर रोहिणी का मन उसी क्षण झुक गया। दोनों की दृष्टि मिली और नुपूर-ध्वनि करती राजकुमारी ने पास जाकर वसुदेव के गले में माला डाल दी।

मंच पर आसीन वसुदेव के पास बैठी रोहिणी, चन्द्रमा के निकट स्थित रोहिणी तारा के सदृश मनोहारिणी लग रही थी।

उस स्वयंवर को देखकर कुछ राजाओं को अत्यन्त आनन्द हुआ। वे कहने लगे, ''अहा, मणिकांचन योग की तरह इन दोनों वर-वधू का संयोग हुआ है। इस कन्या का चातुर्य विलक्षण है, जो इसने छिपे कुलवाले, लक्ष्मीसम्पन्न, पुरुषों में देवतुल्य इस राजा को पहचान कर वरा है।''

जिनके हृदय में द्वेष था, वे राजा कहने लगे, ''इसने पणववादक को वर चुनकर अन्य राजाओं की उपेक्षा की है और इस तरह कुलमर्यादा का उल्लंघन किया है। यह सभा कुलीन मनुष्यों की है, अकुलीनों की नहीं। अगर यह पणव-वादक अपना कुल नहीं बताता है, तो निश्चित ही यह नीच कुल में उत्पन्न हुआ है। इसे यहाँ

से हटा दिया जाए और राजकन्या किसी राजपुत्र को दी जाए।''

राजाओं का क्षोभ देखकर धीर-वीर वसुदेव ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, ''अहंकार से भरे कुलीन क्षत्रियो, आप हमारी बात सुनें। स्वयंवर में आयी हुई कन्या अपनी इच्छा के अनुरूप कुलीन अथवा अकुलीन वर को वरती है। स्वयंवर में कुलीन अथवा अकुलीन का कोई क्रम नहीं है। इसलिए स्वयंवर की विधि को जाननेवाले पुरुषों को इस विषय में किसी प्रकार की अशान्ति करना उचित नहीं है। कोई महाकुल में उत्पन्न होकर भी स्त्री के लिए अप्रिय होता है और कोई नीच कुल में उत्पन्न होकर भी स्त्री का प्रिय होता है। यही कारण है कि इस विषय में कुल और सौभाग्य का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसलिए अगर इस कन्या ने मुझ अपरिचित का सौभाग्य प्रकट किया है तो इस विषय में आप लोगों को कुछ नहीं कहना चाहिए।

''इतने पर भी अगर आपमें से किसी को अपने पराक्रम का गर्व और अशान्ति है तो मैं उसे अपने बाणों से शान्त कर दूँगा।''

वसुदेव के वचन सुनकर राजा जरासन्ध क्रोधित हो उठा। उसने राजाओं को आज्ञा दी, ''इस उद्दण्ड को और पुत्रसहित राजा रुधिर को पकड़ लो।''

दुष्ट स्वभाव के राजा पहले से ही खार खाये बैठे थे। चक्रवर्ती का आदेश पाकर वे और भी उबल उठे। जो राजा इस पापकार्य में नहीं पड़ना चाहते थे, वे अपनी सेनाओं के साथ अलग हो गये और दुष्ट राजाओं ने युद्ध की तैयारी कर ली।

राजा रुधिर का पुत्र स्वर्णनाभ रोहिणी को अपने रथ पर चढ़ाकर खड़ा हो गया और राजा रुधिर श्रेष्ठ व वसुदेव को अपने रथ पर सवार कर सेना के आगे खड़े होकर बोले, ''महारथियो, तुम लोग युद्ध में अपने अनुरूप कार्य करो।''

वसुदेव ने अपने श्वसुर राजा रुधिर से कहा, ''पूज्य, आप मुझे अनेक शस्त्रास्त्रों से भरा रथ दीजिए, ताकि ये लोग युद्ध में मुझ अज्ञात कुलवाले के बाणों से शीघ्र ही बिद्ध हो सकें।''

कुमार के वचन सुनकर राजा रुधिर बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने श्रेष्ठ शस्त्रास्त्रों से भरा, वेगशाली घोड़ों से जुता महारथ कुमार के लिए मँगाया। तभी दिव्य अस्त्रों से देदीप्यमान दधिमुख नाम का विद्याधर मनोरथ की तरह कुमार के निकट आ पहुँचा। वह अत्यन्त श्रेष्ठ रथ पर सवार था। उसने कुमार से कहा, ''आप शीघ्र ही मेरे रथ पर आरूढ़ हो जाएँ, युद्ध में मैं आपका सारथी रहूँगा।''

दधिमुख के वचन सुनते ही कुमार वसुदेव धनुष हाथ में ले अनेक प्रकार के बाणों से भरे हुए उस रथ में चढ़ गये। राजा रुधिर की विशाल सेना शत्रु-सेना के नाश का निश्चय कर कुमार वसुदेव के निकट आ गयी। अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ कुमार शत्रु की समुद्र की तरह विराट सेना के सम्मुख गये।

शंख, तुरही आदि के शब्दों के साथ युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों तरफ की चतुरंग सेनाएँ भिड़ गयीं। सघन बाणों के समूह से आकाश व्याप्त हो गया। फैलते हुए अन्धकार के कारण ऐसा लगता था कि सूरज की किरणों का संचार रुक गया है। हाथियों का गिरना पहाड़ों के गिरने की तरह जान पड़ता था। आदमी, रथ और घोड़े जीर्ण-शीर्ण होकर धराशायी हो रहे थे। उस महायुद्ध में न कोई ऐसा हाथी था, न रथ, न घोड़ा, न मनुष्य ही, जो वसुदेव के तीक्ष्ण बाणों से जर्जरित न हुआ हो। वसुदेव बाणों के प्रहार से शत्रुओं के सफेद छत्र, धवल कीर्ति और उन्नत शिरों को एक साथ नीचे गिरा रहे थे। वसुदेव का ऐसा भयंकर युद्ध देखकर बहुत से शत्रु एक होकर कुमार पर बाणों की वर्षा करने लगे। कुमार की शूरता देखकर शत्रु भी उन्हें साधुवाद दिये बिना न रह सके।

जो राजा युद्ध से विरत अलग खड़े थे और न्याय-नीति को जाननेवाले थे, उन्होंने कहा, ''हमें यह युद्ध नहीं देखना चाहिए, क्योंकि यह तो एक का अनेक के साथ युद्ध है।''

उनकी बात सुनकर धर्मयुद्ध को देखने की इच्छा से जरासन्ध ने कहा, ''इसके साथ एक-एक राजा युद्ध करे।''

राजा जरासन्ध का आदेश पाकर राजा शत्रुंजय युद्ध के लिए सामने आये। कुमार ने शत्रुंजय के द्वारा चलाये हुए बाणों को दूर फेंककर उसके रथ और कवच को तोड़ डाला और उसे मूर्छित कर छोड़ दिया। शत्रुंजय के बाद राजा दन्तवक्त्र युद्ध करने लगा, किन्तु कुमार ने उसका रथ भी तोड़ डाला और उसे भगा दिया। इसके बाद कालमुख और राजा शल्य आये। अत्यन्त बलवान कुमार ने एक को तो निष्प्राण-सा कर दिया और दूसरे को जृम्भण-अस्त्र से बाँध लिया।

यह सब देखकर जरासन्ध ने समुद्रविजय से कहा, ''शूरवीर, तुम अस्त्रविद्या में अत्यन्त निपुण हो, इसलिए इस बालक का गर्व हरण करो।''

समुद्रविजय न्याय-नीति के ज्ञाता थे और युद्ध नहीं करना चाहते थे, फिर भी वे स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए उठे। उनके रथ की ध्वजा बहुत ऊँची थी और छत्र लगा हुआ था। समुद्रविजय की आज्ञा पाकर सारथी ने वह रथ वसुदेव के रथ की तरफ दौड़ाया।

वसुदेव ने दूर से ही बड़े भाई के रथ को देखा और अपने सारथी से कहा, ''दधिमुख, ये हमारे पितातुल्य हैं। तुम हमारे रथ को इनके आगे धीरे-धीरे ले जाना। मुझे रणभूमि में इनकी रक्षा का ध्यान रखते हुए युद्ध करना है।''

युद्ध के मैदान में आने पर राजा समुद्रविजय ने अपने सारथी से कहा, ''भद्र, इस योद्धा को देखकर मेरा मन स्नेहसिक्त क्यों हो रहा है? दाहिनी आँख और भुजा भी फड़क रही है जो किसी बन्धु के मिलन को सूचित करती है। लेकिन युद्ध के

मैदान में, जहाँ शत्रु सामने खड़ा है, किस बन्धु का मिलन होगा?''

समुद्रविजय की बात सुनकर सारथी बोला, ''स्वामी, अभी आप शत्रु के सामने खड़े हैं। जब आप इसे जीत लेंगे, तब अवश्य ही बन्धु-समागम होगा। हे नाथ, यह शत्रु दूसरों के लिए अजेय है, इसे जीतकर आप राजाधिराज जरासन्ध से विशिष्ट सम्मान प्राप्त करेंगे।''

सारथी के वचनों से प्रसन्न होकर समुद्रविजय ने अपना धनुष उठाया और तरकश से बाण निकालकर धनुर्धारी कुमार वसुदेव से कहा, ''शूरवीर, युद्ध में तुम्हारे धनुष का जैसा कौशल देखा है, अब भी वैसी ही कुशलता दिखाओ तो जानें। तुम शूरवीरता के पर्वत हो और तुम्हारे मान का शिखर अभी तक अनाच्छादित है। मैं बाणों के मेघों से इसे अभी ढँकता हूँ, मैं समुद्रविजय हूँ।''

कुमार ने आवाज बदलकर कहा, ''हे राजेन्द्र, आप समुद्रविजय हैं, तो मैं संग्रामविजय हूँ। हमें अधिक बोलने से क्या लाभ! जो जैसा है, सामने आ जाएगा। अब आप धनुष पर बाण को रखिए।''

कुमार के वचन सुनकर समुद्रविजय ने अचानक क्रोधभाव धारण किया और बाणों की वर्षा करने लगे। उधर कुमार उनके सभी बाणों को बीच में ही काट देते थे। परम शूरवीर उन दोनों ने अनेक अस्त्रों से बहुत समय तक युद्ध किया। वसुदेव के अस्त्र-कौशल को देखकर राजा लोग उनकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। अन्त में क्रोध में आकर समुद्रविजय ने अपना हजारों अस्त्रों से युक्त दिव्य रौद्रास्त्र छोड़ा, लेकिन वसुदेव ने शीघ्र ही अस्त्रों को आच्छादित करनेवाला अपना ब्रह्मशिर नाम का दिव्यास्त्र छोड़कर बड़े भाई द्वारा छोड़े गये अस्त्र को बीच में ही काट डाला। वसुदेव का शस्त्र चलाने का कौशल अत्यन्त प्रशंसनीय था क्योंकि उन्होंने सभी अस्त्र-प्रयोगों के बीच अपने बड़े भाई को सुरक्षित रखा था।

युद्ध करते-करते वसुदेव का हृदय स्नेह से भर गया और उन्होंने अपने बड़े भाई के पास अपने नाम से अंकित बाण भेजा। उनका वह बाण मन्दगति से चलता हुआ समुद्रविजय के पास पहुँचा। राजा समुद्रविजय ने उसमें लिखे ये शब्द पढ़े :

'महाराज, मैं अज्ञात रूप से निकला आपका छोटा भाई वसुदेव हूँ और सौ बरसों के बीत जाने पर आज आत्मीयजनों के समीप आया हूँ। हे आर्य, मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ।'

भ्रातृस्नेह की अधिकता के कारण समुद्रविजय ने अपना धनुष दूर फेंक दिया और रथ से उतरकर दौड़ते हुए छोटे भाई के पास पहुँचे।

वसुदेव भी रथ से उतरकर दूर से ही उनके चरणों में गिर गये। समुद्रविजय ने उन्हें बाँहों में भर लिया और रोने लगे। उसी समय दूसरे भाई भी आ गये और सब गले लगकर रोने लगे। महाराजा जरासन्ध भाइयों के इस मिलन को देखकर

बहुत प्रसन्न हुए। उधर रोहिणी के भाई, पिता तथा अन्य सम्बन्धी जनों ने भी रोहिणी की इस वर के चुनाव के लिए बहुत प्रशंसा की।

बहुत दिनों तक सब राजा अपने-अपने शिविरों में वसुदेव की ही कथा कहते रहे। तब एक दिन शुभतिथि में, जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में था, वसुदेव ने रोहिणी से विधिपूर्वक विवाह किया। आसक्त वसुदेव नयी विवाहिता के मुखकमल के भौंरे बन गये थे। इसलिए उन्होंने पहली स्त्रियों का स्मरण भी नहीं किया।

एक रात रोहिणी अपने पति के साथ कोमल शय्या पर सो रही थी कि उसने शुभसूचक चार स्वप्न देखे। पहले स्वप्न में उसने देखा, चन्द्रमा के समान सफेद विशाल हाथी, जो गम्भीर गर्जना कर रहा था। दूसरे स्वप्न में उसने पर्वत की तरह ऊँची-ऊँची लहरोंवाला, गरजता हुआ समुद्र देखा। तीसरे स्वप्न में पूर्ण चन्द्रमा को देख रोहिणी का मनोरथ पूर्ण हो गया और चौथे स्वप्न में उसने देखा कि कुन्दपुष्प के समान सफेद सिंह उसके मुख में प्रवेश कर रहा है।

सुबह प्रफुल्ल नेत्रोंवाली रोहिणी ने ये स्वप्न पति को बतलाये।

वसुदेव ने कहा, ''प्रिय रोहिणी, तुम जल्दी ही ऐसे पुत्र की माता बनोगी, जो धीर-वीर, चन्द्रमा की द्युति को धारण करनेवाला, अद्वितीय वीर, जनप्रिय और पृथिवी का स्वामी होगा।''

पति से स्वप्नों का फल सुनकर रोहिणी आनन्द से भर उठी कि तभी महासामानिक देव स्वर्ग से च्युत होकर रोहिणी के गर्भ में आ गया। नौं माह सुख से पूरे होने पर रोहिणी ने शुभ नक्षत्रों में अत्यन्त कान्तिमान पुत्र को जन्म दिया।

स्वयंवर के बाद जरासन्ध आदि राजा एक वर्ष तक राजा रुधिर का आतिथ्य ग्रहण कर रहे थे। अब पुत्र का जन्मोत्सव मनाकर प्रसन्न होते हुए सब अपने-अपने राज्यों को लौटे।

अत्यन्त अभिराम होने के कारण उस बालक का नाम पड़ा 'राम' और वह माता-पिता, बन्धुजनों का प्रीतिवर्धन करता हुआ दिन-प्रतिदिन बड़ा होने लगा।

एक दिन कुमार वसुदेव के सभी भाई राजा रुधिर के श्रीमण्डप में बैठे हुए थे कि एक दिव्य विद्याधरी आकाश से उतरकर वहाँ आयी और सबका अभिनन्दन कर आसन पर बैठ गयी। कुछ समय बाद उसने वसुदेव को लक्ष्य कर कहा, ''देव, आपकी पत्नी वेगवती और मेरी बेटी बालचन्द्रा आपका प्रियदर्शन करना चाहती हैं। कुमारी बालचन्द्रा के प्राण आप में ही अटके हैं, आप शीघ्र चलें और विवाह कर उसे सन्तुष्ट करें।''

विद्याधरी के वचन सुनकर कुमार ने बड़े भाई समुद्रविजय की तरफ देखा। समुद्रविजय ने उन्हें अनुमति दी और कहा, ''जल्दी जाओ।''

वह विद्याधरी वसुदेव को लेकर गगनवल्लभ नगर गयी और समुद्रविजय आदि

राजा शौर्यपुर चले गये।

वसुदेव ने गगनवल्लभ नगर में वेगवती से मिलकर बालचन्द्रा से विवाह किया। वहाँ कुछ दिन रहकर कुमार ने शौर्यपुर लौटने की इच्छा प्रकट की तो नागकन्यादेवी ने उन्हें रत्नमण्डित एक विमान दे दिया। पत्नी बालचन्द्रा और वेगवती को लेकर कुमार इच्छानुसार चलनेवाले उस विमान से अरिंजयपुर आये। वहाँ से उन्होंने पत्नी मदनवेगा और पुत्र अनावृष्टि को लिया और गन्धसमृद्ध नगर में जाकर प्रभावती से मिले। हर्षित प्रभावती को विमान में बैठाकर वे असितपर्वत नगर पहुँचे, जहाँ पत्नी नीलयशा विरह में सूख रही थी। प्रियंगुसुन्दरी, बन्धुमती, सोमश्री आदि को लेकर कुमार भद्रिलपुर गये। वहाँ पुत्र पौण्ड्र को बसाकर और वेदसामपुर में पुत्र कपिल को राज्य देकर कुमार अपनी अन्य सभी स्त्रियों के साथ उस अत्यन्त देदीप्यमान और सुन्दर संगीतमय विमान के द्वारा शौर्यपुर पहुँचे।

नागकन्या देवी ने पहले से ही आकर समुद्रविजय को सब समाचार सुना दिया था। राजा ने कुमार के स्वागत में नगरी को इन्द्रपुरी की तरह सज्जित किया था। समुद्रविजय सारे बन्धु-बान्धवों को लेने के लिए गये। कुमार ने अपनी समस्त स्त्रियों सहित विमान से उतरकर बड़े भाइयों तथा गुरुजनों को प्रणाम किया। महारानी शिवादेवी ने अन्य रानियों के साथ कुमार को फिर कभी न बिछुड़ने का आशीर्वाद दिया।

कुमार ने सारी प्रजा का सम्मान किया और प्रजा ने भी उनके प्रति आदरभाव प्रकट किया। वसुदेव शूरवीर थे, राजाओं के विजेता थे, उदार और सुन्दर चरित्र को धारण करते थे, विद्याधरी स्त्रियों के स्वामी थे, देवतुल्य थे और अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे। उन्हें देखकर शौर्यपुर के लोग सिर हिला-हिलाकर यही कहते थे, 'यह पूर्वोपार्जित पुण्य का प्रताप है।'

आठवाँ प्रकरण

वसुदेव अब शौर्यपुर में ही रहने लगे। शूरवीर राजकुमारों ने उनसे शस्त्र-विद्या सिखाने की प्रार्थना की, तो वे उन्हें शस्त्र-विद्या का अभ्यास कराने लगे।

एक बार वसुदेव धनुर्विद्या में कुशल अपने कंस आदि शिष्यों के साथ राजा जरासन्ध से मिलने के लिए राजगृह नगर गये। कुमार ने देखा कि राजगृह नगर में बाहर से अनेक राजा आये हुए हैं। तभी उन्होंने महाराजा जरासन्ध के द्वारा की गयी यह घोषणा सुनी :

'सिंहपुर का स्वामी राजा सिंहरथ बड़ा उद्दण्ड है। अत्यन्त पराक्रमी यह राजा जीवित सिंहों के रथ पर सवार होता है। जो वीर उसे जीवित पकड़कर हमारे सामने लाएगा, वही संसार में परमशूर समझा जाएगा। इस शत्रु के यशसमुद्र को चुल्लू की तरह पीनेवाले पुरुष को अपार धन तो अर्पित किया ही जाएगा, साथ ही अत्यन्त यशस्विनी अपनी अद्वितीय सुन्दरी कन्या जीवद्यशा भी मैं उसे इच्छित देश के साथ दूँगा।'

इस घोषणा को सुनकर वीर-रस में पगे धीर-वीर वसुदेव ने कंस से प्रतिज्ञारूप पताका उठवायी।

वसुदेव विद्यानिर्मित सिंहों के रथ पर सवार होकर कंस को साथ लेकर सिंहपुर गये। जब सिंहरथ सिंहों के रथ पर बैठकर युद्ध के लिए वसुदेव के सामने आया तो उन्होंने बाणों से उसके सिंहों की रासें काट डालीं, जिससे उसके सिंह भाग गये। उसी समय कंस ने गुरु वसुदेव की आज्ञा से उछलकर शत्रु को बाँध लिया। कंस की चतुरता देख वसुदेव ने उससे कहा, ''वर माँग।''

कंस ने वर धरोहर के रूप में वसुदेव के पास ही रहने दिया।

वसुदेव शत्रु सिंहरथ को राजा जरासन्ध के सामने ले गये। शत्रु को सामने पाकर जरासन्ध बहुत सन्तुष्ट हुआ और बोला, ''कुमार, अब तुम मेरी पुत्री जीवद्यशा को विवाह में स्वीकार करो।''

वसुदेव बोले, ''शत्रु सिंहरथ को मैंने नहीं, कंस ने पकड़ा है।''

कन्या देने से पहले जरासन्ध ने कंस से उसकी जाति पूछी।

कंस बोला, ''महाराज, मेरी माता मंजोदरी कौशाम्बी में रहती है और मदिरा बनाने का काम करती है।''

राजा जरासन्ध को विश्वास नहीं हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा, 'इसकी आकृति कहती है कि यह मदिरा बनानेवाली का पुत्र नहीं है।'

जरासन्ध ने तत्काल अपने आदमी भेजे और कौशाम्बी से मंजोदरी को बुलाया। मंजोदरी मंजूषा लेकर वहाँ आ पहुँची। राजा के पूछने पर उसने बताया, ''स्वामी, मैंने यमुना की धारा में इसे मंजूषा के साथ पाया था। इस शिशु को देखकर मुझे दया आ गयी और मैंने सबकी लांछना सहकर भी इसका पालन-पोषण किया। यह बालक पुण्यवान होने पर भी अभागा जान पड़ता है। बचपन से ही यह उग्र और कठोर है। बच्चों के साथ खेलता था तो उनके सिर में थप्पड़ लगाये बिना नहीं खेलता था। मदिरा खरीदने के लिए आयी वेश्याओं की लड़कियों की चोटियाँ खींचता था। इसकी इन सब बुरी प्रवृत्तियों के कारण लोग शिकायतें ले-लेकर आने लगे और मुझे डरकर इसे निकाल देना पड़ा।

'अब सुना है कि शस्त्र-विद्या सीखने के लिए यह किसी का शिष्य बन गया है। प्रभो, यह काँस की मंजूषा ही इसकी माता है, मैं नहीं। इसके गुण-दोषों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।'

यह कहकर मंजोदरी ने वह मंजूषा जरासन्ध को दे दी। जब मंजूषा खोली गयी तो उसमें एक मुद्रिका दिखी। राजा जरासन्ध उसे पढ़ने लगा। उसमें लिखा था : 'यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावती का पुत्र है। जब यह गर्भ में था, तभी से अत्यन्त उग्र था। इसकी उग्रता से भयभीत होकर इसे छोड़ा गया है। यह जीवित रहे और इसके अपने कर्म ही इसकी रक्षा करें।'

मुद्रिका को पढ़कर राजा समझ गया कि यह हमारा भानजा है और राजपुत्र है। उसने प्रसन्न होकर अपनी गुणशालिनी कन्या जीवद्यशा उसे दे दी।

पिता ने मुझे पैदा होते ही नदी में छोड़ दिया था, यह जानकर कंस को बड़ा क्रोध आया, इसलिए उसने जरासन्ध से मथुरा का राज्य माँगा और जरासन्ध ने उसे दे भी दिया।

विशाल सेना, अपार धन और जीवद्यशा के साथ कंस मथुरा गया। वहाँ उसने युद्ध में पिता उग्रसेन को पराजित कर उन्हें बन्दी बना लिया और उन्हें नगर के मुख्य द्वार के ऊपर कारा में डाल दिया।

कंस वसुदेव का आभारी था। वह सदा अपने को उनका सेवक समझता था और उनका कोई प्रति-उपकार करना चाहता था। एक दिन वह उन्हें भक्तिपूर्वक

मथुरा ले आया और उन्हें गुरुदक्षिणा स्वरूप अपनी बहन देवकी प्रदान कर दी। कंस का आग्रह मानकर वसुदेव भी मीठे वचन बोलनेवाली कान्तिमती देवकी के साथ रमण करते हुए मथुरा में रहने लगे। शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला जरासन्ध का अत्यन्त प्रिय कंस भी मथुरा का शासन करने लगा।

एक दिन कंस के बड़े भाई अतिमुक्तक मुनि आहार के लिए राजमन्दिर में आये। जीवद्यशा ने उन्हें नमस्कार किया, फिर कुछ निर्मर्याद होकर विलासपूर्वक बोली, "मुनिवर, यह देखिए, यह आपकी बहन देवकी का आनन्द वस्त्र है।"

राज्यवैभव से मदोन्मत्त जीवद्यशा को आचार की शिक्षा देने के लिए मुनिराज ने अपनी 'वचनगुप्ति' तोड़ दी और बोले, "जीवद्यशा, तेरी हँसी तेरी बड़ी भारी मूर्खता है। शोकप्रद स्थान में तू अज्ञानवश आनन्द मना रही है। यह निश्चित समझ कि देवकी का पुत्र ही तेरे पति और पिता को मारनेवाला होगा। यह होनहार है, इसे कोई नहीं टाल सकता।"

सुनते ही जीवद्यशा भयभीत हो उठी। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। वह भागी हुई पति के पास गयी और सारी बातें बतायीं। कंस का मन भी शंकित हो उठा। वह तीक्ष्णबुद्धि तो था ही, उसने शीघ्र ही उपाय सोच लिया और सत्यवादी वसुदेव के पास जाकर उनके चरण पकड़कर बोला, "गुरुवर, आपके पास मेरा जो वर धरोहर है, मैं उसे आज माँगता हूँ।"

वसुदेव स्नेहवश बोले, "माँगो!"

कंस ने कहा, "प्रसूति के समय देवकी का निवास मेरे ही घर में रहा करे।"

वसुदेव को इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी? उन्होंने सहर्ष यह वर कंस को दे दिया।

पीछे जब उन्हें इस वृत्तान्त का पता चला तो वे बहुत दुखी हुए और देवकी के साथ आम्रवन में ठहरे ऋद्धिधारी मुनि अतिमुक्तक के पास गये। प्रणाम कर उन्होंने अपने हृदय में साल रहा प्रश्न पूछा : "प्रभु, कंस ने पूर्वजन्म में ऐसा कौन-सा कर्म किया था कि वह अपने पिता का ही शत्रु हो गया? और हे नाथ, मेरा पुत्र इस पापी कंस का घात करनेवाला कैसे होगा?"

मुनिराज ने आशीर्वाद देकर कहा, "देवों के प्रिय वसुदेव, सुन, तेरा प्रश्न सर्वजनहिताय है, इसलिए मैं तेरी जिज्ञासा शान्त करता हूँ।

इसी मथुरा नगरी में कंस से पहले जब राजा उग्रसेन का शासन था, तब इसी

राज्य में वशिष्ठ नाम का एक तपस्वी रहता था, वह यमुना नदी के किनारे तप करता था। एक पाँव से खड़ा रहता था। वह ऊपर की ओर बाँह उठाये रहता था और उसके बड़ी-बड़ी जटाएँ थीं। वहाँ पनिहारिनें पानी भरने आती थीं। एक दिन सेठ जिनदास की पनिहारिन प्रियंगुलतिका भी वहाँ आयी। दूसरी पनिहारिनों ने प्रियंगुलतिका से कहा—'तू इस साधु को नमस्कार कर।'

प्रियंगुलतिका बोली—'इस पर मेरी श्रद्धा नहीं है, मैं नमस्कार नहीं करती।'

तब सब पनिहारिनों ने जबर्दस्ती उसे साधु के पैरों में नमा दिया। प्रियंगुलतिका नाराज होकर बोली—'अरे तुमने मुझे धीवर के पैरों में गिरा दिया।'

प्रियंगुलतिका के शब्द सुनकर वह अज्ञानी साधु क्रुद्ध हो गया और सीधे राजा उग्रसेन के पास जाकर बोला—'महाराज, जिनदास सेठ ने मुझे अकारण गाली दी है।'

राजा ने सेठ को बुलाया तो वह कहने लगा—'मैंने तो इसे आज तक देखा भी नहीं। गाली की बात तो दूर रही।'

इसके उत्तर में साधु ने कहा—'इसकी दासी ने गाली दी है।'

राजा ने दासी को बुलाकर डाँटा और कहा—'दुष्टा, तू साधु को नमस्कार तो क्या करती और उलटी निन्दा करती है?'

दासी बोली—'महाराज, यह साधु नहीं है, यह तो मूर्ख धीवर है। इसकी जटाएँ शुद्ध नहीं हैं।'

जब साधु की जटाओं को खोला गया तो उनमें कई छोटी-छोटी मछलियाँ निकल पड़ीं। लोगों ने उसकी बहुत हँसी उड़ायी और वह लज्जित होकर मथुरा छोड़कर चला गया।

वह बनारस पहुँचा और गंगा के किनारे तप करने लगा। एक दिन वहाँ वीरभद्र मुनिराज अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ आये। एक नवदीक्षित शिष्य ने वशिष्ठ का तप देखकर कहा—'अहा, ये परम तपस्वी वशिष्ठ हैं।'

'अज्ञानी का तप कैसा?' कहकर मुनिराज ने उसे टोका।

वशिष्ठ ने पूछा—'मैं अज्ञानी कैसे हूँ?'

मुनिराज बोले—'जो विरक्त होकर भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्र को माननेवाला है, जो केवल काया को सुखाता है, मान से भरा है और सम्यग्ज्ञान से रहित है, उसकी तपस्या मुक्ति के लिए कैसे हो सकती है? एक जैनमार्ग ही सन्मार्ग है, उसी में संयम, तप, चारित्र और समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान प्राप्त हो सकता है।'

आचार्य के मुख से यह सब सुनकर वशिष्ठ को बोध हुआ कि जैनधर्म सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण है और मैं अज्ञानी हूँ। उसने मुनिराज के पास दीक्षा ले ली।

वशिष्ठ मुनि ने आगम का विशेष ज्ञान प्राप्त किया और वे मुनिधर्म की विधि को अच्छी तरह जानने लगे। 'परीषह' सहन करने का उन्हें अच्छा अभ्यास हो गया था और अब वे एकलविहारी होकर पृथिवी पर विचरण करने लगे।

''बहुत दिनों बाद वशिष्ठ मुनि विहार के लिए मथुरा आये। राजा तथा प्रजा ने बड़े सम्मान के साथ उनकी पूजा की। मुनि पर्वत के शिखर पर आतापन योग लेकर विराजमान थे। तप से वशीभूत हुई सात देवियाँ उनके पास आयीं और बोलीं—'हम लोग आपका क्या कार्य करें?'

तपोधन मुनि बोले—'मेरा कोई कार्य नहीं है।'

उनके अधीन हुई वे देवियाँ नमस्कार कर चली गयीं।

क्योंकि मुनि एक माह के उपवास का नियम लेकर तपस्या कर रहे थे, इसलिए समस्त प्रजा पारणाओं के समय उन्हें आहार देना चाहती थी। राजा उग्रसेन ने नगरवासियों से यह याचना की कि पारणाओं के समय मुनिराज को आहार मैं ही दूँगा। और उन्होंने मथुरा में रहनेवाले लोगों को आहार देने से रोक दिया।

मुनिराज एक-एक माह बाद तीनों पारणाओं के लिए आये, लेकिन तीनों बार राजा प्रमादवश आहार देना भूल गया। मुनि आहार के लिए सारी मथुरा नगरी में घूमे, लेकिन कहीं आहार प्राप्त नहीं हुआ। अन्त में भूख और श्रम से पीड़ित होकर वे नगर के द्वार में विश्राम करने लगे।

उन्हें देख किसी नगरवासी ने कहा—'बड़े दुख की बात है, राजा स्वयं मुनिराज को आहार देता नहीं है और दूसरों को मना कर रखा है।'

सुनकर मुनि को क्रोध आ गया और उन्होंने उन सात देवियों का स्मरण किया। उपस्थित हुई देवियों से वशिष्ठ मुनि ने कहा—'आप लोग अन्य जन्म में मेरा कार्य करें।'

मुनि की आज्ञा शिरोधार्य कर देवियाँ चली गयीं और वशिष्ठ मुनि ने भी बन की राह पकड़ी। राजा उग्रसेन का अपमान करने के लिए वशिष्ठ मुनि ने यह उग्र बन्ध किया—'मैं उग्रसेन का पुत्र होकर इसका बदला लूँ।'

इस निदान के कारण वे मुनिपद से भ्रष्ट हो गये और उसी समय मरकर राजा उग्रसेन की पत्नी पद्मावती के गर्भ में आ गये। पद्मावती का शरीर एकदम दुर्बल हो गया। उसकी देशा देखकर राजा ने पद्मावती से पूछा—'तुम्हारा कोई दोहला हो तो कहो।'

रानी बोली—'नाथ, गर्भ के दोष से मुझे जो दोहला हुआ है, वह कहने-सुनने योग्य नहीं है।'

राजा ने उससे हठ की तो वह रोते हुए बोली—'स्वामी, मेरी इच्छा है कि मैं आपका पेट फाड़कर आपका रुधिर पीऊँ।'

राजा ने मन्त्रियों से इस विषय में कहा तो मन्त्रियों ने अन्य किसी उपाय से उसका दोहला पूर्ण किया।

नौ माह बाद पद्मावती के पुत्र हुआ। उसका चेहरा भौंहों से भयावह जान पड़ता था, क्योंकि वह बालक गर्भ में ही अत्यन्त रौद्र था। इसलिए रानी ने डरकर उसे काँस की मंजूषा में बन्द कर यमुना की धारा में बहा दिया। वह मंजूषा बहती-बहती कौशाम्बी नगरी पहुँची। वहाँ एक कलारिन ने उसे पाकर कंस नाम दिया और पाला-पोसा। वह कथा तुम जानते ही हो।

निदान के दोष से दूषित होकर इसने पिता को कारागृह में डाल रखा है। आगे चलकर तुम्हारा पुत्र इसे मारेगा और राजा उग्रसेन को भी बन्धन से छुड़ाएगा।''

इसके बाद अतिमुक्तक मुनि ने रोहिणी-पुत्र बलराम तथा देवकी के होनेवाले पुत्रों के पूर्वजन्म की रोमांचकारी कथा कह सुनायी।

उन्होंने वसुदेव से कहा, ''राजन्, देवकी का सातवाँ पुत्र शंख, चक्र, गदा तथा खड्ग को धारण करनेवाला होगा। बाकी छः पुत्र चरमशरीरी होंगे। उनकी अपमृत्यु नहीं हो सकेगी। अब तुम बलराम और इन सातों पुत्रों के पूर्वजन्मों को ध्यान से सुनो :

जब मथुरा का शासन राजा शूरसेन के हाथों में था, तब यहाँ बारह करोड़ मुद्राओं का स्वामी भानुसेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम यमुना था। उनके सुभानु, भानुकीर्ति, भानुषेण, शूर, सूरदेव, शूरदत्त और शूरसेन—सात पुत्र थे। ये सातों भाई अत्यन्त सुन्दर और स्वभाव से ही एक-दूसरे के अनुगामी थे। इनकी स्त्रियाँ भी अत्यन्त रूपवती और ऊँचे कुल की कन्याएँ थीं।

कुछ समय बाद भानुसेठ और यमुना ने दीक्षा ले ली। माता-पिता के दीक्षित होने के बाद सातों भाइयों ने जुए आदि में पिता का सारा धन नष्ट कर दिया। जब उनके पास कुछ शेष नहीं रहा तो सातों भाई चोरी करने के लिए उज्जयिनी गये। नगरी के बाहर महाकाल नाम का एक भयानक वन था। वहाँ छोटे भाई शूरसेन को बच्चों की रक्षा में नियुक्त कर छहों भाई रात के समय नगरी में गये।

उस समय राजकुल से सम्बन्धित एक वीर घराने में वज्रमुष्टि नाम का युवक अपनी स्त्री मंगी के साथ रहता था। वज्रमुष्टि मंगी को बहुत प्यार करता था। वह वीणा की तरह सदा उसके साथ रहती थी। मंगी पति की इतनी सिरचढ़ी थी कि कभी सास के अनुकूल आचरण नहीं करती थी। उसकी सास मन ही मन उससे जलती थी और उसके नाश का उपाय सोचा करती थी।

वसन्तोत्सव आने पर एक दिन वज्रमुष्टि राजा के साथ प्रमदवन में क्रीड़ा करने के लिए चला गया और मन्त्री से कह गया—'तू जल्दी ही मेरे पीछे आ जाना।'

इधर सास ने मंगी को वसन्तोत्सव में नहीं जाने दिया। उस दुष्टा ने धूपिन जाति का जहरीला साँप घड़े में पहले से ही बन्द कर रखा था। मौका देखकर उसने मंगी से कहा—'वसन्तोत्सव में न जाने का दुख मत मान। मैंने पहले से ही तेरे लिए एक सुन्दर माला मँगा रखी है। उसे घड़े में से निकालकर पहन ले।'

भोली-भाली मंगी ने माला के लोभ से ज्योंही घड़े में हाथ डाला, साँप ने उसे डँस लिया। विष के वेग से मंगी तुरन्त ही मूर्छित हो गयी। सास ने नौकरों से मूर्छित मंगी को महाकाल श्मशान में डलवा दिया।

वज्रमुष्टि जब रात को घर आया तो उसे सारा वृत्तान्त मालूम हुआ। वह अपनी प्रिया मंगी को ढूँढ़ने के लिए महाकाल वन के भयानक श्मशान में जा घुसा। उस समय उसके हाथ में एक चमकती हुई तलवार थी। उसी के बल पर वह नि:शंक होकर श्मशान में चला जा रहा था।

वह कुछ ही दूर गया था कि उसने उस श्मशान में रातभर का प्रतिमायोग लेकर विराजमान वरधर्म नाम के मुनि को देखा। उसने मुनिराज की प्रदक्षिणा की और नमस्कारपूर्वक कहा—'मुनिराज, अगर मैं मंगी को प्राप्त कर सका तो एक हजार कमल चढ़ाकर आपके चरणों की पूजा करूँगा।'

इस तरह कहकर वह ज्योंही आगे बढ़ा कि उसे उसकी स्त्री मंगी मिल गयी। वह उसे उठाकर मुनि के पास ले गया और उनके चरणस्पर्श के प्रभाव से उसका विष दूर करके होश में आयी मंगी से बोला—'जब तक मैं न आऊँ, तुम मुनिराज के चरणों में ही बैठना।'

यह कहकर वज्रमुष्टि कमल लाने के लिए सुदर्शन सरोवर की तरफ गया।

वहीं छिपा सबसे छोटा भाई शूरसेन मंगी के प्रति वज्रमुष्टि का महान प्रेम देख चुका था। इसलिए वह मंगी के प्रेम की परीक्षा करने के लिए उसके पास गया और उसके साथ मीठी-मीठी बातें करने लगा। वह सुन्दर तो था ही, मंगी उसे देखते ही कामातुर हो गयी। विह्वल होकर उसने शूरसेन से कहा—'स्वामी, आप मुझे

स्वीकार कीजिए।'

मंगी की प्रार्थना सुनकर शूरसेन ने कहा—'तुम्हारे पति के जीवित रहते मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ? मैं तुम्हारे योद्धा पति से बहुत डरता भी हूँ।'

अनुरक्त मंगी बोली—'नाथ, आप इस भय को छोड़ दें, मैं उसे तलवार से अभी मार डालती हूँ।'

शूरसेन ने कहा—'अगर ऐसा है तो मुझे स्वीकार है।'

इस तरह कहकर शूरसेन मंगी का अगला कार्य देखने की इच्छा से वहीं छिपकर खड़ा हो गया।

वज्रमुष्टि कमल लेकर आया और उसने मुनिराज के चरणों की पूजा की। पूजा के बाद ज्योंही वह नमस्कार के लिए उनके चरणों में झुका, मंगी ने उसके सिर पर तलवार का प्रहार करना चाहा, लेकिन शूरसेन ने बड़ी तत्परता से उसकी तलवार छीन ली।

यह दृश्य देखकर शूरसेन को संसार से वैराग्य हो गया और वह अपने आपको प्रकट किये बिना ही वहाँ से चला गया।

मंगी उसके स्पर्श से शंकित हो गयी और अपना दोष छिपाने के लिए इस सबको माया बताती हुई धरती पर गिर पड़ी।

वज्रमुष्टि को मंगी के इस दुष्कृत्य का पता नहीं चल पाया, इसलिए वह स्नेहवश मंगी से पूछने लगा—'क्या तुम्हें किसी ने डरा दिया है? यहाँ तो भय का कोई कारण नहीं दिखाई देता।'

इस तरह मंगी को सचेत कर वज्रमुष्टि ने मुनिराज को नमस्कार किया और स्त्री के साथ घर चला गया।

कुछ देर बाद शूरसेन के छहों भाई चोरी करके लौटे। उन्होंने चोरी में प्राप्त धन के बराबर हिस्से किये और शूरसेन से कहा, 'अपना हिस्सा उठा लो।'

शूरसेन ने धन के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा, 'लोग स्त्रियों के पीछे कितने ही अनर्थ करते हैं और स्त्रियाँ वज्रमुष्टि की स्त्री की तरह होती हैं।'

शूरसेन से सारा किस्सा सुनकर भाइयों को वैराग्य हो गया और उन सातों ने वहीं वरधर्म मुनि से दीक्षा ले ली। उनकी सातों स्त्रियाँ भी आर्यिका जिनदत्ता के पास दीक्षित हो गयीं।

सातों मुनियों ने कठिन तप किया और समाधिमरण के बाद सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव हुए।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में नित्यालोक नगर के राजा चित्रचूल के यहाँ

इन सातों का जन्म हुआ। बड़े पुत्र का नाम था चित्रांगद और छोटे छः पुत्र जुड़वाँ जन्मे थे। चित्रचूल के ये सातों पुत्र अत्यन्त सुन्दर थे और आनन्द से आकाश में विचरण किया करते थे।

तभी मेघपुर के राजा धनंजय ने अपनी पुत्री धनश्री का स्वयंवर किया। स्वयंवर में अनेक विद्याधर कुमार पहुँचे, लेकिन धनश्री ने अपने पिता के भानजे हरिवाहन का वरण किया।

'जब इसे अपने सम्बन्धी से ही विवाह करना था तो स्वयंवर के बहाने छलपूर्वक हम लोगों को क्यों बुलाया?' यह कहकर दूसरे विद्याधर क्रुद्ध हो गये और कन्या को पाने की इच्छा से युद्ध में एक-दूसरे को मारने लगे।

चित्रचूल के सातों पुत्र भी स्वयंवर में गये थे। कन्या के निमित्त होनेवाले इस हत्याकाण्ड को देखकर वे सोचने लगे—सारे पापों के मूल ये इन्द्रियों के विषय ही हैं और विरक्त होकर जिनराज भूतानन्द के पास दीक्षा ले ली। सातों मुनि समाधिवरण के बाद माहेन्द्र स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए।

बड़े भाई का जीव इसी भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में किसी सेठ का शंख नाम का पुत्र हुआ, और शेष छह भाइयों के जीव इसी नगर के राजा गंगदेव की नन्दयशा रानी से युगल पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए। रानी नन्दयशा ने जब सातवाँ गर्भ धारण किया तो तमाम दुर्भाग्य उस पर एक साथ टूट पड़े। उनसे दुखी होकर उसने अपने सातवें पुत्र को जन्म देने के बाद त्याग दिया। रेवती नाम की एक धाय ने उसका पालन-पोषण किया।

रानी नन्दयशा के इस त्याज्य पुत्र का नाम निर्नामक था। सेठ का पुत्र शंख निर्नामक को बहुत प्रेम करता था। एक बार शंख निर्नामक को लेकर नागरिकों से भरे हुए मनोहर उपवन में गया। वहाँ राजा गंगदेव के छहों पुत्र एक साथ भोजन कर रहे थे। उन्हें देखकर शंख ने कहा—'यह निर्नामक भी तो तुम्हारा छोटा भाई है, इसे भोजन करने के लिए क्यों नहीं बुलाते?'

शंख की बात सुनकर राजपुत्रों ने निर्नामक को बुला लिया और वह भाइयों के साथ भोजन करने बैठ गया। उसी समय रानी नन्दयशा कहीं से आ गयी और उसने क्रुद्ध होकर निर्नामक को लात मार दी। इस घटना से शंख को बड़ा दुख हुआ। वह अपने को धिक्कारने लगा कि मेरे ही कारण निर्नामक को दुख और अपमान उठाना पड़ा। वह निर्नामक को लेकर वन में गया, जहाँ मुनिराज द्रुमषेण विराजमान थे। शंख ने अवधिज्ञानी मुनि से निर्नामक के बारे में पूछा तो उन्होंने उसके पूर्वजन्म की कथा कह सुनायी :

गिरिनगर का राजा चित्ररथ मांस खाने का बड़ा लोभी था। उसका अमृत रसायन नाम का एक रसोइया था जो मांस पकाना बहुत अच्छी तरह जानती था। उसकी कला से प्रसन्न होकर राजा ने उसे दस गाँवों का स्वामी बना दिया था। एक दिन राजा ने सुधर्म मुनि से मांस खाने के दोष सुने तो प्रभावित होकर तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। नया राजा मेघरथ श्रावक बन गया, इसलिए उसने मांसपाकी रसोइये को अपमानित कर केवल एक गाँव ही उसके पास रहने दिया। इस घटना से रसोइया बड़ा क्रुद्ध हुआ और मांस का निषेध करनेवाले मुनि को ही अपने अपमान का कारण मान उसने उन्हें विषैली तूमड़ी का आहार देकर उनकी हत्या कर दी। इस पाप के कारण वह रसोइया मरने के बाद तीसरे नरक में गया और वहाँ बहुत समय तक भयानक दुख भोगता रहा। वहाँ से निकला तो पशु-पक्षी की योनियों में भटकता रहा।

एक बार उसका जन्म पलाश गाँव में रहनेवाले यक्षदत्त और यक्षिला नाम के दम्पती से हुआ। उसका नाम था यक्षलिक। उसके बड़े भाई का नाम यक्षस्व था। यक्षलिक स्वभाव से ही मूर्ख और दुष्ट था। एक बार वह गाड़ी पर बैठकर कहीं जा रहा था, तभी उसने जानबूझकर, बड़े भाई के मना करते-करते गाड़ी रास्ते में पड़ी अन्धी सर्पिणी के ऊपर चढ़ा दी। उसका फण फट गया और वह तीव्र वेदना से छटपटाने लगी। उसी समय अकामनिर्जरा के कारण उसने मनुष्यगति का बन्ध कर लिया।

वह सर्पिणी ही रानी नन्दयशा और यक्षलिक निर्नामक है। पूर्वजन्म के वैर के कारण ही इनमें विद्वेष हुआ है।

राजा गंगदेव ने द्रुमषेण मुनि से ये सारे प्रसंग सुनकर विरक्त होकर दीक्षा ले ली। साथ ही सातों राजपुत्रों और श्रेष्ठिपुत्र शंख ने भी दीक्षा ले ली। रानी नन्दयशा और रेवती धाय भी दीक्षा लेकर आर्थिकाएँ बन गयीं। निर्नामक ने मुनि होकर सिंह निष्क्रीडित नाम का कठिन तप किया और यह निदान बाँध लिया कि मैं जन्मान्तर में नारायण होऊँ।

रेवती धाय मनुष्य पर्याय प्राप्त कर भद्रिलसा नगर में सुदृष्टि सेठ की अलका नाम की स्त्री हुई है। श्रेष्ठिपुत्र शंख बलराम के रूप में जन्मा है।

राजा गंगदेव के पहले छः पुत्रों के जीव युगलिया रूप से देवकी के गर्भ से जन्म लेंगे और महापराक्रमी होंगे। इन्द्र का हारी नाम का आज्ञाकारी देव इन पुत्रों के उत्पन्न होते ही इन्हें सेठानी अलका के पास पहुँचा दिया करेगा। वहीं ये बड़े होंगे। तुम्हारे ये छहों पुत्र रूप में अत्यन्त एक जैसे होंगे और ये सभी कुमार हरिवंश-

चन्द्र जगत्गुरु भगवान नेमिनाथ के शिष्य बनकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। निर्नामक का जीव देवकी का सातवाँ पुत्र बनकर जन्मेगा। वह अत्यन्त वीर होगा और इस भरतक्षेत्र में नौवाँ नारायण होगा।''

नौवाँ प्रकरण

तदनन्तर, गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक, तीर्थंकर भगवान हरिवंश में उत्पन्न होनेवाले हैं, यह सुनकर वसुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए। काल का चरित्र जाननेवाले वसुदेव ने कंस के प्रति उपेक्षापूर्ण मैत्री का भाव बना लिया और अतिमुक्तक मुनिराज को नमस्कार कर यह प्रश्न किया :

"हरिवंश के तिलकस्वरूप नेमिकुमार किस प्रकार होंगे? मैं उनका चरित सुनना चाहता हूँ।"

कुमार वसुदेव की इस श्रेष्ठ जिज्ञासा से प्रसन्न होकर अतिमुक्तक मुनि भगवान जिनेन्द्र के पूर्वजन्मों की कथा कहने लगे :

"इसी जम्बूद्वीप में शीतोदा नदी के दक्षिणी किनारे पर सुपद्मा नाम का देश है। उसके सिंहपुर नाम के नगर में कभी राजा अर्हद्दास का शासन था। उसकी स्त्री जिनेन्द्र भगवान की भक्त थी। नाम भी उसका जिनदत्ता था। एक बार उसने स्वप्न में लक्ष्मी, हाथी, सिंह, सूर्य और चन्द्रमा आदि शुभ संकेतों को देखने के बाद एक श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र कभी किसी से पराजित नहीं होता था इसलिए माता-पिता ने उसे 'अपराजित' नाम दिया था, वह सार्थक था।

युवा होने पर अपराजित ने पवित्र गुणशीला, प्रीतिमती नाम की कन्या से विवाह किया।

एक दिन राजा अर्हद्दास ने अन्य पाँच सौ राजाओं के साथ देवपूजित भगवान विमलवाहन से दीक्षा ले ली और कुमार अपराजित ने सम्यग्दर्शन के साथ-साथ राज्य-भार ग्रहण किया। कुछ दिनों बाद अपराजित ने सुना कि गन्धमादन पर्वत पर जिनेन्द्र विमलवाहन और पिता अर्हद्दास को मोक्ष प्राप्त हो गया है तो धर्मनिष्ठ पुत्र ने तीन दिन का उपवास कर निर्वाण-भक्ति की।

एक बार राजा अपराजित चैत्यालय में विराजमान अर्हत्प्रतिमा की पूजा कर उपवास का नियम लेकर मन्दिर में ही अपनी स्त्रियों को धर्मोपदेश कर रहा था कि

उसी समय चारण-ऋद्धिधारी दो मुनि आकाश से नीचे उतरे और भूमितल पर बैठ गये।

उन्हें देखकर राजा अपराजित नमस्कार कर बोले, ''मुनिवरो, वैसे तो जैनधर्म में दीक्षित साधुओं को देखकर मुझे सदा ही स्वाभाविक आनन्द होता है, लेकिन आप दोनों के दर्शन कर मुझे न केवल अपूर्व आनन्द बल्कि स्वाभाविक स्नेह का अनुभव हो रहा है, इसका क्या कारण है?''

उनमें से बड़े मुनि ने कहा, ''राजन्, पूर्वजन्म का सम्बन्ध ही स्नेह की अधिकता का कारण है। मैं आपको पूर्वजन्म की कथा सुनाता हूँ :

पश्चिम पुष्करार्ध के विदेह क्षेत्र में जो रूप्याचल है, उसकी उत्तरश्रेणी में गण्यपुर नाम का एक नगर है। उस नगर का स्वामी था सूर्याभ, जो सचमुच ही सूर्य के समान आभावाला था और उसकी स्त्री थी धारिणी, जो पृथिवी के समान ही धारण करने के गुण से मण्डित और अत्यन्त सुन्दर थी। उन दोनों के चिन्तागति, मनोगति और चपलगति नाम के तीन पुत्र थे, जो अत्यन्त वेगशाली, स्नेही और पराक्रमी थे।

उसी समय अरिंजयपुर में राजा अरिंजय अपनी पत्नी रानी अजितसेना के साथ रहता था। उनके प्रीतिमती नाम की कन्या थी। प्रीतिमती को अनेक विद्याएँ सिद्ध थीं और वह हमेशा ही स्त्री-जन्म की निन्दा करती रहती थी।

एक दिन उसने पिता से कहा—'पिता जी, मुझे एक इच्छित वर दीजिए।'

पिता कन्या के भाव को जानता था, इसलिए उसने कहा—'तप के सिवा और जो भी वर तुझे इष्ट हो, माँग ले।'

पिता का उत्तर सुन प्रीतिमती बोली—'पिताजी, आपने मुझे तप के वर से वंचित किया है तो कृपा कर यह वर दे दीजिए कि जो मुझे गतियुद्ध में जीते, वही मेरा पति हो।'

पिता ने कन्या का वर स्वीकार कर लिया और कन्या का स्वयंवर रचकर उसमें गतियुद्ध करने की इच्छा रखनेवाले विद्याधरों को आमन्त्रित किया। जब सब विद्याधर आ गये, तब कन्या के पिता ने सबको लक्ष्य कर कहा—'आप लोगों में जो भी समर्थ हो, वह मेरी पुत्री के साथ गतियुद्ध करे। गतियुद्ध का रूप यह है कि वर और कन्या में से जो भी मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा के बाद श्री जिनेन्द्र की पूजा कर सबसे पहले वापस आ जाएगा, उसी की जीत समझी जाएगी। इस तरह जो वीर गतियुद्ध में इस कन्या को जीतेगा, मेरे मनोरथ को पूरा करनेवाला वही पुरुष इस कन्या का पति होगा।'

प्रीतिमती को अनेक विद्याओं की स्वामिनी जानकर सब विद्याधर चुपचाप बैठे रहे, लेकिन राजा सूर्याभ और रानी धारिणी के तीनों पुत्र चिन्तागति, मनोगति और

चपलगति गतियुद्ध करने के लिए उठ खड़े हुए।

जब चारों परिकर बाँधकर खड़े हो गये, तब मध्यस्थ जनों ने हाथ का संकेत कर उन्हें छोड़ा। अपने वेग से हवा को भी रोकनेवाले वे तीनों कुमार और कुमारी मेरु को लक्ष्य कर आकाश में दौड़े। आधे मार्ग तक तो वे साथ-साथ दौड़ते रहे, फिर प्रीतिमती ने उन्हें पीछे छोड़ दिया, और मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा के बाद जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर वह पहले वापस लौट आयी। उसके शरीर पर पसीने की बूँदें मोतियों की तरह चमक रही थीं। उसने पिता के पास आकर उन्हें पूजा के अक्षत दिये। पिता को पुत्री की विजय से विशेष हर्ष हुआ।

प्रसन्न होकर पिता ने प्रीतिमती को तप धारण करने की अनुमति दे दी। चिन्तागति आदि तीनों कुमारों ने भी दीक्षा ले ली। आयु के अन्त में तीनों भाई माहेन्द्र स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए।

वे दोनों चारण ऋद्धिधारी मुनि अन्त में राजा अपराजित से बोले—'राजन्, विजयार्ध की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नगर के गगनचन्द्र राजा हैं और गगनसुन्दरी रानी है। माहेन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर छोटे दो भाइयों ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया है। हम अमितवेग और अमिततेज नाम के वही दोनों राजपुत्र हैं। हमने पुण्डरीकिणी नगरी में स्वयंप्रभ जिनेन्द्र से दीक्षा ली है और उन्हीं से हमने यह सुना है कि आप हमारे बड़े भाई चिन्तागति हैं, जो स्वर्ग से च्युत होकर महाराजा अर्हद्दास और महारानी धारिणी के पुत्र होकर जनमे हैं। आपको देखने के लिए हम यहाँ आये हैं।'

उन मुनियों ने महाराजा अपराजित से कहा, "राजन्, इस जन्म के बाद जो तुम्हारा पाँचवाँ जन्म होगा, उसमें तुम हरिवंश में जन्म लेकर अरिष्टनेमि नाम के बाईसवें तीर्थंकर होओगे। अभी तुम्हारी एक माह आयु शेष है, इसलिए आत्मकल्याण करो।"

मुनियों के वचनों से आनन्दित होकर राजा ने आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और नौवें दिन राजकुमार प्रीतिंकर को सिंहासन सौंपकर निस्पृह हो गया। उसने बाईस दिन तक चारों आराधनाएँ कीं और अच्युत स्वर्ग में इन्द्रपद प्राप्त किया। तीसरे जन्म में वह नागपुर के राजवंश में जनमा और सुप्रतिष्ठ नाम से प्रसिद्ध हुआ।

राजा पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद सुप्रतिष्ठ कार्तिक पूनम की रात में अपनी रानियों के साथ महल की छत पर बैठा था कि उसी समय आकाश से उल्कापात हुआ। उसे देख राजा सुप्रतिष्ठ को वैराग्य हो गया और वह राजपाट को उल्का के समान ही क्षणभंगुर समझने लगा। पुत्र सुदृष्टि को राज्य सौंप सुप्रतिष्ठ ने सुमन्दिर नाम के गुरु के समीप दीक्षा ले ली। मुनि सुप्रतिष्ठ ने उग्र तप धारण किया और

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य से सम्पन्न होकर तीनों लोकों के आसनों को कम्पित करने में समर्थ तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

इसके बाद वे विशाल सुख से समृद्धिशाली जयन्त स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। अब वे अहमिन्द्रों के योग्य, संसार के सारभूत अनुपम सुखों को भोगकर वहाँ से च्युत होंगे और राजा समुद्रविजय की महारानी शिवादेवी से नेमीश्वर नाम के बाइसवें तीर्थंकर होकर जन्म लेंगे।

अतिमुक्तक मुनि से भगवान अरिष्टनेमि की वार्ता सुनकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और मुनिराज को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करके देवकी के साथ अपने घर लौटे। वे दोनों इच्छानुरूप भोगों को भोगते हुए मथुरा में रहने लगे और मृत्यु-भय से शंकित कंस इनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा।

देवकी ने गर्भ धारण किया, जिससे कंस अत्यन्त भयभीत हो गया और रात-दिन उसकी प्रसूति के समय की प्रतीक्षा करने लगा। समय आने पर देवकी ने जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया। तभी इन्द्र का आज्ञाकारी सेवक हारीदेव आया और उन पुत्रों को उठाकर सुभद्रिल नगर के सेठ सुदृष्टि के यहाँ पहुँचा आया। उसी समय अलका ने भी दो पुत्रों को जन्म दिया था, लेकिन वे जन्मते ही मर गये थे। देव ने उन दोनों मृत शिशुओं को उठाया और देवकी के प्रसूतिगृह में रखकर स्वर्ग चला गया।

शंकित कंस ने बहन के प्रसूतिगृह में प्रवेश किया और उन दोनों मृत पुत्रों को उठाकर शिलातल पर पछाड़ दिया।

देवकी ने क्रम से दो युगल और उत्पन्न किये। हारीदेव उन्हें भी अलका सेठानी के पास छोड़ आया और उसके निष्प्राण पुत्रों को ले आया जिन्हें कंस ने पहले की तरह ही शिलातल पर पछाड़ दिया। इस तरह अपने पुण्य से रक्षित वे छहों पुत्र धीरे-धीरे बड़े होने लगे। जैसे-जैसे ये पुत्र बड़े होते गये, वैसे-वैसे सुदृष्टि सेठ की धन-सम्पदा भी बढ़ती गयी और इस तरह उसका वैभव राजाओं से भी बड़ा हो गया।

इधर पति के निरन्तर समझाने से देवकी भी पुत्रों के वियोगजनित दुख को भूलकर चन्द्रकला की तरह कान्तिमती हो गयी।

एक बार देवकी चन्द्रमा की तरह सफेद भवन में सुबह की तरह सफेद शय्या पर सो रही थी कि उसने रात के अन्तिम प्रहर में स्वप्न में अभ्युदय के सूचक सात पदार्थ देखे। उसने उदित होता सूर्य देखा। पूर्ण चन्द्रमा देखा। दिग्गजों से अभिषिक्त लक्ष्मी देखी। आकाश से नीचे उतरता विमान देखा। बड़ी-बड़ी ज्वालाओंवाली अग्नि देखी। ऊँचे आकाश में देवों की ध्वजा देखी, जो रत्नों के कारण चमक रही

थी और एक सिंह देखा, जो उसके मुख में प्रवेश कर रहा था।

उन स्वप्नों को देखकर देवकी कम्पित होकर जाग उठी। उसका शरीर रोमांचित हो रहा था। उसने सुबह के अनुरूप वस्त्र-अलंकार आदि धारण किये और अत्यन्त विस्मित होकर वह पति के समीप जाकर अपने स्वप्न सुनाने लगी।

विद्वान वसुदेव ने स्वप्न में देखे इन पदार्थों का फल बताते हुए कहा, ''देवकी, जल्दी ही तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जो समस्त पृथिवी का स्वामी होगा। सूर्योदय इस बात का सूचक है कि वह अपने प्रताप से शत्रुओं को नष्ट करेगा। पूर्ण चन्द्र का दर्शन कहता है कि वह सबका प्रिय होगा। अभिषिक्त लक्ष्मी का देखना इस बात को प्रकट करता है कि वह अत्यन्त सौभाग्यशाली और राजा होगा। नीचे आता विमान यह बताता है कि वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा। देदीप्यमान अग्नि कहती है कि वह अत्यन्त तेजस्वी होगा। देवों की पताका इस बात की सूचक है कि वह स्थिर प्रकृति का होगा और सिंह का मुख में प्रवेश करना यह प्रकट करता है कि वह पूर्ण निर्भय होगा।''

स्वप्न-फल सुनकर देवकी अत्यन्त प्रसन्न हो उठी और उसने जल्दी ही, जैसे आकाश जगत् के सन्ताप की शान्ति के लिए हितकारी मेघ को धारण करता है, जगत्-हितकारी गर्भ को धारण किया। गर्भ के साथ-साथ देवकी का शारीरिक और मानसिक सुख बढ़ने लगा, साथ ही पृथिवी पर मनुष्यों का सद्भाव भी बढ़ने लगा। केवल कंस का क्षोभ दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता था। फलस्वरूप नीचात्मा कंस गर्भस्थ बालक के गुणों की उपेक्षा करता हुआ अलक्ष्य रूप से गर्भ के महीने और दिनों की गिनती लगाता रहता था। इस तरह बहन के प्रसूतिकाल की प्रतीक्षा करता हुआ वह उस पर पूरी निगरानी रखता था।

देवकी के पहले छहों पुत्र पूरे समय में ही जनमे थे, किन्तु कृष्ण श्रवण नक्षत्र में भाद्र मास की शुक्ला द्वादशी के दिन सातवें माह में ही उत्पन्न हो गये। उनका शरीर शंख, चक्र आदि श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त था और महानीलमणि के समान प्रकाशित हो रहा था। कृष्ण ने अपनी कान्ति से देवकी के प्रसूतिगृह को ज्योतिर्मय कर दिया। उस समय उस पुरुषोत्तम के प्रभाव से स्नेही बन्धुओं के घरों में शुभसूचक संकेत होने लगे और द्वेषी शत्रुओं के घरों में भय पैदा करनेवाले निमित्त होने लगे।

सात दिन से निरन्तर घनघोर वर्षा हो रही थी। कृष्ण के जनमते ही रोहिणी-पुत्र बलराम ने उन्हें उठा लिया और पिता वसुदेव उन पर छत्री लगाकर खड़े हो गये। रात के समय ही दोनों पिता-पुत्र नवजात कृष्ण को ले घर से बाहर निकल पड़े। उस समय सारी मथुरा सो रही थी तथा कंस के सैनिक भी गहरी नींद में निमग्न थे। इसलिए कोई भी उन्हें नहीं देख सका। ये सब गोपुर द्वार पर आये तो द्वार बन्द थे, किन्तु कृष्ण के चरणयुगल का स्पर्श होते ही उनमें निकलने योग्य छिद्र

बन गया, जिससे सब बाहर निकल आये।

उस समय पानी की एक बूँद बालक की नाक में घुस गयी जिससे उसे छींक आ गयी। उस छींक का शब्द बिजली और वायु के शब्द की तरह अत्यन्त गम्भीर था। तभी ऊपर से आवाज आयी :

''तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रह।''

ये उग्रसेन थे, जिन्हें कंस ने गोपुर द्वार के ऊपर कैद कर दिया था। यह आशीर्वाद उन्होंने ही दिया था। उनके प्रियवचनों को सुनकर बलराम और वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उग्रसेन से बोले, ''पूज्यवर, रहस्य की रक्षा हो, देवकी के इस पुत्र से आपका छुटकारा होगा।''

उग्रसेन ने स्वीकार कर कहा, ''हमारी भतीजी देवकी का यह पुत्र शत्रु से अज्ञात रहकर वृद्धि को प्राप्त हो।''

उग्रसेन के वचनों से प्रसन्न होते हुए वे दोनों कृष्ण के साथ जल्दी ही नगरी से बाहर निकल गये। उस समय देदीप्यमान सींगोंवाला एक बैल उन्हें मार्ग दिखाता हुआ वेग से उनके आगे-आगे जा रहा था। यमुना का प्रवाह अखण्ड रूप से बह रहा था, लेकिन श्रीकृष्ण के प्रभाव ने उस प्रवाह को खण्डित कर दिया। नदी पार कर बलराम और वसुदेव वृन्दावन पहुँचे। वहाँ गाँव के बाहर सुनन्द नाम का एक गोप अपनी स्त्री यशोदा के साथ रहता था। वह वंश-परम्परा से इनका बड़ा विश्वासपात्र व्यक्ति था। बलराम और वसुदेव रात में ही उससे मिले और पति-पत्नी दोनों को पुत्र देकर बोले, ''देखो भाई, यह पुत्र विशाल नेत्रोंवाला और सभी के नेत्रों के लिए ज्योतिष्मान अमृत की वर्षा करनेवाला है। अपना पुत्र समझकर इसका पालन करो और इस बात का ध्यान रखो कि यह रहस्य किसी पर भी प्रकट न हो।''

वे दोनों यशोदा की नवजात कन्या को लेकर रात में ही वापस आ गये और उसे रानी देवकी के पास रख दिया।

जब कंस को बहन की प्रसूति का पता चला तो वह प्रसूति-गृह में घुस गया। वहाँ निर्दोष कन्या को देखकर उसका क्रोध दूर हो गया, फिर भी दूरदर्शी होने के कारण उसने सोचा, शायद इसका पति ही मेरा शत्रु हो। इस शंका से आकुल होकर उसने कन्या को स्वयं उठा लिया और हाथ से मसलकर उसकी नाक चपटी कर दी।

देवकी के मन को हमेशा पीड़ा पहुँचानेवाले कंस ने जब देखा कि अब इसके पुत्र होना बन्द हो गया है, तो वह हृदय की क्रूरता को छिपाकर कुछ दिनों तक सुख से समय बिताता रहा।

इधर ब्रजवासी बालक कृष्ण नन्द और यशोदा को अपूर्व सुख देता हुआ सुख

से बढ़ने लगा। जब चित लेटा वह बालक गदा, खड्ग, चक्र, अंकुश, शंख तथा पद्म आदि चिह्नों से सुन्दर अपने लाल-लाल हाथ-पैर चलाता था, तो गोप-गोपियों के मन बरबस खिंच जाते थे। नीलकमल की द्युति रखनेवाले उस बालक को गोपिकाएँ अतृप्त नेत्रों से टकटकी बाँधे देखती रहती थीं।

एक दिन कंस के हितैषी वरुण नाम के निमित्तज्ञानी ने उससे कहा, ''महाराज, यहाँ कहीं नगर अथवा वन में आपका शत्रु बढ़ रहा है, उसकी खोज होनी चाहिए।''

शत्रु के नाश की भावना से कंस ने तीन दिन का उपवास किया। पूर्वजन्म में उसके अधीन हुई वे सातों देवियाँ प्रकट हुईं और बोलीं, ''हम आपके पूर्वजन्म के तप से सिद्ध हुई देवियाँ हैं। आपका जो कार्य हो, कहें। बलराम और नारायण के अलावा ऐसा कोई शत्रु नहीं, जिसे हम नष्ट न कर सकें।''

कंस ने कहा, ''हमारा कोई वैरी गुप्त रूप से कहीं बढ़ रहा है, तुम लोग उसे निर्मम होकर मृत्यु का ग्रास बना दो।''

कंस की इच्छा को स्वीकार कर वे देवियाँ चली गयीं।

उनमें से एक देवी ने भयंकर पक्षी का रूप धारण किया और चोंच के प्रहार से बालक कृष्ण को मारने का प्रयत्न करने लगी। कृष्ण ने उसकी चोंच इतनी जोर से दबायी कि वह चीं-चीं करती हुई भाग गयी। दूसरी देवी प्रपूतना बन गयी और अपने विष लिये स्तन उन्हें पिलाने लगी। लेकिन देवों से अधिष्ठित होने के कारण कृष्ण के होठ अत्यन्त कठोर हो गये और उन्होंने उसके स्तन के चूचुक को इतनी जोर से चूसा कि वह वहीं ढेर हो गयी। तीसरी देवी शकटका पिशाचिनी का रूप धरकर उनके सामने आयी, लेकिन निर्भय कृष्ण ने उसे जोर की लात मारकर ही नष्ट कर दिया।

एक दिन यशोदा ने ऊधमी कृष्ण को ओखली से बाँध रखा था, उसी समय दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्ष का रूप रखकर उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगीं। लेकिन कृष्ण ने बँधे हुए होने पर भी उन्हें मार भगाया। छठी देवी मतवाले बैल का रूप रखकर आयी। यह बैल बड़ा उग्र था और गोपालों की बस्ती में समुद्र की तरह गरजता हुआ जहाँ-तहाँ घूमता था। कृष्ण ने उसकी गरदन तोड़कर उसे नष्ट कर दिया। सातवीं देवी ने ओलों की वर्षा करके कृष्ण को मारना चाहा, किन्तु उन्होंने बारिश से आकुल हो रहे गोकुल की रक्षा करने के लिए गोवर्धन पर्वत को ही अपने हाथों पर उठा लिया और उसके नीचे सबको शरण दी।

जब कृष्ण के इस लोकोत्तर चरित्र का पता बलदेव को चला तो उन्होंने माता देवकी के सामने इसका वर्णन किया। उसे सुन वे उपवास के बहाने पुत्र को देखने के लिए गोकुल गयीं। वह वन गीत गाते गोपालकों और घण्टारव करती गायों के झुण्ड से बड़ा मनोहर जान पड़ता था। कहीं तो कृष्ण की तरह कृष्णवर्ण की चिकनी

सुन्दर गायों के झुण्ड घूम रहे थे, तो कहीं बलराम की तरह सफेद गायें नजर आ रही थीं। पुत्रों की समानता के कारण वे गायें देवकी को अत्यन्त प्रिय लगीं। कहीं बछड़ों के लिए गायों के रँभाने की ध्वनि आ रही थी तो कहीं दूध दुहने और दही बिलोने का जोरदार शब्द उठ रहा था। देवकी इस वनभूमि में आकर खिल उठीं। तभी अत्यन्त प्रसन्न नन्द गोप ने यशोदासहित अनेक लोगों के साथ आकर गौरवमयी स्वामिनी देवकी को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। यशोदा ने कृष्ण को देवकी के चरणों में प्रणाम कराया। देवकी ने देखा, उनका यह पुत्र पीले रंग के दो वस्त्र पहने हुए है। मोर पंख की कलगी बाँधे है। शिर पर नील कमलों की माला पड़ी है। शंख जैसे कण्ठ में सोने की कण्ठी है। कानों के आभूषण उसके कपोलों को उजला बना रहे हैं। कलाई में सोने के चमकते हुए कड़े हैं। माथे पर दुपहरिया के फूलों की आभा है और साथ में अनेक गोपाल बालक हैं। गोप वेश में खड़ा कृष्ण प्रणाम करके देवकी के पास ही बैठ गया। माता देवकी अपने यशस्वी और दयालु बेटे का स्पर्श करती हुई उसे अपलक देखती रहीं। देवकी के दोनों स्तनों से दूध झरने लगा। स्वाभाविक वात्सल्य को प्रकट करती देवकी मानो कह रही थी—'पुत्र, शत्रु के भय से मैंने तुझे दूर रखा है, अपनी कठोरता के कारण नहीं।'

बलराम ने दूध से भीगी माता देवकी को देखकर सोचा, 'कहीं रहस्य न खुल जाए' और अत्यन्त कुशलतापूर्वक गोपालकों द्वारा लाया गया कलश स्वयं उठाकर प्रेममयी माता का दूध से अभिषेक कर दिया।

कृष्ण को देखकर देवकी ने यशोदा से कहा, ''भाग्यशालिनी यशोदा, तू ऐसे पुत्र का निरन्तर दर्शन करती है, तू धन्य हैं और तेरा वन में रहना भी सार्थक है। पृथिवी का राज्य भी सन्तान से बिछुड़ने पर अच्छा नहीं लगता।''

गोपी यशोदा बोली, ''स्वामिनि, आपका कहना सत्य है। मेरे मन का सन्तोष रूप यह बालक आपके आशीर्वाद से चिरंजीव हो, यही प्रार्थना है।''

बलराम कृष्ण के दर्शन से सुखी हुई माता देवकी को वापस मथुरा ले आये और अपने पिता वसुदेव से सब हाल कहा।

अब बलदेव प्रतिदिन गोकुल जाकर कृष्ण को अनेक कलाओं और गुणों की शिक्षा देने लगे। चतुर होने के कारण कृष्ण उन्हें बड़ी तत्परता से ग्रहण कर लेते थे। इस तरह वे जल्दी ही अनेक विद्याओं में पारंगत हो गये।

कृष्ण अत्यन्त निर्विकार लेकिन कोमल हृदय थे। वे गोकुल में रासलीलाओं द्वारा उत्कृष्ट यौवनवती गोपिकाओं को सुख पहुँचाते थे। रासलीला के समय उनकी हथेलियों के स्पर्श से गोपियाँ मोहमूर्च्छा को प्राप्त होती थीं, लेकिन कृष्ण उसी तरह

निर्विकार बने रहते थे, जैसे स्त्री की अँगूठी में जड़ा मानिक उँगली का स्पर्श करता हुआ भी विकारहीन रहता है। रासलीला तथा अन्य लीलाओं के समय कृष्ण के प्रति गोप-गोपियों का मिलन-अनुराग अत्यन्त बढ़ जाता था, वैसे ही कृष्ण के दृष्टि से हटने पर उनका विरह-अनुराग भी अत्यन्त तीव्र हो उठता था। कृष्ण अंजनगिरि की तरह शोभाशाली श्रेष्ठ अभ्युदय को धारण करनेवाले कोई अनिर्वचनीय पुरुष थे, यह विश्वास सभी को था।

कृष्ण के लोकोत्तर कार्यों से शंकित होकर कंस उन्हें खोजने के लिए गोकुल आया। कृष्ण अपने सखा गोपालों के साथ कंस के समीप आ रहे थे, लेकिन माता यशोदा ने किसी बहाने से उन्हें नगर के बाहर ब्रज में भेज दिया। ब्रज में एक ताडवी नाम की पिशाचिनी आयी और जोर से अट्टहास करने लगी। उसकी आँखें अत्यन्त रूखी थीं और शरीर बढ़ा हुआ था। कृष्ण ने उसे देखते ही मार भगाया। वहीं ब्रज में शाल्मली वृक्ष की लकड़ी का एक मण्डप तैयार हो रहा था और बड़े-बड़े स्तम्भों का ढेर लगा हुआ था। कृष्ण ने उन्हें अकेले ही उठाकर ऊपर चढ़ा दिया। कृष्ण की शक्ति देख यशोदा ने उन्हें निर्भय हो ब्रज से वापस भेज दिया।

दुष्ट कंस को कृष्ण जब गोकुल में नहीं मिले तो वह मथुरा लौट आया। उसी समय उसके यहाँ सिंहवाहिनी नागशय्या, अजितंजय धनुष और पांचजन्य शंख—ये तीन अद्भुत वस्तुएँ प्रकट हुईं।

कंस के ज्योतिषी ने कहा, "राजन्, जो कोई नागशय्या पर चढ़कर धनुष पर डोरी चढ़ाए और पांचजन्य शंख को फूँक दे, वही आपका शत्रु है।"

ज्योतिषी की बात सुनकर कंस ने अपने शत्रु की खोज के लिए नगर में यह घोषणा करा दी : 'जो कोई यहाँ आकर सिंहवाहिनी शय्या पर चढ़ेगा, अजितंजय धनुष पर डोरी चढ़ाएगा और पांचजन्य शंख को फूँक देगा, वह पुरुषोत्तम और सबको पराजित करनेवाला पराक्रमी समझा जाएगा। महाराजा कंस उस पर बहुत प्रसन्न होंगे। उसे अपना मित्र समझेंगे और उसके लिए अलभ्य इष्ट वस्तु देंगे।'

कंस की यह घोषणा सुनकर अनेक राजा मथुरा आये और नागशय्या पर चढ़ने आदि के उपक्रम करने लगे, लेकिन सभी लज्जित हो लौट गये।

एक दिन कंस की महारानी जीवद्यशा का भाई भानु किसी कार्यवश गोकुल गया। वहाँ कृष्ण का अद्भुत पराक्रम देख वह बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें मथुरा ले आया।

कृष्ण ने उस महानाग शय्या को देखा। उसका पीछे का भाग चन्द्रमा के समान धवल था और उसके शीर्षभाग पर भयंकर साँपों के फण लहरा रहे थे। वे अपनी ही शय्या की तरह उस पर तेजी से चढ़ गये और धनुष को प्रत्यंचा से युक्त कर पांचजन्य शंख की ध्वनि से दिशाओं को भर दिया। कृष्ण के इस माहात्म्य को देख

सब लोगों ने प्रकट घोषणा की, ''निश्चय ही कृष्ण कोई महान् पुरुष है; जो क्षुब्ध समुद्र की तरह शंखध्वनि कर रहा है।''

कृष्ण का यह पराक्रम देख बड़े भाई बलदेव को दुष्ट कंस से आशंका हो गयी। इसलिए उन्होंने कृष्ण को अकेला नहीं जाने दिया और उनके गुणों के अनुरागी अनेक आत्मीयजनों को उनके साथ कर दिया।

कुछ दिनों बाद कबूतरों के गुटरगूँ शब्द और क्रीड़ा करते कलहंसों से सुशोभित शरद ऋतु आयी—मोरों के मद और पंखों को एक साथ नष्ट करती हुई। आकाश में बादलों का समूह नष्ट हो गया और चन्द्रमा का उजला प्रकाश धरती तक फैलने लगा। पृथिवी की कीचड़ सूख गयी और काश के फूल फूल उठे। उन सफेद फूलों ने कंसघात से होनेवाले कृष्ण के अट्टहास की तरह पृथिवी को छा लिया था। स्वच्छ नदियों का पानी रेतियों के ढेर से टकराकर फेन उत्पन्न कर रहा था। शान्त सरोवरों में सफेद कमल फूल रहे थे और पर्वतों की उपत्यकाएँ सफेद फूलों से व्याप्त थीं। ऐसा लगता था, चारों तरफ कृष्ण की उजली कीर्ति ही छा रही है।

कंस कृष्ण के बल-पराक्रम को जान चुका था, फिर भी वह उन्हें नष्ट करने के उपायों को सोचा करता था। एक दिन उस दुष्ट ने उनको गोपों सहित कमल लाने के लिए यमुना के उस विवर में भेजा, जो अत्यन्त दुर्गम था और जहाँ विषम साँप लहराते रहते थे।

सुशोभन कृष्ण अनायास ही उस विवर में घुस गये। तभी अत्यन्त क्रुद्ध, भयंकर, मणिमय फणों से आग की चिनगारियाँ-सी छोड़ता हुआ एक अत्यन्त काला कालिय नाम का नाग उनके सामने आया। कृष्ण तत्काल उसका मर्दन कर उसके सिर पर चढ़ गये। किनारे के वृक्षों की शाखाओं पर चढ़ गोप उनका जय-जयकार कर रहे थे और बलभद्र का गम्भीर शब्द उनके शरीर को रोमांचित कर रहा था। कृष्ण ने कमल तोड़े और वायुवेग से तट पर आ गये। देदीप्यमान पीताम्बर से सजे श्रीकृष्ण ज्यों ही तट पर आये, नीलाम्बर से सुशोभित बलभद्र ने आनन्द विह्वल होकर उनका प्रगाढ़ आलिंगन किया। श्याम-गौरवर्ण उन दोनों के आलिंगन को देखकर गोपों ने परस्पर कहा, ''बिजलीवाला श्याममेघ नील-श्वेत पर्वतखण्ड से गले मिल रहा है।''

जब गोपालों ने कंस के सामने कमलों का ढेर लाकर रखा, तो कंस गरम-गरम उच्छ्वास भरने लगा। फिर भी वह चुप नहीं बैठ सका। उसने अविलम्ब यह आज्ञा दी, ''नन्द गोप अपने पुत्र सहित सब गोपों के साथ यहाँ मल्लयुद्ध के लिए उपस्थित हों।''

कंस ने इस आज्ञा के साथ ही अनेक छोटे-बड़े मल्लों को बुलाकर अपने पास रख लिया।

दूरदर्शी वसुदेव ने शत्रु की चेष्टा को समझकर अपने पुत्र अनावृष्टि के साथ सलाह की और अपने समस्त बड़े भाइयों को मथुरा में उपस्थित होने का सन्देशा भेज दिया। समुद्रविजय आदि सब बड़े भाई अपनी चतुरंगिणी सेना और अपने अकस्मात् आगमन से दुष्ट कंस का हृदय विदीर्ण करते हुए मथुरा आ पहुँचे।

यदुवंशी राजाओं को देख कंस भयभीत हो गया। लेकिन जब उसे यह बताया गया कि ये बहुत दिनों से बिछुड़े अपने छोटे भाई वसुदेव को देखने के लिए आये हैं तो उसने धैर्य धारण कर उनका स्वागत किया। उन्हें श्रेष्ठ भवनों में टिकाया और दान, मान तथा नमस्कारपूर्वक उनकी सेवा की।

बलभद्र ने समस्त कार्य का विचार अच्छी तरह कर लिया और वे शीघ्र ही गोकुल जा पहुँचे। बलभद्र के अवयव वृषभ के समान सफेद थे। वे धीर-वीर-नीतिज्ञ थे। उनकी बुद्धि अत्यन्त पैनी थी और अब वे सुअवसर देख कृष्ण के हृदय में युद्ध की अभिलाषा जाग्रत् करना चाहते थे। गोकुल पहुँचकर उन्होंने कृष्ण के सामने ही यशोदा से कहा, "जल्दी स्नान कर, क्यों इस तरह देर कर रही है? कितनी बार कहा, फिर भी अपनी आदत नहीं छोड़ती है और अपने शरीर में ही भूली रहती है। ठीक भी है, सीपियों से उत्तम मोतियों को उत्पन्न करनेवाली समुद्र की बेला अपनी चंचलता नहीं छोड़ती है।"

बहुत समय से साथ-साथ रहने पर भी बलभद्र ने यशोदा से क़भी ऐसे कटुवचन नहीं कहे थे। इसलिए वह बहुत ही चकित और भयभीत हो गयी। वह बोली कुछ नहीं, लेकिन उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसने जल्दी से स्नान किया और भोजन बनाने में लग गयी। इधर कृष्ण और बलभद्र स्नान के लिए नदी की ओर चले गये।

एकान्त में पहुँचने पर बलभद्र ने कृष्ण से पूछा, "तुम लम्बी-लम्बी साँसें क्यों ले रहे हो और तुम्हारी आँखें आँसुओं से क्यों भीग रही हैं? तुम्हारा मुखकमल ऐसा मुरझाया हुआ है, मानो पाला पड़ गया हो। तुम्हें क्या कष्ट है, उसका कारण मुझसे कहो?"

जब प्रसन्न मुखवाले बलभद्र ने कृष्ण से प्रेमवश ऐसा पूछा तो वे उनकी तरफ देखकर बोले, "आर्य, आप सुनें। सचमुच ही मेरा मन दुखी है। आप शास्त्रज्ञानी हैं, विद्वान हैं, लोकरीति के जानकार हैं। आप नगरवासी लोगों के उपदेष्टा हैं। हे पूज्य, फिर आज आपने हमारी पूज्या माता यशोदा का इतने कठोर वचनों से तिरस्कार क्यों किया?"

निरन्तर बह रहे आँसुओं से कृष्ण के हृदय की स्वच्छता प्रकट हो रही थी।

बलभद्र ने उन्हें गले से लिपटा लिया और रोमांचित कृष्ण को मुनि के वचनों से लेकर आज तक की सारी कथा कह सुनायी। अन्त में उन्होंने कहा, ''इस समय कंस भयंकर मल्लयुद्ध का निश्चय कर तुम्हारी मृत्यु का उपाय कर रहा है।''

कृष्ण में वीरोचित क्रोध हिलोरें मारने लगा।

बलभद्र ने उन्हें शान्त किया और पिता के सभी भाइयों, गुरुओं, बन्धुओं का आगमन सुनाया। हर्षातिरेक से कृष्ण का चेहरा खिल उठा और वे बलभद्र के साथ इस तरह शोभा पाने लगे, जैसे पर्वत के नीचे सिंह सुशोभित होता है।

पानी में महामच्छों की तरह खेलते हुए, जल-क्रीड़ा में चतुर दोनों भाइयों ने यमुना नदी में स्नान किया और दूसरे गोपों के साथ-साथ अपने घर आ गये। वहाँ यशोदा माता के दिये हुए पीढ़ों पर बैठकर दोनों ने अत्यन्त सुगन्धित शालिधान का भात उसी समय तपाये हुए घी से, स्वादिष्ट बने दाल, शाक और दूध, दही के साथ खाया। चन्दन आदि द्रव्यों से सुगन्धित पानी से कुल्ला कर हरी सुपारी और इलायची का पान खाया।

बलभद्र और कृष्ण अनेक आसनों को लगाने में चतुर थे और मल्लविद्या के निर्दोष ज्ञाता थे। उन्होंने नीलाम्बर और पीताम्बर वस्त्र धारण किये, चौड़े वक्ष पर सिन्दूर की रज लगायी, वनमाला पहनी और मालती का सेहरा बाँध, कंस को मारने के निश्चय से पृथिवी को कँपाते हुए मथुरा की ओर चल दिये। उनके साथ मल्लविद्या में कुशल अनेक गोप भी चले।

मार्ग में कंसभक्त एक असुर ने कृष्ण को मारने और नगर-प्रवेश में विघ्न डालने के लिए नाग का रूप बनाया। दूसरे ने हों-हों करनेवाले एक गधे का और तीसरे ने दुष्ट घोड़े का रूप बनाया। लेकिन कृष्ण ने उन सबको मार भगाया।

नगर में प्रवेश करते समय उन पर कंस की आज्ञा से एक साथ दो हाथी हूल दिये गये। उन हाथियों के माथे से मद की धाराएँ चू रही थीं। उन्हें सामने देखकर दोनों भाई ऐसे सन्तुष्ट हुए, जैसे युद्धभूमि में आये मल्लों को देखकर ही सन्तुष्ट हो रहे हों। एक हाथी के साथ बलभद्र और दूसरे हाथी के साथ कृष्ण भिड़ गये। मनुष्य मल्लों और हस्तिमल्लों की जोड़ियों में ऐसा नया और आश्चर्यजनक युद्ध हुआ कि सब लोग दंग रह गये। हाथियों ने अपने दाँत टेढ़ी सूँड़ों के नीचे छिपा रखे थे, लेकिन बलभद्र और कृष्ण ने उन्हें पैरों के भीषण प्रहारों और हाथों की चपेटों से उखाड़ लिया और भयानक रूप से चिंघाड़ते उन हाथियों को मारकर नगर में प्रवेश किया।

उस समय वह मथुरा नगरी जय-जयकार करनेवाले गोपों से भरी हुई होने के कारण विराट समुद्र की तरह जान पड़ती थी। रंगभूमि की शोभा विलक्षण थी। कमल की कलियों से तोरणद्वारों को सजाया गया था और कुश्ती के लिए गोलाकार

स्थान बनाये गये थे। अन्दर राजा और नागरिकगण चारों तरफ बैठे हुए थे। तभी बलभद्र और कृष्ण ने अपने कन्धों से बड़े-बड़े मल्लों के ऊँचे कन्धों को धक्का देते हुए, क्रीड़ापूर्वक उछलते और ताल ठोकते हुए उस विशाल रंगभूमि में प्रवेश किया।

रंगभूमि में पहुँचते ही बलभद्र ने इशारे से कृष्ण को बताया, कि यह शत्रु कंस बैठा है। ये जरासन्ध के लोग हैं और ये अपने पुत्रों सहित समुद्रविजय आदि दसों बड़े भाई विराजमान हैं। सबसे परिचित होकर कृष्ण बलभद्र के साथ उस गोलक में खड़े हो गये जो उन दोनों को देखने के लिए सबकी दृष्टि का लक्ष्य बना हुआ था।

मल्लों की उछलकूद और ताल के शब्दों से भयावह जान पड़ रहे उस अखाड़े में बारी-बारी से कंस की आज्ञा पाकर अन्य अनेक मल्ल जंगली भैंसों की तरह कुश्ती लड़ने लगे। जब साधारण मल्लों का युद्ध हो चुका तब दुष्ट कंस ने कृष्ण से लड़ने के लिए चाणूर मल्ल को आज्ञा दी। यह मल्ल पर्वत की तरह दीर्घकाय था और चौड़ी दीवार की तरह उसका सीना था। इसने अपने मजबूत भुजदण्ड से बड़े-बड़े अहंकारी मल्लों को पेल डाला था। कंस ने कृष्ण पर आगे से चाणूर मल्ल को पेल दिया और पीछे से मुष्टिक मल्ल को उन पर टूट पड़ने के लिए तिरछी आँखों से इशारा कर दिया।

शक्तिशाली सिंह की मुद्रा में खड़े कृष्ण और चाणूर मल्ल मजबूती से पैर टिका, तीखे नखोंवाली कठोर मुट्ठियाँ बाँधकर अविराम मुक्केबाजी करने लगे। वज्र के समान कठोर मुट्ठीवाला मुष्टिक मल्ल पीछे से कृष्ण पर प्रहार करना ही चाहता था कि बलभद्र ने 'ठहर दुष्ट, ठहर' कहते हुए उसके शिर में मुक्का मारकर उसे निष्प्राण कर दिया। इधर सिंह के समान बलवान कृष्ण ने हुंकार करते हुए अपने शरीर से दूने शरीरवाले चाणूर मल्ल को अपनी भुजा की लपेट में लेकर इतनी जोर से दबाया कि खून की धाराएँ बह निकलीं और वह निष्प्राण होकर गिर पड़ा।

अखाड़े में अपने दोनों प्रधान मल्लों को मरा हुआ देख कंस आपे से बाहर हो गया और हाथ में तीक्ष्ण तलवार लेकर कृष्ण की तरफ दौड़ा। उसकी इस चेष्टा पर अखाड़े का सारा जनसमूह समुद्र की तरह शोर करता हुआ उठ खड़ा हुआ।

कृष्ण ने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली और उसके बाल पकड़कर उसे धरती पर पटक दिया। और 'इसके योग्य यही दण्ड है' इस तरह कहते हुए क्रुद्ध कृष्ण ने उसके पैर खींचकर उसे पत्थर पर पछाड़कर मार डाला।

कंस की सेना क्षुब्ध हो सामने आयी। उसे देख बलभद्र की भौंहें टेढ़ी हो गयीं। उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर मंच का खम्भा उखाड़ लिया और उसके कठोर आघातों से चिल्लाती हुई सेना को क्षणभर में खदेड़ दिया। कंस के कार्य में नियुक्त जरासन्ध

की मदोन्मत्त सेना जब सामने आयी तो शक्तिशाली यादव क्षुब्ध समुद्र की तरह गर्जन करनेवाली अपनी-अपनी सेनाओं के साथ उठ खड़े हुए और उस सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

इसके उपरान्त मल्लवेश में सजे बलभद्र और कृष्ण अपने भाई अनावृष्टि के साथ चार घोड़ोंवाले रथ पर सवार होकर पिता वसुदेव के घर गये। उस समय वह विशाल भवन समुद्रविजय आदि राजाओं और अनेक यदुवंशियों से भरा हुआ था। निकट पहुँचकर दोनों भाइयों ने क्रम से समुद्रविजय आदि गुरुजनों को प्रणाम किया। सबके आशीर्वाद और प्रगाढ़ प्रेम से सने दोनों भाइयों ने सबके सन्ताप को हर लिया। वसुदेव और देवकी ने शत्रु की अग्नि को शान्त करनेवाले पुत्र का उज्ज्वल मुख देखकर अनिर्वचनीय सुख प्राप्त किया।

कृष्ण ने राजा उग्रसेन की बेड़ियों को काट दिया और उन्हें समस्त यादवों के निर्देश से राज्यसिंहासन पर पुनः आसीन किया।

कुछ दिन आनन्द में ही निकल गये। एक दिन मथुरा-निवासियों ने आकाश में विद्याधरों के राजा सुकेतु का दूत देखा। वह हर्ष से लहराते आकाश-समुद्र में मच्छ की तरह बड़े वेग से आ रहा था। उसका शरीर चन्दन से गीला था और वह महीन सफेद वस्त्र तथा चमकती मणियों के आभूषण पहने था। विद्याधर सुकेतु का वह दूत श्रेष्ठ राजाओं से महिमाशाली मथुरा नगरी की गली में उतरा और उसने विनम्रतापूर्वक यादवों की सभा में प्रवेश करके सबको नमस्कार किया।

कुछ देर बाद ठीक अवसर देखकर उस दूत ने सभी माननीय यादवों के सामने विजेता कृष्ण से कहा, ''राजाओं से स्तुत्य हे कृष्ण, आप मेरी प्रार्थना सुनें। विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुरचक्रवाल नगर में सुकेतु राजा रहते हैं। वे नमि और विनमि वंश की विजयपताका ही हैं और अत्यन्त धीर-वीर तथा नीतिज्ञ हैं। आपका नागशय्या पर चढ़ना, धनुष चढ़ाना और शंख फूँकना—इन कार्यों से आपकी लोकोत्तर महिमा को जानकर उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है और कहलाया है कि यों आप उत्तम भेंटों को लानेवाले लोगों से घिरे रहते हैं फिर भी मेरी एक छोटी-सी प्रार्थना है कि आप मेरी पुत्री सत्यभामा को स्वीकार कर लें। आपका यह कार्य विद्याधरों के वैभव को बढ़ानेवाला और सबके लिए कल्याण की रचना करनेवाला होगा।''

दूत के वचन सभी यादवों को अत्यन्त प्रिय लगे और कृष्ण भी प्रसन्न होकर बोले, ''सुकेतु की सत्यभामा रूप रत्नधारा मुझ रत्नाचल को शीघ्र ही प्राप्त हो।''

यदुवंशियों से समादृत दूत ने राजा सुकेतु के पास जाकर सर्व कार्य सिद्ध होने की सूचना दी और कहा, ''पृथिवी पर श्रीकृष्ण और बलदेव अत्यन्त देदीप्यमान हैं

और शत्रु के रूप, गर्व और गौरव को खण्डित करनेवाले हैं।''

दूत के मुख से प्रिय समाचार सुनकर राजा सुकेतु और भाई रतिमाल अपनी-अपनी कन्याओं के साथ मथुरा आ पहुँचे। रतिमाल की कन्या का नाम रेवती था और वह रूप में साक्षात् रति के समान जान पड़ती थी। रतिमाल ने अपनी वह कन्या बलभद्र को दी और सुकेतु ने रानी स्वयंप्रभा से उत्पन्न अपनी कन्या सत्यभामा कृष्ण को दी। इस विवाह-मंगल में उज्ज्वल वेश से सजी, नूपुरों की झंकार करती विद्याधरियों ने नृत्य किया। अपनी पहली नयी वधुओं के साथ बलभद्र और कृष्ण यदुवंशी राजाओं से घिरे हुए बैठे थे। उन्होंने नीले और पीले रंग के वस्त्र पहन रखे थे और मणिजटित आभूषणों की कान्ति से उनके शरीर देदीप्यमान हो रहे थे। यादवों की स्त्रियों से घिरी रोहिणी और देवकी अपने इन पुत्रों को देखकर आनन्दमग्न हो रही थी।

दसवाँ प्रकरण

गौतम स्वामी कहते हैं—हे श्रेणिक! भगवान नेमिनाथ के दशार्हों में मुख्य शौर्यपुर निवासी राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के गर्भ में आने से पहले ही जो लोम-हर्षक परम पवित्र आश्चर्य हुआ था, उसे मैं कहता हूँ, सुनो!

गर्भावतार से छ: माह पहले से ही, इन्द्र की आज्ञा से देवों ने राजा समुद्रविजय के घर धन की वर्षा आरम्भ कर दी थी। उस धन की धारा से समस्त याचक जगत् सन्तुष्ट हो गया। दिक्कुमारी देवियाँ माता शिवादेवी की परिचर्या दे रही थीं। पति के साथ नाना प्रकार के अतिशय देखने के कारण शिवादेवी अत्यन्त हर्षित थीं। एक रात उन्होंने अति उत्तम सोलह स्वप्न देखे :

पहले स्वप्न में रानी ने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा, जिसके सब ओर से मद झर रहा था और काले-काले भँवरे 'गूँ-गूँ' की ध्वनि करते हुए उसके ऊपर मँडरा रहे थे। वह कैलास पर्वत की तरह स्थिर था और उसने अपनी गर्वीली चिंघाड़ से दिशाओं को व्याप्त कर रखा था।

दूसरे स्वप्न में उन्होंने अम्बिका का सुन्दर सींगोंवाला महावृषभ देखा। वह खुरों से पृथिवी खोद रहा था। वह सफेद रंग का था। उसकी आँखें विशाल और पूँछ लम्बी थी और वह मेघ की तरह शब्द कर रहा था।

तीसरे स्वप्न में शिवादेवी ने एक ऐसा सिंह देखा, जो पर्वत के ऊँचे शिखर पर खड़ा था। उसकी डाढ़ें चन्द्रमा की कला की तरह थीं और शरीर अत्यन्त लम्बा था। उसकी गर्जना दिगन्तों को चीर रही थी और वह शरद ऋतु के मेघ की तरह सफेद था।

चौथे स्वप्न में रानी ने कमलों के आसन पर बैठी लक्ष्मी का दर्शन किया। उसके हाथ में कमल थे और सफेद हाथी सुगन्धित जल से उसका अभिषेक कर रहे थे।

पाँचवें स्वप्न में शिवमाता ने निर्मल आकाश में लटकती हुई दो ऐसी फूल-मालाएँ देखीं, जिन्होंने अपनी परागरज से भँवरों को भी लाल रंग दिया था।

छठे स्वप्न में देखा, निरभ्र आकाश के बीच ऐसा चन्द्रमा, जो अपनी किरणों से घने अन्धकार को छेदता उदित हो रहा था और स्त्री की स्थिर स्मित की तरह जान पड़ता था।

सातवें स्वप्न में महारानी ने सूर्य के दर्शन किये। यह सूर्य सारे दिन दर्शनीय था और सिन्दूररज से पुता हुआ-सा जान पड़ता था।

आठवें स्वप्न में उसने बिजली की तरह थिरकता मछली का जोड़ा देखा। वह सुन्दर स्त्री के नेत्रों की तरह चंचल था, लम्बा था, स्नेहभरा था और मात्सर्यरहित होकर खेल रहा था।

नौवें स्वप्न में शिवादेवी ने स्वर्णनिर्मित दो कलश देखे। उनमें अत्यन्त सुगन्धित जल भरा था और मुख पर कमल रखे हुए थे।

दशवें स्वप्न में देखा एक बड़ा सरोवर, जो शुभ्र जल और कमलों से भरा हुआ था। उसमें राजहंस तैर रहे थे और वह रानी के अपने मन के समान ही पवित्र एवं निर्मल था।

ग्यारहवें स्वप्न में रानी ने ऊँची-ऊँची लहरों से टूटता एक महासमुद्र देखा। मूँगा, मोती, मणि और पुष्पों से भरा हुआ, उद्धत और चंचल। भयानक मगरमच्छ उसमें निर्भय हो घूम रहे थे।

बारहवें स्वप्न में एक ऐसा सिंहासन देखा, जिसे सुनहरी जटाओंवाले सिंह उठाये हुए थे और जो जड़ी हुई मणियों से दिशाओं को प्रभामय कर रहा था।

तेरहवें स्वप्न में रानी ने आकाश में एक विमान देखा—ध्वजा और पताकाओं से लहराता हुआ और मोतियों-मणियों की लटकती हुई मालाओं से शुभ्रता का विस्तार करता हुआ।

चौदहवें स्वप्न में शिवादेवी ने नागेन्द्र का विशाल दमकता हुआ भवन देखा, जहाँ फणों की मणियों से पृथिवी के अन्धकार को नष्ट करनेवाली नागकन्याओं का संगीत हो रहा था और जो पृथिवी से ऊपर प्रकट हुआ लगता था।

पन्द्रहवें स्वप्न में शिवादेवी ने एक ऐसी रत्नराशि देखी, जिसकी किरणों से इन्द्रधनुष बन रहे थे और जो आकाश छू रही थी।

सोलहवें स्वप्न में उन्होंने लपटों से भयंकर अग्नि देखी, जो रात के समय अपनी उज्ज्वलता से दिशाओं को प्रकाशित कर रही थीं और अपना सौम्य रूप दिखला रही थी।

कार्तिक शुक्ला षष्ठी के दिन इन सोलह स्वप्नों को देखने के बाद अगले ही क्षण शिवादेवी ने देखा कि भगवान ने षष्ठी से च्युत होकर, सफेद हाथी के रूप में उनके मुख में प्रवेश किया है।

रानी हर स्वप्न के बाद क्षणभर को जागकर फिर सो जाती थीं। इस तरह उनके

सोलह स्वप्न निर्विघ्न पूरे हुए और अन्त में वे देवियों की जय-जयकार और संगीतध्वनि से जागकर शय्या से उठ गयीं। उन्होंने सुबह का स्वच्छ वेश धारण किया और कुतूहलवश पति के पास पहुँचीं। शिवादेवी से सारे स्वप्न सुनकर राजा समुद्रविजय अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले :

"देवी, जिनके लिए पिछले छः माह से घर में रत्न वर्षा हो रही है और देवियाँ तुम्हारी सेवा कर रही हैं, वे तीर्थंकर भगवान आज तुम्हारे गर्भ में स्थित हुए हैं। तुम्हारे स्वप्नों का इससे बढ़कर और क्या फल कहा जाए कि तुम्हें तीर्थंकर पुत्र की प्राप्ति होगी। फिर भी उस पुत्र को जो फल प्राप्त होगा, वह मैं कहता हूँ :

वृषभ देखने का अर्थ है कि वह पुत्र निर्मल बुद्धि का स्वामी और जगत् का गुरु होगा। उसके नेत्र उज्ज्वल होंगे और वह वृषभ की तरह ही ऊँचे कन्धेवाला और शक्तिशाली होगा।

सिंह देखना इस बात का सूचक है कि वह अनन्त वीर्यवान् होगा और जिस तरह सिंह मदोन्मत्त हाथियों को मदरहित कर देता है, उसी तरह वह गर्वीले पुरुषों का गर्व हरण करेगा। वह महान अद्वितीय, धीर, वीर होगा और अन्त में दीक्षा लेकर कठिन तपस्या करेगा।

शिवा, तुमने अभिषिक्तं लक्ष्मी देखी है, इसका अर्थ है कि पुत्र के जन्म लेते ही देवासुर मिलकर सुमेरुपर्वत पर क्षीर सागर के जल से उसका अभिषेक करेंगे और वह पर्वत के समान स्थिर होगा।

सुगन्धित मालाओं को देखने का फल है कि इस पुत्र का यश तीनों लोकों में फैलेगा। वह स्वयं सुगन्धि से युक्त होगा और अपने अनन्तज्ञान और दर्शन-नेत्र से समस्त लोकालोकों को व्याप्त करेगा।

हे देवी, चन्द्रमा को देखना इस बात को प्रकट करता है कि वह जिनेन्द्रचन्द्र दयारूपिणी चाँदनी से युक्त होगा। जगत् के अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करनेवाला होगा और समस्त जगत् का आनन्द बढ़ाएगा।

सूर्य का दर्शन कहता है कि तुम्हारा वह पुत्र तेज का भण्डार होगा। अपने अप्रतिम तेज से सबके तेज को पराभूत करके तीनों लोकों को अन्धकार से मुक्त करेगा।

शिवा, सुखपूर्वक क्रीड़ा करती मछलियों का जोड़ा देखना इस बात का प्रतीक है कि वह पुत्र रागजनित सुखों को भोगकर अन्त में मोक्षमुख को पानेवाला होगा।

दो सुवर्णकलशों का दर्शन इस बात को सिद्ध करता है कि तुम्हारा पुत्र जगत् के मनोरथों को पूर्ण करनेवाला होगा और उसके प्रभाव से यह घर निधियों से भर जाएगा।

अनेक पुष्पों से भरा स्वच्छ सरोवर यह प्रकट करता है कि वह पुत्र समस्त उत्तम

लक्षणों से सम्पन्न होगा। उसकी बुद्धि तृष्णारहित होगी और वह तृष्णा की प्यास में जलनेवाले मनुष्यों को इसी संसार में तृप्त और सुखी करेगा।

अमृतमय महासमुद्र के दर्शन का तात्पर्य है कि तुम्हारा वह पुत्र समुद्र के समान गम्भीर बुद्धिवाला होगा और उपदेश देकर जगत् के जीवों को श्रुतज्ञानरूप समुद्र में अवगाहन कराएगा।

उत्तम रत्नजटित सिंहासन देखना इस बात का प्रतीक है कि तुम्हारे पुत्र का शासन सर्वोपरि होगा और देव-दानव माथे पर हाथ बाँधकर उत्तम सिंहासन पर आरूढ़ इस पुत्र की आज्ञा का पालन करेंगे।

श्रेष्ठ विमान का देखना यह सूचित करता है कि विमानधारी इन्द्रादि देव उसके चरण पूजेंगे। वह मानसिक व्यथा से परे होगा। महान अभ्युदय को धारण करेगा और बहुत बड़े विमान से यहाँ अवतरित होगा।

पृथिवी के ऊपर नागेन्द्र भवन को देखने से यह प्रकट होता है कि तुम्हारा वह पुत्र संसार के पिंजरे को भेदनेवाला होगा और मति, श्रुत, अवधि—इन तीन ज्ञाननेत्रोंवाला होगा।

रत्नराशि इस बात का विश्वास दिलाती है कि वह पुत्र अनेक प्रकार की किरणों से प्रकाशमान, अनेक गुणराशियों का आश्रयस्थान और शरणागत प्राणियों का शरणधाम होगा।

ज्वालाओंवाली निर्धूम अग्नि यह प्रकट करती है कि तुम्हारा पुत्र ध्यानरूपी महाप्रचण्ड अग्नि को प्रकट कर समस्त कर्मों के वन को जला देगा।''

समुद्रविजय ने शिवारानी का अभिनन्दन कर कहा, ''देवी, उस पुत्र के प्रभाव से इन्द्रादि देव साधारण राजाओं की तरह मेरी आज्ञा का पालन करेंगे। उस पुत्र के प्रभाव से इन्द्राणियाँ उत्सवों में सज्जा आदि कार्यों में तुम्हारी सेवा करने के लिए उद्यत रहेंगी। जो जिनेन्द्र सूर्य जन्म लेनेवाला है, उससे तुम अपने वंश को, स्वयं को, मुझको तथा सारे जगत् को पवित्र और अलंकृत हुआ समझो।''

पति से यह सारी वार्ता सुनकर शिवादेवी का मन और भी निर्मल और मोदमय हो गया। वे अपने सम्भावित पुत्र की कल्पना से जिनपूजा आदि कार्यों को और भी लगन से करने लगीं। जिस तरह आकाश की लक्ष्मी अपने पवित्र उदर में चन्द्रमा को धारण करती है, उसी तरह शिवा माता ने पहले ही देवियों से शुद्ध किये अपने उदर में जगत् के कल्याण के लिए उस मंगलमय गर्भ को धारण किया जो सबके सन्ताप को हरनेवाला था और सभी आत्मीयों के प्रीतिभाव को प्रबुद्ध कर रहा था। 'मेरे गूढ़ गर्भ में भगवान ने शरीर धारण किया है'—इस प्रभाव से शिवादेवी का मन संसार की रक्षा करने में तथा समस्त तत्त्वों को देखने में लगा रहता था। उनकी वाणी सब प्रकार के संशय को नष्ट करनेवाले हितकारी वचन वाली थी और शरीर

व्रतों के आभूषणों को धारण करने तथा विनय को पुष्ट करने में व्यस्त रहता था। देवांगनाओं से पूजित शिवादेवी जगत्माता की महिमा को धारण कर रही थीं।

वैशाख शुक्ल त्रयोदशी की शुभ तिथि में रात के समय, जब चन्द्रमा के साथ चित्रा नक्षत्र का योग था और सारे शुभग्रह श्रेष्ठ स्थानों में एकत्रित थे, शिवादेवी ने जिनेन्द्र को जन्म दिया। तीनों ज्ञाननेत्रों को और एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त नीलकमल सदृश कान्ति को शरीर में धारण करनेवाले जिन बालक ने अपनी प्रभा से प्रसूतिगृह को प्रकाशमान कर दिया।

उस समय समुद्रपर्यन्त जम्बू द्वीप की भूमि चंचल हो गयी। लगता था, प्रमुदित होकर नाच रही है। साथ ही मोक्षरूप मस्तकवाला, स्वर्ग-शरीरधारी, मध्यम लोक की कटि और अधोलोक की जंघा धारण करनेवाला त्रिलोकपुरुष भी चल-विचल हो गया। भवनवासी देवों के लोक में अपने आप शंखध्वनि होने लगी। व्यन्तर देवों के लोक पटह ध्वनि से गूँज उठे। सूर्यलोक में सिंहनाद होने लगा और कल्पवासी देवों के लोक में घण्टे बज उठे।

इन्द्रसहित देवों के मुकुट और सिंहासन कम्पित हो उठे। जिनेन्द्र भगवान के जन्म को जानकर उन्होंने अपने आसनों से सात पग आगे चलकर माथे पर हाथ रखकर उन्हें परोक्ष नमस्कार किया और भव्य साजसज्जा के साथ, भरतक्षेत्र की ओर प्रस्थान किया। असुर, नाग, विद्युत, अग्नि, वायु, द्वीप, महोदधि, स्तनित, उदधि, भवनवासी—ये दशों कुमार दशों दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए पृथिवी के ऊपर आने लगे। किंपुरुष, किन्नर, महोरग, राक्षस, पिशाच, भूत, दक्ष और गन्धर्व—ये आठों व्यन्तर देव नृत्य-गान में कुशल अपनी स्त्रियों के साथ भरतक्षेत्र की तरफ आने लगे। चमकती किरणोंवाले ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य और तारा—ये पाँच ज्योतिषी देव अपने-अपने विमानों से आते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथिवी पर एक नया ज्योतिषलोक बनाने आ रहे हों। प्रथम स्वर्ग से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के सोलह इन्द्र अपनी सातों प्रकार की सेनाओं और देवों के साथ वहाँ आ पहुँचे।

इस बीच प्रसन्नता और आदर से भरी देवियाँ भगवान का जातकर्म करने लगीं। जगत् प्रसिद्ध विजया, वैजयन्ती, अपराजिता, जयन्ती, नन्दा, आनन्दा और नन्दोत्तरा नाम की देवियाँ पवित्र जल से भरी झरियाँ लिये खड़ी थीं और यशोधरा, सुप्रसिद्धा, सुकीर्ति, सुस्थिता, प्रणिधि, लक्ष्मीमती, चित्रा एवं वसुन्धरा आदि देवियाँ मणिमय दर्पण लेकर ऐसे खड़ी थीं, मानो हाथ में चन्द्रमा लेकर दिशाएँ ही खड़ी हों। इला, नवमिका, सुरा, पीता, पद्मावती, पृथ्वी, प्रवरकांचना और चन्द्रिका आदि देवियाँ शिवादेवी पर सफेद छत्र लगाये हुए थीं—वे पूर्ण चन्द्रमा की रात्रियों के समान जान

पड़ती थीं। श्री, धृति, आशा, वारुणी, पुण्डरीकिणी, अलम्बुसा, मिश्रकेशी और ह्री आदि देवियाँ हाथों में चँवर धारण करने के कारण फेनवाली नदियों की तरह लग रही थीं। देदीप्यमान कनकचित्रा, त्रिशिरा और सूत्रामणि विद्युत्कुमारियाँ जिनेन्द्रभगवान के पास ऐसी लग रही थीं, मानो मेघखण्ड के पास बिजलियाँ खड़ी हों। चार प्रधान विद्युत्कुमारियाँ और चार प्रधान दिक्कुमारियाँ विधिपूर्वक भगवान का जातकर्म कर रही थीं।

कुबेर ने शौर्यपुर नगर की अद्‌भुत शोभा बना रखी थी। इन्द्रों सहित देवासुरों के समूहों ने आदरपूर्वक उस नगर की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और उसकी छटा देखने लगे। उसके बाद सज्जनों के सखा और मर्यादा के ज्ञाता इन्द्र ने नगरी में प्रवेश किया और शिवादेवी के महल के समीप खड़े होकर उसने पवित्र और श्रीमयी इन्द्राणी को नवजात बालक को वहीं लाने का आदेश दिया। पति की आज्ञा से इन्द्राणी ने प्रसूति-गृह में प्रवेश किया और अत्यन्त आदरपूर्वक जिनमाता को नमस्कार करके उन्हें मायामयी निद्रा में सुला दिया और देवमाया से एक-दूसरे ही बालक को बनाकर उनके पार्श्व में लिटा दिया। इन्द्राणी कोमल हाथों में जिनेन्द्र को उठाकर बाहर लायी और इन्द्र को दे दिया। इन्द्र ने माथा झुकाकर उस बालक को प्रणाम किया और अपने एक हजार नेत्रों से बालक भगवान के रूप को देखने लगा। वह बालक को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर बैठ गया। देव छत्र धारण कर चल रहे थे और चँवर डुला रहे थे। उस समय इन्द्र ऐसा लग रहा था, मानो चंचल लहरों और फेनों से भरा हुआ समुद्र ही चला जा रहा हो।

ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख थे। हर मुख में आठ दाँत और हर दाँत पर एक सरोवर था। प्रत्येक सरोवर में एक कमलिनी और हर कमलिनी में बत्तीस पत्ते थे और हर पत्ते पर एक-एक अप्सरा नृत्य कर रही थी। इस प्रकार लोकोत्तर दृश्यों और विभूतियों के साथ सारा देव समाज मेरुपर्वत पर पहुँचा। वहाँ उन्होंने उसकी परिक्रमा की और विशाल पाण्डुकशिला पर रखे सिंहासन पर जिनबालक को विराजमान किया।

पूजा के उपकरण हाथ में लिये देवांगनाएँ चारों तरफ खड़ी थीं। रस, लय और भाव के ज्ञाता श्रेष्ठ नर्तक नृत्य से सबका अनुरंजन कर रहे थे। नगाड़ों, शंखों, घण्टों और भेरियों का शब्द पहाड़ों की गुफाओं में प्रतिध्वनित होने के कारण सारे संसार को व्याप्त कर रहा था। अनेक प्रकार की सुगन्धि, लेपन, धूप और पुष्पों की राशियाँ जहाँ तहाँ रखी हुई थीं और पाण्डुकवन की प्रिय गन्ध दिशाओं को सुरभित कर रही थी।

तभी इन्द्र ने देवों के द्वारा लाये हुए मणिखचित सुवर्ण कलशों में भरे क्षीरसागर के जल से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक आरम्भ किया। सुमेरुपर्वत और क्षीरसागर के बीच देव पंक्तिबद्ध खड़े थे। उस समय वह आकाश ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत-सी रस्सियों से बाँधकर कहीं ले जाया जा रहा हो। देवों के एक हाथ में रखे

सोने, चाँदी, मणिरत्नों से वे कलश सुन्दर पंखोंवाले गरुड़ों की शोभा को धारण कर रहे थे। भगवान के अभिषेक में गिरे उस शुभ्र जल ने सारे मेरुपर्वत को सफेद कर दिया।

अन्य स्वर्गों के इन्द्रों ने भी निर्मल जल से भगवान का अभिषेक किया। शची ने सुगन्धित द्रव्य से भगवान का उबटन किया और समस्त इन्द्राणियों ने शुभजल से भरे हुए कलशों को एक साथ उठाकर उनका अभिषेक किया।

सब देवासुरों ने वस्त्राभूषण, माला-विलेपन के अर्पण द्वारा भगवान की पूजा की और उनका अरिष्टनेमि नाम रखकर प्रदक्षिणापूर्वक उनका स्तवन किया।

इन्द्र ने नेमि जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहा :

''प्रभो, आपने श्रुतज्ञान, मतिज्ञान और अवधिज्ञान से विकसित और विशिष्ट पदार्थों को दिखलानेवाली दृष्टि के द्वारा समस्त चराचर जगत् को देख लिया है। आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के भेद से त्रिविधता को प्राप्त तीर्थंकर नाम की पुण्य प्रकृति का संचय किया है। उसी तीर्थंकर प्रकृति की स्थिति के कारण सारे देवों ने आपके चरण-युगल की सेवा की है। आप युगपुरुष हैं। आपने अपने जन्म से समस्त भतरक्षेत्र को पवित्र किया है। आप तीनों लोकों के गुरु हैं, विश्वपिता हैं, आपको नमस्कार है।

हे नेमि जिनेन्द्र, आपने अपने जन्ममात्र से मोक्ष का जो अनुपम और हितकारी मार्ग दिखलाया है, उसके अनुसरण से पापमल को नष्ट करनेवाले अनेक संसारी जीव लोकवन्दनीय पद को प्राप्त करेंगे। आप प्रणतप्रिय हैं, भक्तवत्सल हैं, यह संसार जन्म-जरा-मरण के दुखों से भयावह है, इसे पार कर आप समस्त लोक के शिखररूप उस मोक्षस्थान को प्राप्त होंगे, जहाँ सम्पूर्ण गुणों के आश्रय सिद्ध परमेष्ठी विराजमान रहते हैं और जिसे मुनिगण परमोच्च, अद्वितीय, अविनाशी एवं आत्म-हितकारी पद कहते हैं।

इस परमपद का उत्तम, महान् नित्योदित, अन्तरहित बलसम्पन्न सुख महान पुरुषों को ही प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। हे स्वामी, आप पदार्थों के निरूपण करने में कुशल जिन शासन के उपदेष्टा हैं। इस जगत् में तीनों लोकों के देव, असुर, मनुष्यों के अभ्युदय में जो सुख कारण बनता है, वह भी आपके शासन से ही प्राप्त हो सकता है।

हे जिनेन्द्र, आपमें प्रिय एवं हितकारी वचनों का वैभव है।

आपने दिशाओं के अन्तराल को सुगन्धित कर दिया है। आप उत्कृष्ट रूप से सम्पन्न हैं। आपके शरीर का रुधिर दूध के समान है। आपका शरीर मल से रहित है। पसीने से रहित है। समस्त लक्षणों से सुशोभित आप रस और भाव को जाननेवाले हैं। आपने संयम आत्म-बुद्धि से कामदेव को जीत लिया है। आप धन-धान्य से भरी इस रक्षणीय भूमि के रक्षक हैं। आप सबके रक्षक हैं।''

जिनेन्द्र की स्तुति में देवों सहित इन्द्र के मुख से अजस्र वाग्धारा प्रवाहित होती रही :

''नाथ, आपके गुणों की अभिलाषा से हम आपके सामने विनत हैं। यह अत्यन्त ऊँचा पर्वतों का राजा सुमेरु भी आज आपकी स्नानपीठ बन गया। आपका ऐश्वर्य अपरिमित है। बड़े-बड़े देवों और राजपुरुषों से माननीय है। इस त्रिलोक में कोई भी तो ऐसा माननीय पुरुष नहीं, जो आपके तुल्य ऐश्वर्य को प्राप्त कर सके। हे प्रभु, इस बाल्य अवस्था में भी आप लोकोत्तर पराक्रम के स्वामी हैं। तीनों लोकों से वन्दनीय हैं और नयी भक्ति से नम्र बने मनुष्यों के हृदयों को परमसुख देनेवाले हैं।

आप काम-गज को नष्ट करने के लिए सिंह के समान हैं।

आप क्रोध के नाग को वश में करने के लिए गरुड़ के समान हैं।

आप अहंकार के पर्वत को वज्र की तरह चूर-चूर कर देते हैं।

आप लोभ के महावन को दावानल की तरह भस्म कर देते हैं, आपको नमस्कार है।

आप ईश्वरत्व को धारण करने में धीर-वीर हैं, आपको नमस्कार है।

आप विष्णुत्व से युक्त हैं, आपको नमस्कार है।

आप अर्हन्तरूप अनिन्द्य पद के स्वामी हैं, आपको नमस्कार है।

आप ब्रह्मपद को प्राप्त करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है।

सत्यवचनों से भगवान का स्तवन कर सबने उन्हें प्रणाम किया और यही एक वर माँगा, ''भगवन, हम लोगों को उत्तम बोधि की प्राप्ति हो।''

इसके उपरान्त आनन्द-मोद से भरे हुए देवों ने शंख फूँके। उन कान्तिरहित देवों के मुख से सटे वे शंख ऐसे जान पड़ते थे, मानो अधिक पी जाने के कारण उगले हुए अमृत-खण्ड हों। एक तरफ भेरी मृदंग और पटह के गम्भीर शब्द उठ रहे थे,

दूसरी तरफ वीणा, बाँसुरी के महीन स्वर दिशाओं को यह सूचना दे रहे थे कि 'श्री जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक का उत्सव सम्पन्न हो चुका है।'

विद्याधर स्त्रियाँ और देवांगनाएँ सुन्दर संगीत की सृष्टि कर रही थीं और अप्सराएँ श्रृंगार, हास्य और अद्भुत रस से परिपूर्ण वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य—इन चार प्रकार के श्रेष्ठ अभिनयों को प्रस्तुत कर रही थीं।

तब सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र ऐरावत हाथी की पीठ पर जिनबालक को विराजमान कर शौर्यपुर को चला। वह नगर सचमुच ही अपने नाम के अनुरूप शूरवीरता के पर्वत, सिंह के समान बलशाली यदुवंशी राजाओं से अधिष्ठित था। उस समय जिनेन्द्र भगवान के ऊपर सफेद छत्र तना हुआ था। चंचल चँवर ढुलाये जा रहे थे और अप्सराएँ सुन्दर गीतों में बँधी उनकी कीर्ति गा रही थीं। अन्य इन्द्रों का समूह उनके चरण कमलों की सेवा कर रहा था और परम आनन्द का अनुभव कर रहा था।

लोकोत्तर और आश्चर्यजनक ऐश्वर्यों के स्वामी जिनेन्द्र की जय-जयकार से आकाश व्याप्त हो रहा था। प्रभु का शरीर कोमल था। वे तीर्थंकर थे, मनोहर थे और बाल्य अवस्था के अनुरूप वस्त्राभूषणों से सुसज्जित थे। मेघ के समान उनकी श्याम मूर्ति पर हरिचन्दन का लेप लगा हुआ था। प्रतीत होता था कि इन्द्रनीलमणि पर्वत पर सघन चाँदनी लिपटी हुई है। महानदियों के जल-बिन्दुओं से शीतल, कल्पवृक्ष के रंग-बिरंगे पुष्पों से सुगन्धित बहती मन्द हवा भगवान का आलिंगन कर रही थी।

देवों के परिकर से घिरे बालजिनेन्द्र शीघ्र ही अपने नगर में जा पहुँचे। वहाँ भवनों पर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। वाद्ययन्त्रों की मधुर स्वर-लहरी सब जगह व्याप्त थी। राजमार्ग फूलों से अटे हुए थे और सारा नगर लक्ष्मी के भण्डार-गृह की तरह धनधान्य से पूर्ण था।

भगवान नेमिनाथ समस्त लोकों को आश्चर्य में डालनेवाले आश्चर्यों को प्रकट कर रहे थे।

गजराज के मस्तक पर विराजमान बालक को सौधमेन्द्र ने लेकर शिवा माता की गोद में दिया और अपनी हजार भुजाओं को फैलाकर उन पर हजारों नृत्य करती देवियों को धारण किया। इस लीला को यादवों ने बड़े हर्ष से देखा और इसे अपना सबसे बड़ा भाग्य समझा। इसके बाद इन्द्र ने महानन्द नाम का वह उत्तम नाटक किया, जिसे देखकर सबके नेत्र फैल गये। इसमें अभिनेय अंशों को वाद्ययन्त्रों के संगीत से पृष्ठभूमि दी गयी। दिशाओं के भेद को दर्शाया गया, पृथिवी के प्रताप को गाया गया और अनेक रसों की संरचना से इसमें उदार भाव का उत्कर्ष प्रकट हुआ।

इसके बाद इन्द्र ने जिनेन्द्र के माता-पिता को प्रणाम किया। उनकी पूजा की।

अमूल्य आभूषणों से उन्हें सज्जित कर उनका सम्मान किया। इन्द्र ने बालजिनेन्द्र के दाहिने हाथ के अँगूठे में अमृतमय आहार रखा और खेलने के लिए समान अवस्थावाले देवकुमारों को उनके पास नियुक्त कर कुबेर से कहा, "भगवान की अवस्था, काल और ऋतु के अनुकूल हमेशा दिव्य सुखद पदार्थों की व्यवस्था करते रहो।"

सारे आयोजन के बाद इन्द्र ने माता शिवादेवी और पिता समुद्रविजय से आज्ञा ली और अपने को कृतार्थ मानकर सब देवों के साथ स्वस्थान को लौट गया। दिक्कुमारी आदि देवियाँ भी माता शिवादेवी को प्रणाम करके, अपने शरीर की दीप्ति से दिशाओं को दमकाती हुई अपने-अपने स्थानों को चली गयीं।

इधर बालक होने पर भी प्रवृद्ध क्रियाओं को करनेवाले नेमिजिनेन्द्र अपने गुणों से समस्त जगत् को ज्योतिर्मय करते हुए दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगे।

उधर कंस की स्त्री जीवद्यशा अपने पिता जरासन्ध के पास राजगृह पहुँची और यादवों के दोषों का बखान करती हुई रोने लगी। उसकी आँखें लाल और फूली हुई थीं। गला रुँधा हुआ था, और तमाल की तरह काले लम्बे केश बिखरे हुए थे। उसने पिता जरासन्ध को वैसे ही क्षुब्ध कर दिया, जैसे समुद्र की वेला समुद्र को ही क्षुब्ध कर देती है। वह पिता के सामने विलाप करती हुई कहने लगी :

"पिता जी, जब आप सम्पूर्ण पृथिवी का शासन कर रहे हैं, तब मेरे पति का अपमान कैसे हुआ? मैं जो अब तक वैधव्य का यह दुख सहन कर रही हूँ, वह केवल इसलिए कि गर्व से फूले यादवों के रक्त-रंजित शिरों से अपने पति के वैर का बदला ले सकूँ।"

पुत्री के वचन सुनकर और उसकी दशा देखकर जरासन्ध अपने योग्य शब्दों से उसे सान्त्वना देता हुआ बोला, "बेटी, तू इतना दुख मत कर। इस संसार में जो होता है, वह किसी होनहार के वश ही होता है। अब यादवों के नाश का समय आ गया है। खेत में घुसने का इच्छुक पशु भी वध के भय से अपने निकलने के मार्ग का विचार कर लेता है, लेकिन तेरे पति को मारते समय इन उन्मत्त यादवों ने इस बात को भी भुला दिया। ये भले ही अब तक तेरे चरणों की शरण पाकर जीवित रहे हों, लेकिन बल और कुल की शाखाओं से गर्वीले ये यादव जल्दी ही मेरे क्रोध की दावाग्नि में भस्म होनेवाले हैं। ये श्रमण मार्ग का अतिक्रमण कर चुके हैं, अब इनका नाम भी नहीं सुनाई देगा।"

राजा जरासन्ध ने अपने बोलों से बेटी की क्रोधाग्नि को तो शान्त कर दिया, लेकिन स्वयं क्रोधानल की भट्ठी में सुलगने लगा। उसने तत्काल अपने यमराज

जैसे पुत्र कालयवन को यादवों को मारने का आदेश दिया।

कालयवन ने चंचल समुद्र के समान दिखनेवाली अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर यादवों के साथ सत्रह बार भयंकर युद्ध किया, लेकिन अन्त में अतुलमालावर्त पर्वत पर बुरी तरह पराजित हुआ।

इसके बाद राजा जरासन्ध ने अपने प्राणप्रिय भाई अपराजित को भेजा, जो शत्रुओं का विजेता था। प्रलयाग्नि की लपटों पर भी झपट्टा मार सकता था। विशाल सेनाबल से प्रेरित था और यादवों को मृत्यु का ग्रास बनाने के लिए लालायित था।

अपराजेय अपराजित ने यादवों के साथ तीन सौ छियालीस बार युद्ध किया, लेकिन अन्त में श्रीकृष्ण के बाणों ने उसके प्राण हर लिये। पृथिवी पर पड़ा यशस्वी अपराजित ऐसा जान पड़ता था, मानो थकान दूर करनेवाली वीर शय्या पर ही शयन कर रहा हो।

श्रीकृष्ण और बलभद्र के अद्‌भुत पराक्रम से यादवों के अन्दर शत्रुभय नष्ट हो गया और वे निःशंक होकर मथुरा के नागरिकों के साथ आनन्द मनाने लगे।

युद्ध में भाई के वध का समाचार सुनकर जरासन्ध शोकसमुद्र में पूरा ही डूब जाता, लेकिन शत्रुओं पर जनमे क्रोध ने जहाज का काम किया। कूटनीतिज्ञ और पराक्रमी जरासन्ध ने समस्त यादवों के नाश का निश्चय कर लिया और सारे मित्रों, बन्धुवर्गों को युद्ध केलिए आदेश दिया। स्वामी की आज्ञा पाकर अनेक देशों के राजा अपनी चतुरंग सेनाओं के साथ आ पहुँचे। राजा जरासन्ध ने समुद्र की तरह विस्तृत सेना के साथ यादवों की दिशा में प्रयाण किया।

इधर गुप्तचरों ने शीघ्र ही इसकी सूचना यादवों को दी। समाचार सुनकर वृष्णिवंश और भोजवंश के नीतिवान और पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करनेवाले वृद्ध प्रधान पुरुष एकत्रित हुए।

गुप्त सभा में मन्त्रणा कर रहे उन पुरुषों ने कहा, ''तीन खण्डों में जरासन्ध की आज्ञा कभी किसी के द्वारा खण्डित नहीं हुई। वह स्वयं भी उग्र है और उसका शासन भी उग्र है। चक्र, खड्‌ग, गदा और दण्डरत्न आदि विशिष्ट अस्त्रों का स्वामी होने के कारण वह उद्धत है, फिर भी किये हुए उपकार को मानता है। स्वीकार करने पर अपराधियों को क्षमा कर देता है। उसने हम लोगों का पहले कभी अपकार नहीं किया, उपकार ही करता रहा है। लेकिन अब दामाद और भाई के वध से उसके विजेता गर्व को आघात पहुँचा है। इसी पराभव से व्याकुल होकर वह क्रुद्ध हो उठा है और युद्ध के लिए हमारे सामने आ रहा है।

वह इतना अहंकारी है कि यादवों की प्रकट सामर्थ्य को देखता हुआ भी नहीं देख रहा है। कृष्ण के पुण्य की शक्ति और बलराम का पौरुष बाल्य अवस्था से ही प्रकट हो रहा है। नेमि तीर्थंकर का जन्म भी हो चुका है। वे अभी बच्चे ही

हैं, लेकिन इन्द्र का आसन कम्पित करनेवाला उनका प्रभुत्व तीनों लोकों में प्रकट हो चुका है। जरासन्ध यह भी नहीं सोच रहा है कि जिस तीर्थंकर की रक्षा के लिए सारा देवसमाज व्यग्र रहता है, उस तीर्थंकर के कुल का कौन अपकार कर सकता है?

ऐसा कौन अज्ञानी है, जो बड़ी-बड़ी लपटोंवाली अग्नि को हाथ से छुए? ऐसा कौन-सा बलवान है, जो जीतने की इच्छा से नेमि, बलभद्र और कृष्ण का युद्ध में सामना करे?

राजा जरासन्ध प्रतिनारायण है और उसके मारनेवाले बलभद्र और नारायण उत्पन्न हो चुके हैं। इसलिए जब तक वह प्रतिनारायण पतंगे की तरह स्वयं ही आकर कृष्णरूप अग्नि में भस्म नहीं हो जाता है, तब तक हम लोग कुछ दिनों के लिए पश्चिम दिशा में जाकर निवास करें। हमारे शान्तिपूर्वक चुप बैठने पर भी अगर जरासन्ध हमारा सामना करने के लिए आता है तो हम लोग शूर-वीर कृष्ण को विजय के लिए सम्मुख कर देंगे और युद्ध द्वारा जरासन्ध का सत्कार कर उसे यमराज के पास भेज देंगे।''

उन मुख्य पुरुषों ने अपना यह निर्णय सेना में प्रकट कर दिया और भेरी के शब्द से नगर में सबको प्रस्थान की आज्ञा दे दी। भेरी का शब्द सुनकर यादव और भोजवंशी राजाओं की सेनाएँ चल पड़ीं। मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर की प्रजाओं ने भी साथ ही प्रस्थान किया। यह प्रस्थान ऐसा जान पड़ रहा था, मानो सब मिलकर वन-विहार के लिए जा रहे हों। वे उच्चकुलीन राजा छोटे-छोटे पड़ावों में चलते थे। अनेक देशों को पार करते हुए जब वे पश्चिम दिशा की तरफ बढ़े तो विशाल विन्ध्याचल उनके मार्ग में आया। हाथियों के वनों से सुन्दर, सिंह और व्याघ्रों से सघन और भयावह उस पर्वत की चोटियाँ आकाश छू रही थीं और यादवों के हृदय को भी हर रहीं थीं।

इसी मुकाम पर यादवों ने सुना कि जरासन्ध पीछे-पीछे आ रहा है। यादव युद्ध की कामना से प्रतीक्षा करने लगे।

उन दोनों प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं में जब थोड़ा-सा ही अन्तर रह गया तो अर्धभरत क्षेत्र में निवास करनेवाली देवियों ने हस्तक्षेप किया और अपनी दिव्य सामर्थ्य से वहाँ बहुत-सी जलती हुई चिताएँ रच दीं। जरासन्ध ने देखा, कोई चतुरगिणी सेना ज्वालाओं से घिरी हुई जल रही है। उन ज्वालाओं ने जरासन्ध का मार्ग रोक दिया। उसने अपनी सेना वहीं ठहरा दी।

तभी एक देवी बुढ़िया का रूप धरकर रोती हुई वहाँ आयी।

जरासन्ध ने पूछा, ''बूढ़ी, यह किसकी विशाल सेना व्याकुल होकर जल रही है? तू यहाँ इस बियाबान में क्यों रो रही है? सब ठीक-ठीक बता।''

उस वृद्धा की आँखें आँसुओं में डूबी हुई थीं। कण्ठ शोक से रुँधा हुआ था।

वह बड़ी कठिनाई से बोली :

"महाराज, मैं अपना दुखड़ा कहती हूँ। क्योंकि कोई मनुष्य यदि किसी महापुरुष से अपना दुख कह देता है, तो वह बड़े से बड़े दुख से छूट जाता है।

राजगृह नगर में जरासन्ध नाम का एक सत्यप्रतिज्ञ राजा है। वह समुद्रपर्यन्त पृथिवी का शासन करता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि उसके प्रताप की अग्नि शत्रुओं को शान्त करने के लिए बड़वानल के बहाने से समुद्र में भी जलती रहती है।

अनेक अपराधों के अपराधी यादवों के हृदय में हमेशा ही जरासन्ध के भय का शल्य गड़ा रहता था। इसलिए वे प्राण बचाने के लिए कहीं भाग निकले। लेकिन सारी पृथिवी में जब किसी ने उन्हें शरण नहीं दी, तब उन्होंने मृत्यु को ही सर्वोपरि मानकर इन जलती हुई चिताओं की शरण ली है।

मैं उन राजाओं की वंश-परम्परा से चली आयी दासी हूँ। मुझे अपना जीवन प्रिय था, इसलिए मैं हतभागिनी उनके साथ जल नहीं सकी और उनके इस अपमरण से जीवित जल रही हूँ। सारे यदुवंशी, कुरुवंशी, भोजवंशी राजा प्रजाओं के साथ अग्नि में जल गये। मैं अभागिनी दुख का बोझा ढोने के लिए जीवित रह गयी हूँ और अब अकेली पिशाचग्रस्त-सी होकर घूम रही हूँ।"

उस बुढ़िया के वचन सुनकर जरासन्ध बहुत विस्मित हुआ। उसने उसकी बात का विश्वास कर लिया और वह यादवों के वंश को नष्ट हुआ समझकर तत्काल राजगृह नगर लौट आया। वहाँ उसने सभी मृतकों के लिए जलांजलि दी।

इधर जरासन्ध अत्यन्त निश्चिन्तता से अपने नगर में रह रहा था। उधर यादव लोग इलायची के वनों से सुगन्धित समुद्र-तटों का आनन्द लेते हुए पश्चिमी समुद्रतट पर विचरण कर रहे थे।

एक दिन समुद्रविजय आदि दशों भाई, महाभोज, बलभद्र, कृष्ण और भगवान नेमिजिनेन्द्र लहराते समुद्र को देखने के लिए उसके पास गये। वह समुद्र उन्हें मदोन्मत्त दिग्गज की तरह दिखाई दिया। वह उठती-गिरती मछलियों से ऐसा लग रहा था, मानो अपनी आँखों को टिमका रहा हो। ऊँची-ऊँची लहरों से आकाश को ही नीचे लाता हुआ-सा वह समुद्र बड़े-बड़े मगरमच्छों से भरा हुआ था और लहरों के कारण घूमता हुआ जान पड़ता था।

वह समुद्र क्षत्रिय राजाओं को जिनेन्द्र भगवान से निरूपित अगम्यशास्त्र की तरह लगा जो द्वादशांग रूपी महाजल से भरा हुआ था। जिनेन्द्र का शास्त्र पुराणों में निरूपित अनेक मार्गों से मनोहर है। वैसे ही यह समुद्र अनेक पुरातन नदियों के समागम से मनोहर था। जिनेन्द्र के शास्त्र में आत्मद्रव्य, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के महारत्न हैं। यह समुद्र भी अनेक महारत्नों की खान था। जिनेन्द्र का शास्त्र अर्थ की दृष्टि से अनादिक अर्थात् असामान्य है, वैसे ही यह समुद्र भी

असदृश जल से परिपूर्ण था। जिनेन्द्र का शास्त्र अपनी विशालता और निर्दोषता के कारण आकाश-लक्ष्मी का स्पर्श करता है, उसी तरह यह समुद्र भी अपने विस्तार और स्वच्छ गुण के कारण आकाशश्री को छू रहा था। जिनेन्द्र का शास्त्र अपने अन्दर अनन्त जीवों के रक्षारूप व्रत को धारण करता है, वैसे ही यह समुद्र अपने भीतर रहनेवाले अनन्त जीवों की रक्षा करता था। विजय के इच्छुक वादी लोग जिनेन्द्र द्वारा निरूपित शास्त्र के एक भी वाक्य का खण्डन नहीं कर सकते, वैसे ही समुद्र भी विजयाभिलाषी लोगों के लिए अलंघ्य था। जिनेन्द्र का शास्त्र शरणागत मनुष्यों के अनेक अनुबन्धों से जन्मे सन्ताप को दूर करता है, वैसे ही समुद्र भी अपने निकट आये मनुष्यों के ताप का हरण करता था।

इस तरह नेमिजिनेन्द्र के सान्निध्य में, उन्हीं से निरूपित शास्त्र की तरह अगम्य, अपार और निर्दोष गुणवाले उस समुद्र को देखकर सभी राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। उस समय वह समुद्र नेमिभगवान के दर्शन से प्रसन्न होकर तरंगित हो रहा था। पुष्पांजलि बिखेर रहा था और शंखध्वनि कर रहा था। उस समुद्र ने मूँगे-मोतियों के अर्घ्य से कृष्ण का स्वागत किया और मीन नेत्रों से बलदेव को देखकर उछलते हुए जल के बहाने उठकर उनका सत्कार किया। समुद्र में उठे फेनों के निमित्त से समुद्र ने समुद्रविजय, महाभोज, वृष्णि आदि राजाओं के प्रति हर्ष प्रकट किया।

एक बार किसी शुभ तिथि में कृष्ण ने अपने बड़े भाई बलदेव के साथ स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा से मंगलाचार विधिपूर्वक तीन दिन का उपवास किया। पंच परमेष्ठियों का स्तवन करके जब धीर-वीर कृष्ण नियमों में स्थित होने के कारण समुद्र-तट पर दर्भशय्या पर आसीन थे, तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से शक्ति-शाली देव गौतम ने समुद्र को दूर हटा दिया और कुबेर ने श्रीकृष्ण के पुण्य और नेमि जिनेन्द्र की भक्ति से प्रेरित होकर वहाँ द्वारिका नाम की अत्यन्त शोभाशाली नगरी की रचना कर दी। वह विशाल नगरी वज्रसदृश प्राचीरों और समुद्र की मेखलाओं से घिरी हुई थी। अपने रत्न और स्वर्णनिर्मित गगनचुम्बी महलों के कारण द्वारिका आकाश से गिरी अलकापुरी की तरह लग रही थी। उसमें स्वच्छ मधुर जलवाले सरोवर और श्वेत-नीलकमलों से आच्छादित बड़े-बड़े तालाब थे। उसमें पान, लौंग, सुपारी के घने वन थे। उसकी लम्बी-चौड़ी सड़कों पर प्याऊ और सदावर्त का प्रबन्ध था। श्रेष्ठ धातुओं से बने, वन्दनवारों और बाग-बगीचों से सजे ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर उस नगरी के सौन्दर्य को भव्यता प्रदान कर रहे थे।

द्वारिका के बीचोंबीच समुद्रविजय आदि दशों भाइयों के महल थे। उन सब महलों के बीच में श्रीकृष्ण का अठारह खण्डोंवाला 'सर्वतोभद्र' नाम का महल अलग शोभा पा रहा था। साथ ही बावड़ी और बगीचों से घिरा बलदेव का महल था। उसके आगे एक सभामण्डप था, जो इन्द्र के सभामण्डप की तरह था और

अपनी दीप्ति से सूर्य की प्रभा को भी फीका कर रहा था।

इस सुन्दर नगरी की रचना करने के बाद कुबेर ने दर्भशय्या पर विराजमान श्रीकृष्ण को इस नगरी के बारे में बताया और उन्हें मुकुट, हार, कौस्तुभमणि, दो पीत वस्त्र, कुमुद्वती गदा, शक्ति, नन्दक नाम का खड्ग, शार्ङ्ग नाम का धनुष, गरुड़, ध्वजावाला दिव्य रथ, चमर और श्वेत छत्र भेंट किये। कुबेर ने बलदेव को दो नील वस्त्र, माला, मुकुट, गदा, हल, मुसल, ताल की ऊँची ध्वजा से शक्तिशाली रथ और छत्र प्रदान किया। कुबेर ने समुद्रविजय आदि दसों भाइयों तथा भोज आदि सभी राजाओं को श्रेष्ठ वस्त्राभूषणों से सम्मानित किया।

श्री नेमिजिनेन्द्र की सर्वोत्तम द्रव्यों से पूजा कर कुबेर ने सबसे कहा, "आप सब लोग नगरी में प्रवेश करें," और अपने लोक को चला गया।

समस्त यादवों ने समुद्र-तट पर श्रीकृष्ण और बलदेव का अभिषेक किया। उनकी जय-जयकार से वहाँ का आकाश भर गया। श्रीकृष्ण ने अपनी चतुरंग सेना और समस्त प्रजा के साथ उस स्वर्गिक नगरी द्वारिका में प्रवेश किया। मथुरा, शौर्यपुर, और वीर्यपुर के निवासियों ने अपने नगरों की तरह ही यहाँ गली-मोहल्लों के नाम दिये। कुबेर ने साढ़े तीन दिन तक धन-धान्य की अटूट वर्षा की।

द्वारिका के स्वामी श्रीकृष्ण की आज्ञा पश्चिम के सभी राजा मानने लगे। उनके प्रताप के वशीभूत हो अनेक राजाओं ने अपनी कन्याएँ उन्हें दीं और श्रीकृष्ण अपनी हजारों रानियों के साथ उस ऐश्वर्यमयी नगरी में विहार करने लगे।

नेमिकुमार भी द्वारिका में बालचन्द्र की तरह बढ़ने लगे। उनके उदय से यादवों के मुख खिल उठते थे और उनके सूर्य-व्यक्तित्व की प्रभा से सारे जगत् का अन्धकार नष्ट हो जाता था। नेमिकुमार अपनी बाल्य-अवस्था के अनुरूप अनेक क्रीड़ाएँ करते हुए बलभद्र और श्रीकृष्ण के प्रीतिवर्धन बन गये थे। यादव स्त्रियाँ उन्हें हाथों-हाथ रखती थीं।

धीरे-धीरे युवावस्था आयी, शरीर में शुभलक्षणों का विकास प्रकट हुआ और नीलोत्पल नेत्रोंवाले नेमिकुमार स्त्रियों की अपलक दृष्टि का लक्ष्य बन गये। उनके रूप के बाण ने सबके हृदय को बेध दिया, लेकिन उनका हृदय सारे जगत् के सामूहिक बाणों से भी विद्ध न हो सका। जगत् में कोई भी सादृश्य न पाने के कारण उनका रूप अनुपम था। तीनों ज्ञानों के जल से उनके अन्दर का मोह धुल गया था, फिर यौवन उनके अन्दर काम की बाधा कैसे पहुँचाता? वैभव की धूलि उन्हें कैसे मलिन करती?

ग्यारहवाँ प्रकरण

पृथिवी पर ही स्वर्गिक सुखों का भोग करनेवाले द्वारिका-निवासियों ने एक दिन देखा, आकाशचारी मुनि नारद यादवों की विशाल सभा में उतरे हैं। नारद की जटाएँ, दाढ़ी और मूँछ पिंगल वर्ण की थीं और वे स्वयं चन्द्रमा के समान श्वेत कान्तिवाले थे। उन्होंने रंगबिरंगा योगपट्ट धारण कर रखा था। हवा में हिलते उत्तरीय के कारण वे कल्पवृक्ष की तरह लग रहे थे। उनके शरीर पर पड़ा तीन लड़ोंवाला यज्ञोपवीत साक्षात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के तीन सूत्रों से बना जान पड़ता था। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और असाधारण पाण्डित्य के गौरव से महान नारद समस्त राजाओं के पूजनीय थे। जिस तरह राज्योदय शुद्ध प्रकृति से युक्त और शत्रुओं के षड्वर्ग से विहीन होता है, वैसे ही नारद भी निर्दोष प्रकृति से सम्पन्न और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छह शत्रुओं से परे थे।

द्वारिका का वैभव देखकर नारद का शिर और शरीर आश्चर्य से हिल रहा था। सभासदों के बीच उनके उतरते ही सब राजा सहसा उठकर खड़े हो गये और उन्होंने नमन, आसन, अर्घ्य आदि से उनका सम्मान किया। श्री नेमिजिनेन्द्र, नारायण कृष्ण और बलभद्र को देखकर, उनसे बोलकर नारद का हृदय अमृत से भर गया, लेकिन आँखें अतृप्त की तरह इन तीनों पर लगी रहीं।

नारद ने अपने मुनिपद के अनुरूप पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकरों की कथा कही, और सुमेरुपर्वत पर होनेवाले अभिषेकों, वन्दन-पूजनों के वर्णनों से उन सबके मन को सन्तुष्ट किया।

इसी प्रसंग में राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से पूछा, ''हे नाथ, नारद कौन है? इनकी उत्पत्ति किससे हुई है।''

गौतम गणधर ने कहा, ''हे श्रेणिक, चरमशरीरी नारद की उत्पत्ति तथा स्थिति कहता हूँ, सुनो :

शौर्यपुर के निकट ही दक्षिण दिशा में तपस्वियों का एक आश्रम था। वहाँ के तपस्वी फल-फूल आदि खाकर अपने शरीर का संरक्षण करते थे। उन्हीं में सुमित्र नाम का एक तपस्वी और उसकी सोमयशा नाम की स्त्री थी। ये दोनों भिक्षावृत्ति से अपना पेट भरते थे। कालान्तर में इनके चन्द्र सदृश कान्तिवाला एक पुत्र हुआ।

एक बार भूख और प्यास से पीड़ित दोनों पति-पत्नी अपने बेटे को एक वृक्ष के नीचे रखकर भिक्षा के लिए नगर में गये। तभी जृम्भक नाम के एक देव ने एकान्त में हाथ-पाँव मारते इस बालक को देखा और पूर्वजन्म के स्नेह से इसे उठाकर वैताढ्य पर्वत पर ले गये। उसने मणिकांचन गुफा में इस बालक को रखा और कल्पवृक्ष से उत्पन्न दिव्य आहारों से इसका पालन-पोषण किया। यह बालक देवों को बहुत प्रिय था, इसलिए जब यह आठ वर्ष का हुआ, तब उन्होंने प्रीतिवश इसे रहस्यसहित जिनागम और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की। यही बालक नारद नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह अनेक विद्याओं का ज्ञाता और अनेक शास्त्रों का पण्डित हैं। साधुवेश में रहते थे और साधुओं की सेवा करते थे। काम को जीतनेवाला होकर भी कामदेव की तरह विभ्रमयुक्त हैं। कामियों को प्रिय हैं और हास्य विनोदी हैं। लोभ से रहित, चरमशरीरी नारद को कषायविहीन होने पर भी पृथिवी पर युद्ध देखना बहुत प्रिय है। यह अधिक बोलनेवालों में शिरोमणि था और जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक आदि उत्सवों को देखने के कौतुक से लोक में विभ्रमपूर्वक भ्रमण किया करते थे।

यही नारद यादवों से पूछकर श्रीकृष्ण का अन्तःपुर देखने के लिए महल में गये। उस समय कृष्ण की प्राणप्रिया महादेवी सत्यभामा मणिमय दर्पण में अपना अलंकृत रूप देख रही थी। नारद ने साक्षात् रति की तरह सुन्दर उस साध्वी को दूर से ही देखा। वह अपना रूप देखने में इतनी तल्लीन थी कि नारद को न देख सकी। नारद रुष्ट होकर तुरन्त ही बाहर निकल आये।

वे सोचने लगे—'इस संसार में सारे विद्याधर और भूगोचरी राजा तथा उनकी रानियाँ मुझे उठकर नमस्कार करती हैं, लेकिन विद्याधर सुकेतु की यह लड़की सत्यभामा इतनी ढीठ है कि रूप के मद में मतवाली होकर इसने मेरी तरफ देखा भी नहीं। मैं इसके रूप और सौभाग्य को अतिक्रान्त करनेवाली ऐसी कन्या श्रीकृष्ण को लाकर दूँगा कि इस वज्रप्रहार से इसके सौन्दर्य, सौभाग्य और गर्व का पर्वत चूर-चूर हो जाएगा। सपत्नी के आने पर इसका मुख गरम उसाँसों से मलिन हो जाएगा। इसने मुझे रुष्ट किया है, अब इसका छुटकारा नहीं।'

नारद तत्काल आकाश में उड़े और कुण्डिनपुर नगर आ पहुँचे। वहाँ के राजा भीष्म महाकुलीन और शत्रुंजय थे। उनके पुत्र का नाम रुक्मी था जो अपने पिता के पौरुष का पोषक था। और रुक्मिणी नाम की एक शुभ कन्या थी—कला और गुणों

में पारंगत। नारद राजा भीष्म के अन्त:पुर में गये और उन्होंने प्रेममयी बुआ के पास बैठी रुक्मिणी को देखा। सूर्य की उदयकालीन लक्ष्मी की तरह दिखनेवाली रुक्मिणी उत्तम रूप, लक्षण और भाग्य से युक्त थी। ऐसा लगता था कि नारायण कृष्ण के श्रेष्ठ पुण्य से ही उस कन्या की रचना हुई है। वह अपने शरीर की कान्ति और अंग-प्रत्यंगों की प्रभा से संसार की सारी उपमाओं का अतिक्रमण कर रही थी।

नारद ने अनेक देव-कन्याओं, अप्सराओं, राजरानियों को देखा था, किन्तु रूप का ऐसा आश्चर्य उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। वे सोचने लगे—'यह कन्या तो पृथिवी पर रूप की चरम सीमा को पार कर रही है। इस अद्वितीय कन्या का कृष्ण के साथ संयोग करके मैं सत्यभामा के रूप और सौभाग्य के अहंकार को जल्दी ही तोड़े देता हूँ।'

नारद इस तरह सोचते हुए वहाँ आये। उन्हें देखकर रुक्मिणी स्वाभाविक विनय से उठ खड़ी हुई। सम्भ्रम से उसके सारे आभूषण बज उठे। उसने सम्मुख जाकर हाथ जोड़कर बड़े आदर से नारद को प्रणाम किया। नारद ने आशीर्वाद दिया, ''द्वारिकापति तुम्हारे पति हों।''

आशीर्वाद से प्रसन्न हुई रुक्मिणी ने द्वारिका के बारे में जिज्ञासा प्रकट की। नारद के मुख से द्वारिका का वर्णन सुनकर वह कृष्ण में अत्यन्त अनुरक्त हो गयी। नारद ने बड़ी कुशलता से रुक्मिणी के हृदय की अछूती शुभ्र भित्ति पर कृष्ण का सजीव चित्र अंकित कर दिया।

राजकन्या से विदा लेकर नारद बाहर आये और पट पर रुक्मिणी का आश्चर्यजनक रूप स्पष्ट चित्रित करके श्रीकृष्ण को जा दिखाया। चित्त में विभ्रम उत्पन्न करनेवाले उस रूप को देखकर श्रीकृष्ण ने नारद के प्रति दुगुना आदर प्रकट किया और सम्पूर्ण स्त्री-लक्षणों से सम्पन्न चित्रगत कन्या के बारे में नारद से पूछा, ''देवमुनि, यह किस विलक्षण कन्या का चित्र आपने पट पर आँका है? यह तो मानवी नहीं, कोई देवकन्या जान पड़ती है।''

कृष्ण के पूछने पर नारद ने कुण्डिनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी का सब हाल ज्यों का त्यों सुना दिया। कृष्ण का आग्रह और भी बढ़ गया और वे रुक्मिणी के साथ कैसे विवाह हो, यह चिन्ता करने लगे।

उधर रुक्मिणी की बुआ, जो सब समाचार जानती थी, रुक्मिणी को एकान्त में ले गयी और बोली, ''बेटी, तू मेरी बात सुन, कभी अवधिज्ञानी मुनि अतिमुक्तक यहाँ राजाप्रासाद में आये थे। उन्होंने तुझे देखकर कहा था—'यह कन्या स्त्री के उत्तम लक्षणों से युक्त है। एक दिन यह लक्ष्मी की तरह नारायण श्रीकृष्ण के वक्ष पर

विराजेगी। कृष्ण के अन्त:पुर में श्रेष्ठ गुणशाली सोलह हजार रानियाँ होंगी, उन सबमें यह पटरानी बनेगी।'

इस तरह कहकर अमोघ वचन बोलनेवाले वे मुनि चले गये और कृष्ण की चर्चा आयी-गयी हो गयी। अब नारद ने इस कथा को फिर उठाया है। अगर यह सब सच है तो मुनिराज के वचन भी सत्य होंगे। लेकिन रुक्मिणी, सोच की बात यह है कि तेरा अत्यन्त प्रभावशाली भाई रुक्मी तुझे बन्धुता रखनेवाले शिशुपाल को दे रहा है। तेरे विवाह का समय निकट है और शिशुपाल किसी भी क्षण कुण्डिनपुर में आ सकता है।''

बुआ की बात सुनकर रुक्मिणी ने अपना विश्वास जताते हुए कहा, ''मुनिराज और देवमुनि नारद के वचन अन्यथा नहीं हो सकते। आप किसी तरह मेरे मन की बात द्वारिकाधीश तक पहुँचा दीजिए कि वही मेरे पति होंगे।''

रुक्मिणी का अभिप्राय जानकर उसकी बुआ ने गुप्त रूप से एक पत्र किसी विश्वासपात्र आदमी के हाथ श्रीकृष्ण के पास भेज दिया। पत्र में लिखा था :

'हे कृष्ण, रुक्मिणी आपमें अनुरक्त है और आपका नाम लेने से जो तृप्ति उसे मिलती है, केवल उसी को अपना आहार मानकर प्राण धारण कर रही है। वह चाहती है कि आप उसका हरण करें। माघ शुक्ला अष्टमी के दिन वह नागदेव की पूजा के बहाने नगर-बाहर के उद्यान में जाएगी। अगर उस दिन आप रुक्मिणी का हरण कर ले जाते हैं तो नि:सन्देह वह आपकी होगी, अन्यथा पिता और भाई बन्धुजन उसका हाथ शिशुपाल को दे देंगे और इस स्थिति में आपको न पाकर मृत्यु ही उसकी शरण होगी। इसलिए आप दयालु होकर अवश्य ही आएँ और रुक्मिणी को स्वीकार करें।'

कृष्ण ने वह पत्र पढ़ा और रुक्मिणी का हरण करने के लिए सावधान हो गये।

इधर कन्यादान की तैयारियाँ पूरी हो गयीं और महाराजा भीष्म की इच्छानुरूप शिशुपाल रुक्मिणी के पाणिग्रहण के लिए कुण्डिनपुर आ पहुँचा। उसकी रागभरी विशाल चतुरंगिणी सेना से कुण्डिनपुर रंगमय हो उठा। कृष्ण भी नारद से सब समाचार पाकर अपने बड़े भाई बलदेव के साथ गुप्त रूप से कुण्डिनपुर आ पहुँचे।

नगर के बाह्य उद्यान में रुक्मिणी नागदेव की पूजा कर अपनी बुआ और अन्तरंग सखियों के साथ पहले से ही खड़ी थी। कृष्ण ने उसे देखा और जो प्रेम अभी तक केवल कानों का विषय था, वह परस्पर दर्शन से अत्यन्त तीव्र हो उठा।

कृष्ण ने रुक्मिणी को अपना परिचय देते हुए कहा, ''कुमारी, जो तुम्हारे हृदय में बसता है, वही मैं हूँ, मैं तुम्हारे लिए ही यहाँ आया हूँ। अगर सचमुच में तुम्हारे

अनुपम प्रेम का पात्र हूँ तो आओ, रथ पर सवार होओ और मेरे मनोरथों को पूर्ण करो।''

बुआ ने भी रुक्मिणी से कहा, ''बेटी, अतिमुक्तक मुनि ने जो तुम्हारा पति कहा था, वह आज तुम्हारे पुण्य से खिंचकर यहाँ आ गया है। माता-पिता भी कर्मों के अनुसार ही पुत्री का हाथ दे सकते हैं, इसलिए सबसे बड़ा गुरु कर्म ही है।''

निमीलित नेत्रोंवाले कृष्ण ने लज्जा और अनुराग से भरी रुक्मिणी को अपनी दोनों बाँहों में उठाकर रथ पर बैठा दिया और रुक्मिणी के भाई रुक्मी, शिशुपाल और पिता भीष्म को रुक्मिणी-हरण का समाचार देकर अपना रथ आगे बढ़ा दिया। उसी समय श्रीकृष्ण ने दिशाओं के मुखों को भरनेवाला अपना पांचजन्य शंख फूँका और बलदेव ने भी अपने सुघोष शंख से शत्रुसेना में क्षोभ भर दिया।

समाचार मिलते ही रुक्मी और शिशुपाल रथों पर सवार होकर कृष्ण और बलदेव का सामना करने के लिए बड़ी शीघ्रता से आ पहुँचे। अपनी चतरंगिणी सेना के साथ आते हुए दोनों वीरों ने दिशाओं को ग्रस लिया। इधर रथ में अर्धासन पर बैठी रुक्मिणी को कृष्ण सान्त्वना देते हुए, रास्ते में पड़नेवाले ग्राम, नदियाँ, सरोवर दिखाते हुए धीरे-धीरे जा रहे थे। उन दोनों के शरीर का प्रथम स्पर्श दोनों के लिए सुखकारी हुआ। उनका सुगन्धित श्वास परस्पर मिलकर एक-दूसरे को सुगन्धित कर रहा था।

भयंकर सेना के साथ रुक्मी और शिशुपाल को आया देख रुक्मिणी का हृदय भय से काँप गया और वह अनिष्ट की आशंका से कातर होकर कृष्ण से बोली, ''स्वामी, मेरा महारथी भाई रुक्मी और उसका मित्र शिशुपाल क्रोध में भरकर इधर ही आ रहे हैं, इसलिए मुझे अपनी भलाई दिखाई नहीं देती। विशाल सेनावाले इन दोनों के साथ मात्र आप दोनों कैसे युद्ध करेंगे? मुझे विजय में बड़ा भारी सन्देह मालूम होता है। हाय, मैं बड़ी मन्दभागी हूँ।''

रुक्मिणी की आशंका को जड़मूल से नष्ट करते हुए कृष्ण ने अपने बाण से सामने के ताल-वृक्ष को अनायास काट डाला और अँगूठी के हीरे को उँगली से मसलकर चूर कर दिया, फिर किंचित् स्मितपूर्वक बोले, ''मृदुमना रुक्मिणी, भयभीत न हो, मैं तुम्हारे पास हूँ, फिर शत्रु की संख्या कितनी भी हो, उससे क्या होता है!''

रुक्मिणी को पति की शक्ति का विश्वास हो गया। वह हाथ जोड़कर बोली, ''नाथ, आप युद्ध में मेरे भाई की यत्नपूर्वक रक्षा करें।''

''ऐसा ही होगा,'' कहकर कृष्ण ने भयभीत रुक्मिणी को सान्त्वना दी और

बड़े वेग से भाई के साथ अपना रथ शत्रु की तरफ घुमा दिया। रोष से भरे कृष्ण और बलदेव के बाणों से शत्रु की सेना तितर-बितर हो गयी। शूरवीर कृष्ण ने शिशुपाल को लिया और बलभद्र रुक्मी का सामना करने लगे। सिंह के समान पराक्रमी कृष्ण ने अपने तीक्ष्ण बाण से शिशुपाल के शिर को काट डाला। बलदेव ने रुक्मी को उसके रथ के साथ-साथ इतना जर्जर कर दिया कि उसके प्राण ही शेष रह गये।

युद्ध की कथा समाप्त कर दोनों भाई गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक रुक्मिणी से विवाह किया और द्वारिका लौट गये।

सूर्य नीचे जा रहा था, ऐसा लगता था, विजयोन्मत्त राजाओं के तेज हरनेवाले और शिशुपाल का घात करनेवाले कृष्ण से शंकित होकर उसने अपने तेज को समेट लिया है और बस किसी अँधेरी गुफा में छिपने की तैयारी कर रहा है। किरणों के नष्ट हो जाने पर भी लाल हुआ आकाश सूर्य के प्रति सन्ध्या के अद्वैत अनुराग को प्रकट कर रहा था।

कुछ ही देर में काजल के ढेर की तरह काले, मोहक, भयंकर और अन्तररहित अन्धकार ने सारे जगत् को ढँक लिया। उसके प्रतिकार में तभी चन्द्रमा उदित हुआ—मनुष्यों के राग का परिवर्धन करता हुआ, सूर्यजनित सन्ताप को दूर करता हुआ, सुखी लोगों को और भी अधिक सुख प्रदान करता हुआ। रात की उस चन्द्रोज्ज्वल गहनता में यादव लोग अपनी सुन्दर रमणियों के साथ शुभ्र महलों में रमण करने लगे।

रुक्मिणी की श्वेत देहलता पर कृष्ण भ्रमर के समान जान पड़ते थे। वे रात गये तक अपनी नववधू के साथ क्रीड़ा करते रहे और अन्त में प्रिया को प्रगाढ़ आलिंगन में लेकर सो गये।

रात्रि के अन्त होने की सूचना देनेवाले मुर्गों की बाँग सुनकर रुक्मिणी जाग गयी और अपने सुकोमल हाथों से कृष्ण के चरण दबाने लगी। स्पर्श से कृष्ण भी जाग गये। उस समय लज्जा से विनम्र और सुगन्धित शरीरवाली रुक्मिणी उन्हें साक्षात् लक्ष्मी ही लगी।

तभी द्वारिका में सुबह के सूचक नगाड़े, शंख बज उठे। मधुर संगीत की धारा बहने लगी। और जगत् के जाग्रत् नेत्र सूर्य ने आकाश के साथ-साथ सारी पृथिवी पर अधिकार कर लिया। उस चतुर, समर्थ प्रकाशपिण्ड ने अँधेरे में एक हुए पदार्थों को अलग कर दिया और वियुक्त प्राणियों को मिला दिया।

श्रीकृष्ण ने सत्यभामा के महल के पास ही एक सुन्दर महल रुक्मिणी को दिया। उसे अनेक सम्पदाओं से ऐश्वर्यशाली और सेवक परिजनों से युक्त किया। अनेक रथ, घोड़े, बैल, पशु-पक्षियों से वह महल अलग ही जान पड़ता था। साथ ही कृष्ण ने रुक्मिणी को पटरानी पद देकर उसका गौरव और भी बढ़ा दिया। इधर सत्यभामा ने जब देखा कि श्रीकृष्ण समस्त स्त्रियों का अतिक्रमण करनेवाली एक स्त्री लाये हैं और वह उन्हें अत्यधिक प्रिय है तो वह मन में असूया भाव रखने लगी, फिर भी ऊपर से अत्यन्त धीरता बरतते हुए वह कृष्ण को प्रसन्न रखती थी।

एक दिन कृष्ण रुक्मिणी के उगले हुए पान को अपने वस्त्र के छोर में छिपाकर सत्यभामा के महल में गये। वह पान सुगन्धित था, साथ ही रुक्मिणी के मुख की सुगन्ध ने उसमें चार चाँद लगा दिये थे, इसलिए उस पर भँवरे मँडरा रहे थे। 'यह कोई श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थ है', इस भ्रान्ति से सत्यभामा ने उसे ले लिया और उत्तम वर्ण और गन्ध से युक्त उस पान के उगाल को अच्छी तरह पीसकर अपने शरीर पर लगा लिया। यह देख श्रीकृष्ण ने उसकी खूब हँसी उड़ायी। सत्यभामा पहले ही रुक्मिणी से ईर्ष्या करती थी, अब तो वह पति पर आग-बबूला हो गयी।

कृष्ण की चेष्टाओं से सत्यभामा को सौत के सौभाग्य का अच्छी तरह पता लग गया था। वह रुक्मिणी का रूप-लावण्य देखने के लिए उत्सुक हो उठी। एक दिन वह मन में छल रखकर पति से बड़े मीठे ढंग से बोली, "नाथ, मुझे रुक्मिणी दिखलाइए। कानों की तरह मेरे नेत्रों को भी आनन्दित कीजिए।"

कृष्ण ने सत्यभामा की बात मान ली और वे हृदय में कुछ रहस्य छुपाये हुए-से गये और मणिमय बावड़ी के तट पर रुक्मिणी को खड़ा कर फिर सत्यभामा के पास आकर बोले, "तब तक तुम बगीचे में जाओ, मैं तुम्हारी इष्ट रुक्मिणी को लेकर अभी आता हूँ।"

इस तरह उन्होंने सत्यभामा को तो आगे भेज दिया और स्वयं पीछे से जाकर किसी झाड़ी की ओट में छिपकर खड़े हो गये।

रुक्मिणी मणिजटित आभूषण पहने हुए थी और मणिमय बावड़ी के पास एक हाथ से आम की टहनी पकड़कर पंजों के बल खड़ी थी। उसने दूसरे हाथ से अपनी आगे आयी मोटी चोटी को पकड़ रखा था। स्तनों के भार से वह नीचे झुक रही थी और उसकी बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर लगे फल पर टिकी थीं। देवी की तरह सुन्दर रूपवाली रुक्मिणी को देखकर सत्यभामा ने सचमुच ही उसे देवी समझ लिया और उसके सामने फूलों की अंजलि बिखेरकर उसके चरणों में प्रणाम किया और अपने सौभाग्य तथा सौत के दुर्भाग्य के लिए याचना की।

उसी समय मन्द-मन्द मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण आये और सत्यभामा से बोले, "अरे, दोनों बहनों का यह नीतिपूर्ण अपूर्व मिलन हो चुका?"

श्रीकृष्ण के वचन सुनकर सत्यभामा सब समझ गयी और क्रुद्ध होकर बोली, "अरे, आप हैं? हम दोनों बहनों का मिलन हो, इससे आपको क्या मतलब?"

कृष्ण के संकेत से रुक्मिणी ने सत्यभामा को विनयपूर्वक नमस्कार किया। श्रीकृष्ण लतामण्डपों वाले उस बगीचे में अपनी दोनों प्रिय रानियों के साथ बहुत देर तक विहार करते रहे।

पराक्रमी, प्रेमी कृष्ण के दिन उन दोनों रानियों के साथ क्षणों की तरह बीत रहे थे, तभी एक दिन हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन ने स्नेहपूर्वक यह प्रिय समाचार कृष्ण के पास भेजा : 'आपकी रुक्मिणी और सत्यभामा रानियों में से जिसके पहले पुत्र होगा, वह अगर मेरी पुत्री हुई, तो उसका पति होगा।'

इस सन्देश से कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सन्देश लानेवाले दूत का सम्मान कर उसे विदा किया। दूत ने भी महाराजा दुर्योधन से कृष्ण की स्वीकृति का समाचार कह सुनाया।

सत्यभामा ने भी यह समाचार सुना और रुक्मिणी के पास अपनी दूतियाँ भेजीं। वे रुक्मिणी के चरणों में शिर नवाकर बोलीं, "स्वामिनी, हमारी स्वामिनी सत्यभामा देवी ने आपसे कुछ निवेदन किया है। उस प्रशंसनीय वचन को आप आभूषण की तरह कान में धारण करें। उन्होंने कहा है कि 'हम दोनों में जिसके भी पहले पुत्र होगा, वह दुर्योधन की भावी पुत्री से परिणय करेगा, यह निश्चित हो चुका है। उस विवाह के समय जो पुत्रहीन होगी, उसकी कटी हुई केशवल्ली को पैरों के नीचे रखकर वधू और वर स्नान करेंगे। इसलिए हे यशोमती स्वामिनी, अगर आपको यह कार्य रुचता है तो स्वीकृति दीजिए।"

रुक्मिणी ने सन्तुष्ट हो अपनी स्वीकृति दे दी और दूतियों ने भी अपनी स्वामिनी को सारा समाचार कह सुनाया।

चौथे दिन के स्नान के बाद रुक्मिणी जब रात में सोयी तो उसने स्वप्न देखा कि वह हंसविमान में आकाश में भ्रमण कर रही है। जागने पर यह स्वप्न उसने श्रीकृष्ण को सुनाया तो उन्होंने स्वप्न-फल बताते हुए कहा, "तुम्हारे आकाशविहारी कोई महान पुत्र होगा।"

पति के वचन सुनकर रुक्मिणी सुबह ही कमलिनी की तरह खिल गयी। स्वर्ग से अवतीर्ण होकर अच्युतेन्द्र उसके गर्भ में आये।

उसी समय सत्यभामा ने भी चतुर्थ स्नान के बाद रात्रि के अन्तिम प्रहर में उत्तम

स्वप्न देखा और उसने भी स्वर्ग से च्युत हुए पुत्र को गर्भ में धारण किया। प्रसव का समय आने पर रुक्मिणी ने रात के समय उत्तम मनुष्य के लक्षणोंवाले पुत्र को जन्म दिया और उसी के साथ-साथ सत्यभामा ने भी श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया।

दोनों ही रानियों ने अपने हितैषी और शुभ सन्देश देने योग्य सेवकों को श्रीकृष्ण के पास भेजा। उस समय श्रीकृष्ण शयन कर रहे थे, इसलिए सत्यभामा के द्वारा भेजे सेवक उनके सिरहाने और रुक्मिणी के द्वारा भेजे सेवक उनके पैताने खड़े हो गये। जागने पर श्रीकृष्ण की दृष्टि चरणों की तरफ खड़े सेवकों पर पड़ी। उन्होंने स्वामी को भाग्य-वृद्धि के लिए महारानी रुक्मिणी के पुत्र-जन्म का समाचार सुनाया। प्रसन्न होकर कृष्ण ने उन्हें अपने शरीर के आभूषण पुरस्कार में दिये। जब कृष्ण की दृष्टि सिरहाने खड़े सेवकों पर पड़ी तो उन्होंने स्वामी की स्तुतिपूर्वक रानी सत्यभामा के पुत्र-जन्म का समाचार कह सुनाया। कृष्ण ने उन्हें भी पुरस्कृत किया।

उसी समय अग्नि की तरह धधकता धूमकेतु नाम का एक असुर विमान से आकाश में जा रहा था। जिस समय वह रुक्मिणी के महल के ऊपर से निकला तो उसका विमान अटक गया। उसने चकित होकर नीचे की तरफ देखा। अपने विभंग-अवधिज्ञान नेत्र से रुक्मिणी के पुत्र को देखते ही वह क्रोध से लाल हो गया और उसके अन्दर पुराने वैर की अग्नि भड़क उठी। वह नीचे उतरा और कड़ी रक्षा में नियुक्त पहरेदारों को, परिजनों को और स्वयं रुक्मिणी को गहरी नींद सुलाकर पुत्र को उठा लिया और पर्वत के समान भारी उस बच्चे को दोनों बाँहों में लेकर आकाश में उड़ गया।

आकाश में ले जाकर वह दुष्टबुद्धि असुर सोचने लगा कि इस पूर्वजन्म के वैरी को क्या मैं हाथों से मसल डालूँ, या नाखूनों से चीरकर इसे पक्षियों का आहार बना दूँ? या इस द्रोही क्षुद्र शत्रु को मगरों और ग्राहों से भरे हुए भयंकर समुद्र में फेंक दूँ? या यह खुद ही मांस का लोथड़ा है, इसे मारने से लाभ भी क्या है? यह बिना किसी रक्षक के ऐसे ही छोड़ दिया जाए तो अपने आप ही मर जाएगा।

इस तरह सोचता हुआ वह महाअसुर जा रहा था कि बालक के पुण्य से उसने दूर से ही खादिर अटवी को देखा और नीचे उतरकर उस बालक को तक्षशिला के नीचे रखकर धूमकेतु की तरह अदृश्य हो गया।

उसी समय मेघकूट नगर का राजा कालसंवर अपनी रानी कनकमाला के साथ पृथिवी के रम्य स्थानों के भ्रमण के लिए निकला था। जब वह विमान द्वारा आकाशमार्ग से जा रहा था तो बालक के प्रभाव से उसका विमान अटक गया। चकित हुआ कालसंवर कनकमाला के साथ नीचे उतरा और उसने हिलती हुई तक्षशिला को देखा। जिज्ञासावश जब उसने शिला हटायी तो कामदेव के समान सुन्दर, सोने के समान देदीप्यमान एक अक्षत शरीर बालक देखा। दयार्द्र होकर

कालसंवर ने उस बालक को उठा लिया और कनकमाला से बोला, ''तुम्हारे पुत्र नहीं है। यह तुम्हारा पुत्र हुआ, लो।''

इन मीठे वचनों के साथ कालसंवर कनकमाला को वह बालक देने लगा। पहले तो कनकमाला ने दोनों हाथ फैला दिये, लेकिन अत्यन्त चतुर और दूरदर्शी उस विद्याधरी ने तत्काल अपने हाथ खींच लिये और इस तरह खड़ी हो गयी, मानो उसे इस बालक की चाह ही न हो।

''यह क्या है?'' राजा ने पूछा।

कनकमाला बोली, ''स्वामी, आपके पाँच सौ कुलीन पुत्र हैं। जब वे इस अज्ञात कुलवाले पुत्र के शिर में प्रमत्त हो थप्पड़ मारेंगे, तो वह दृश्य मैं न देख सकूँगी, इसलिए मेरा निपूती रहना ही अच्छा है।''

रानी के इस तरह कहने पर कालसंवर ने उसे सान्त्वना दी और अपने कान का सुवर्ण-पत्र लेकर उस बालक को यह कहकर बाँध दिया कि ''यह युवराज है।''

सन्तुष्ट होकर नीतिमती कनकमाला ने पुत्र ले लिया और दोनों उस बालक के साथ मेघकूट नगर में आ गये। अत्यन्त निपुण राजा ने नगर में यह घोषणा करा दी : 'गूढ़ गर्भ को धारण करनेवाली महादेवी कनकमाला ने आज शुभ पुत्र को जन्म दिया है, इसलिए उत्सव मनाओ। स्वर्ण के समान द्युतिमान होने के कारण उसका नाम प्रद्युम्न रखा गया। सैकड़ों विद्याधर कुमारों के बीच प्रद्युम्न कुमार दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर द्वारिका में जब रुक्मिणी जागी तो उसने पुत्र को नहीं देखा। बूढ़ी धायों के साथ उसने उसे हर जगह देखा, पर जब कहीं भी बालक न मिला, तब वह जोर-जोर से विलाप करने लगी, ''हाय पुत्र, तुझे कौन हर ले गया? विधाता ने मुझे निधि देकर क्यों छीन ली? निश्चय ही मैंने पिछले जन्म में किसी स्त्री को पुत्र से अलग किया होगा, तभी मुझे यह दारुण कष्ट मिला।''

रुक्मिणी का विलाप सुनकर परिवार के और लोग भी रोने लगे और इस तरह रुदन का जोरदार शब्द उठ खड़ा हुआ।

सारा वृत्तान्त जानकर भाई-बन्धु तथा अन्य स्त्रियों के साथ कृष्ण भी वहाँ आ गये। रोने का शब्द सुनकर बलदेव भी वहाँ आ गये। श्रीकृष्ण के हाथ में कुबेर का दिया नन्दक नाम का खड्ग था। वे उसे, अपनी भुजाओं को और अपने प्रमाद को कोसने लगे, ''हाय, इस अकारण पुरुषार्थ को धिक्कार है, दैव ही सर्वत्र बलवान है, पुरुषार्थ नहीं। अन्यथा खड्गहस्त मुझ वासुदेव के पुत्र को कोई कैसे हर ले जाता?''

उन्होंने रुक्मिणी को धीरज बँधाते हुए कहा, ''प्रिये, अधिक शोक न करो, धैर्य धारण करो। जो पुत्र स्वर्ग से च्युत होकर हमारे जन्मा है, वह साधारण नहीं। उसे निश्चय ही इस जगत् में उत्कृष्ट भोगों को भोगनेवाला होना चाहिए। जैसे लोग आकाश में प्रतिपदा के चाँद को खोजते हैं, वैसे ही मैं सबके लिए आनन्दकर अपने पुत्र को सारे जगत् में खोज डालूँगा...।''

किसी तरह रुक्मिणी को शान्त कर श्रीकृष्ण पुत्र खोजने का उपाय सोचने लगे। उसी समय निरन्तर उद्यमशील नारद ऋषि वहाँ आये। कृष्ण से सब समाचार सुनकर वे शोक से स्तब्ध हो गये। उन्होंने देखा, यादवों के चेहरे पाला पड़े कमलों की तरह मुरझाये हुए हैं। उन्होंने सुस्थिर होकर कृष्ण से कहा, ''हे वीर, शोक छोड़ो, मैं पुत्र का समाचार लाता हूँ। अवधिज्ञानी अतिमुक्तक मुनिराज तो कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष जा चुके हैं। तीन ज्ञाननेत्रों के स्वामी नेमिकुमार जानते हुए भी कुछ नहीं कहेंगे। क्यों नहीं कहेंगे, यह मैं भी नहीं बता सकता। इसलिए समाचार पाने के लिए मैं पूर्व विदेह-क्षेत्र में जाता हूँ और सीमन्धर भगवान से पूछकर पुत्र का पता लाता हूँ।''

श्रीकृष्ण की स्वीकृति पाकर नारद वहाँ से उठकर रुक्मिणी के भवन में पहुँचे। रुक्मिणी को देखा, जैसे तुषार से मारी हुई कमलिनी हो और नारद स्वयं शोकाकुल हो गये। लेकिन बाहर धैर्य धारण किये रहे। रुक्मिणी ने उठकर उनका सत्कार किया। नारद उसी के पास आसन पर बैठ गये। रुक्मिणी पितृवत्सल नारद को देख फुक्का फाड़कर रोने लगी। उसका शोक हरा हो गया।

नारद ने उसे सान्त्वना देने के लिए कहा, ''रुक्मिणी, तू शोक छोड़। तेरे पुत्र को कोई पूर्वजन्म का वैरी हरकर जरूर ले गया है, लेकिन वह जीवित है। तुझसे उत्पन्न श्रीकृष्ण का पुत्र निश्चित ही दीर्घायुष्य को प्राप्त होगा। बेटी, तू जानती ही है कि इस संसार में प्राणियों के संयोग-वियोग होते ही रहते हैं। लेकिन कर्मों की अधीनता को समझनेवाले और ज्ञान से प्रकाशित बुद्धि के नेत्रों से देखनेवाले यादवों पर ऐसा कोई संयोग या वियोग अपना प्रभाव नहीं जमा सकता। तू तो जिनशासन के तत्त्व को जानती है और संसार की स्थिति को भी समझती है, इसलिए इतनी कातर मत हो। मैं सीमन्धर भगवान से तेरे पुत्र का समाचार लाता हूँ।''

नारद के वचनों ने रुक्मिणी के सन्तप्त मन पर चन्दन के लेप का काम किया। उसे सुस्थिर कर नारद आकाश में उड़े और पूर्व विदेह क्षेत्र जा पहुँचे। वहाँ पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में देव, असुर और मनुष्यों से सेवित सीमन्धर भगवान के दर्शन किये। नारद ने हाथ जोड़, मस्तक नवा पवित्र स्तोत्र पढ़ा और जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर राजाओं की सभा में जा बैठे।

उस समय वहाँ चक्रवर्ती राजा पद्मरथ भी बैठा था। नारद को देखकर उसने कौतुकवश भगवान से पूछा, ''नाथ, मनुष्य की तरह आकृतिवाला यह कौन प्राणी

है? इसका क्या नाम है?''

सीमन्धर भगवान ने नारद के जन्म की कथा कह सुनायी और फिर बताया, ''यह जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के नौवें नारायण के हित में लगे रहनेवाला नारद हैं।''

चक्रवर्ती ने फिर पूछा, ''भगवन, यह यहाँ किसलिए आया है?''

सीमन्धर भगवान ने आदि से लेकर अन्त तक सब समाचार कहा और बताया, ''उस खोये हुए बालक का नाम प्रद्युम्न है। वह सोलहवें वर्ष में सोलह लाभों को प्राप्त कर अपने माता-पिता से फिर मिलेगा। प्रज्ञप्ति नाम की महाविद्या से उसका पराक्रम चमक उठेगा और वह इस पृथिवी पर देवों के लिए भी अजेय हो जाएगा।''

पद्मरथ चक्रवर्ती ने फिर पूछा, ''प्रभु, प्रद्युम्न किस कारण से हरा गया? उसका चरित आप हमें बताएँ।''

सीमन्धर भगवान ने नारद की उपस्थिति में ही प्रद्युम्न का चरित सबको सुनाया :

''मगध देश में शालिग्राम गाँव में एक ब्राह्मण रहता था। नाम था सोमदेव। अग्निला उसकी ब्राह्मणी थी। उनके अग्निभूति और वायुभूति दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र अपने पाण्डित्य के प्रभाव से शुक्र और बृहस्पति की तरह सारे ब्राह्मणों पर छा गये। वेद और वेदार्थ में निपुण इन दोनों भाइयों में जातिवाद का गर्व जाग उठा। माता-पिता के अतिशय लाड़-प्यार ने इन्हें वाचाल बना दिया और ये सोलह वर्ष की आयु में ही भोग-वासना में लिप्त हो स्त्रियों को तो स्वर्ग समझने लगे और परलोक की कथा से द्वेष करने लगे।

किसी समय नन्दिवर्धन नाम के एक गुरु अपने विशाल संघ के साथ आये और शालिग्राम के बाहर बगीचे में ठहर गये। सभी वर्णों के लोगों को उनकी वन्दना के लिए जाते हुए देख अग्निभूति और वायुभूति को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे—'पृथिवी पर हमसे बढ़कर वन्दनीय और कौन है? हम भी जरा चलें और उसकी महिमा देखें।'

अहंकार से भरे ये दोनों ब्राह्मण-कुमार भी नगर-बाहर के उपवन में पहुँचे। उस समय साधुओं में श्रेष्ठ अवधिज्ञानी मुनि नन्दिवर्धन अपार जनसमूह के बीच धर्म का उपदेश दे रहे थे। जब ये दोनों उनके निकट पहुँचे तो उन्होंने इन्हें अपने पास बुलाकर बैठा लिया ताकि ये धर्म के श्रवण में बाधा न डाल पाएँ। इन अभिमानी ब्राह्मण-कुमारों को मुनिराज के निकट बैठा देख सभी लोग मुनिराज के पास उमड़ पड़े।

मुनि ने इन दोनों से प्रश्न किया, ''विद्वानो, आप कहाँ से आये हैं?''

ये दोनों उसी तरह गर्व से बोले, ''क्या आप नहीं जानते कि शालिग्राम से आये हैं?''

मुनिराज ने कहा, ''हाँ, यह तो सत्य है कि आप शालिग्राम से आये हैं, किन्तु

यह तो बताइए कि अनादि-अनन्त संसार में घूमते हुए आप किस गति से आये हैं?''

ब्राह्मण-कुमार बोले, ''यह बात तो हम क्या, सभी के लिए अज्ञेय है।''

''सबके लिए तो अज्ञेय नहीं है, आप सुनिए, मैं बताता हूँ।'' मुनिराज ने कहा, ''आप दोनों भाई इससे पहले जन्म में इसी शालिग्राम गाँव की सीमा के पास दो सियार थे। दोनों में ही अत्यन्त प्रेम था। इसी गाँव में प्रवरक नाम का एक ब्राह्मण किसान रहता था। एक दिन वह खेत जोत चुका ही था कि बड़ी जोर से वर्षा होने लगी और तेज आँधी आ गयी। उसका शरीर काँपने लगा और बड़ी जोरों की भूख सताने लगी। उसने खेत के पास ही बड़ के पेड़ के नीचे अपने चमड़े का उपकरण छोड़ा और घर चला गया। वर्षा लगातार सात दिन तक होती रही। वे दोनों सियार भूख से छटपटा उठे और उन्होंने किसान का चमड़े का भीगा हुआ उपकरण खा लिया। कुछ समय बाद उनके पेट में बड़ा भारी शूल उठा और असह्य वेदना सहनी पड़ी। अकामनिर्जरा योग से उन्होंने दीर्घायु को अर्जित किया और उसके फल-स्वरूप वे मरकर तुम दोनों के रूप में अग्निभूति और वायुभूति ब्राह्मण-पुत्र बने।''

मुनिराज बोले, ''इससे तुम समझ ही सकते हो कि जाति का गर्व करना कितना व्यर्थ है!''

उन्होंने अपनी कथा जारी रखते हुए कहा, ''वर्षा बन्द होने पर जब किसान खेत पर पहुँचा तो मरे हुए उन दोनों सियारों को देखकर उठा लाया और उनकी दो मशकें बनवा लीं। वे मशकें उसके घर में आज भी रखी हैं। कुछ समय बाद उस प्रवरक की भी मृत्यु हो गयी और उसने अपने पुत्र का ही पुत्र बनकर जन्म लिया। वह कामदेव के समान सुन्दर है और जातिस्मरण होने के कारण गूँगे की तरह रहता है। वह देखो, वह अपने बन्धुजनों के बीच बैठा टकटकी लगाये मेरी तरफ देख रहा है।''

मुनि ने इशारे से उस गूँगे बने पुत्र को पास बुलाया और कहा, ''तू शोक और गूँगेपन का त्याग कर और मीठे वचनों से अपने कुटुम्बियों को हर्षित कर। इस संसार में मनुष्य नट की तरह रूप बदलता रहता है। स्वामी सेवक हो जाता है। पिता पुत्र हो जाता है। माता स्त्री हो जाती है। यह संसार रेहट में लगी घड़ियों की तरह उलटा और कुटिल है। इसमें भ्रमण करते हुए आदमी कभी ऊँचे जाता है। कभी नीचे गिरता है। इसलिए हे पुत्र, इस संसार-समुद्र को भयावह और निःसार जान दयाव्रत का संग्रह कर।''

वह गूँगा मुनि के मुख से सारी प्रत्यक्ष कथा सुनकर गद्गद हो गया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। वह उठा और मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएँ करके हाथ

जोड़कर बोला, ''भगवन, आप सर्वज्ञ हैं, ईश्वर हैं। एक स्थान पर बैठकर भी तीनों जगत् के पदार्थों के ज्ञाता हैं। मेरे मन की आँख अज्ञान से धुँधली हो रही थी, आज आपने ज्ञार्नाजन की सलाई से उसे स्वच्छ कर दिया। महामोह के अन्धकार से व्याप्त इस संसार के वन में मार्ग भूले मुझको आपने सच्चा मार्ग दिखलाया है, इसलिए हे मुनिराज, आप ही मेरे बन्धु हैं। आप प्रसन्न होकर मुझे दिगम्बरी दीक्षा दीजिए।''

गुरु को प्रसन्न कर उस गूँगे ब्राह्मण ने जिनदीक्षा ले ली।

अग्निभूति और वायुभूति अपने पूर्वजन्म सुनकर बड़े लज्जित हुए। लोग भी उन्हें बुरा-भला कहने लगे और वे चुपचाप अपने घर लौट आये। वहाँ माता-पिता ने भी उनकी निन्दा की।

रात में नन्दिवर्धन मुनि कहीं एकान्त में कायोत्सर्ग मुद्रा में बैठे हुए थे। अग्निभूति और वायुभूति तलवार लेकर आये और उन्हें मारने के लिए जैसे ही तलवार उठायी, एक यक्ष ने उन्हें वहीं कीलित कर दिया। वे वहीं के वहीं उसी मुद्रा में खड़े रह गये।

सुबह होने पर लोगों ने उन दोनों को उसी आक्रामक मुद्रा में मुनिराज के पास खड़े देखा और सब उनकी तरफ इशारा करते हुए कहने लगे, ''देखो इन ब्राह्मणों को, कैसा निन्दनीय कार्य करने आये थे!''

अग्निभूति और वायुभूति सोचने लगे—'देखो, मुनिराज का कितना भारी प्रभाव है कि हम इस तरह कीलित होकर खम्भे की-सी दशा को प्राप्त हो गये हैं। अगर हम किसी तरह इस कष्ट से छूट जाएँ तो अवश्य ही जिनधर्म धारण करेंगे। अद्‌भुत है इसकी सामर्थ्य!'

उनकी ऐसी स्थिति सुन उनके माता-पिता दौड़े आये और मुनिराज के चरणों में गिरकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

अपनी कायोत्सर्ग स्थिति से बाहर आ मुनि ने आँखें खोलीं और यक्ष क्षेत्रपाल से, जिसने उनकी श्रद्धा से इन दोनों भाइयों को कीलित किया था, कहा, ''यक्ष, अनीति से उत्पन्न इनके दोष को क्षमा करो और इन्हें मुक्त कर दो।''

मुनि के आज्ञाकारी यक्ष ने तत्काल उन दोनों को छोड़ दिया।

अग्निभूति और वायुभूति ने मुनिराज से धर्म का उपदेश लिया और अणुव्रत धारण कर श्रावक बन गये। दोनों ब्राह्मण पुत्रों ने सम्यग्दर्शन की भावना से धर्म का पालन करते हुए शेष आयु बितायी और मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

सीमन्धर भगवान ने उन दोनों की कथा का क्रम अटूट रखते हुए कहा :

अग्निभूति और वायुभूति सौधर्म स्वर्ग में अनेक सुख भोगकर अयोध्या नगरी में जनमे। उनके पिता का नाम समुद्रदत्त और माता का नाम धारिणी था। इस जन्म में पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम से जाने जानेवाले ये दोनों भाई अब भी जिन-शासन

में स्नेह रखते थे और सम्यक्तत्त्व की आराधना करते थे।

बहुत समय तक श्रावक के श्रेष्ठ व्रत का पालन करने के बाद इन दोनों भाइयों की आयु समाप्त हुई और ये मरकर सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव बने। अनेक दिव्य सुख भोगकर जब वे वहाँ से च्युत हुए तो अयोध्या के राजा हेमनाभ के यहाँ इनका जन्म हुआ। रानी धारावती से उत्पन्न ये दोनों राजपुत्र मधु और कैटभ नाम से प्रसिद्ध हुए। एक दिन मधु को राज्यगद्दी और कैटभ को युवराज पद देकर राजा हेमनाभ ने दीक्षा ले ली।

सूर्य और चन्द्र के समान अद्भुत तेजस्वी मधु और कैटभ का प्रताप पृथिवी पर छा गया। एक बार भ्रमण करते हुए ये दोनों भाई राजा वीरसेन की नगरी वटपुर में पहुँचे। प्रसन्न वीरसेन ने बड़े आदर से मधु की आवभगत की और स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर अपनी सभी रानियों के साथ उनका सम्मान किया।

राजा वीरसेन की एक रानी का नाम चन्द्राभा था। वह चाँदनी की तरह सुन्दर और अत्यन्त मानवती थी। मधुर सम्भाषण करनेवाली चन्द्राभा ने राजा मधु का मन हर लिया। जैसे कठोर चन्द्रकान्तमणि की शिला चन्द्रमा के स्पर्श से पिघलने लगती है, वैसे ही शस्त्र और शास्त्रों के अभ्यास से कठोर राजा मधु की बुद्धि भी चन्द्राभा को देखने के कारण आर्द्र हो उठी। वह सोचने लगा, अगर यह राज्य रूपवती चन्द्राभा के साथ है तो सुख का कारण है, उससे विहीन होने पर तो मैं इस राज्य को विष के समान समझता हूँ। जिस तरह चाँद का कलंक चाँद की शोभा बढ़ाता है, वैसे ही चन्द्राभा के साथ से लगा कलंक मेरे लिए भी शोभा का ही कारण होगा। जैसे चाँदनी के संसर्ग से विकसित कुमुदवन की सुगन्ध को कीचड़ की दुर्गन्ध नष्ट नहीं कर पाती, वैसे ही चन्द्राभा के सम्पर्क से प्रफुल्लित मेरी कीर्ति को अपवाद की कीचड़ बाधित नहीं कर पाएगी।

राजा मधु बहुत बुद्धिमान और अभिमानी था, लेकिन रागान्ध होकर उसने चन्द्राभा को हरने का पक्का निश्चय कर लिया।

अयोध्या लौटकर उसने अपने अधीन सब राजाओं और सामन्तों को उनकी स्त्रियों के साथ निमन्त्रित किया और अनेक वस्त्राभूषणों से सबका सत्कार कर उन्हें विदा किया। वटपुर का राजा वीरसेन भी चन्द्राभा के साथ वहाँ आया था। राजा ने उसका विशेष स्वागत कर तमाम धनधान्य देकर उसे विदा कर दिया और चन्द्राभा को यह कहकर रोक लिया कि अभी उसके लिए बनने को दिये गये आभूषण आये नहीं हैं, आने पर भेज देंगे। भोला-भाला वीरसेन चला गया और चन्द्राभा को राजा मधु ने अपनी स्त्री बनाकर उसे सब रानियों में प्रमुख महादेवी पद दे दिया और उसके साथ मनचाहे भोग भोगने लगा।

चन्द्राभा का पहला पति वीरसेन विरह और पराभव की आग में तप्त हो

विक्षिप्त हो गया और इधर-उधर घूमने लगा। एक दिन वह 'चन्द्राभा चन्द्राभा' चिल्लाता हुआ नगर की गलियों में फटेहाल घूम रहा था कि महल की छत पर खड़ी चन्द्राभा ने उसे देख लिया। उसका हृदय दया से कातर हो गया। वह रा मधु से बोली, "स्वामी, देखिए, यह मेरा पहला पति कैसा प्रलाप करता घूम रहा है?"

उसी समय एक घटना और हुई। कुछ कर्मचारी एक ऐसे आदमी को लेकर आये जो परस्त्री-सेवन का अपराधी था। वे न्यायी राजा मधु से बोले, "देव, इसे कौन-सा दण्ड देना चाहिए?"

राजा मधु ने उत्तर दिया, "यह बड़ा पापी है, इसलिए इसके हाथ-पाँव और फिर इसका सिर काट दो।"

चन्द्राभा ने उसी समय कहा, "नाथ, क्या यह पाप आपने नहीं किया है? आप भी तो परस्त्रीहरण के अपराधी हैं।"

चन्द्राभा के ये वचन सुनते ही मधु का मुख पीला पड़ गया। उसके मुख की कान्ति नष्ट हो गयी। उसने रानी से मीठे स्वर में कहा, "चन्द्राभा, तू मेरा हित चाहनेवाली है, तूने सत्य ही कहा है। सचमुच ही परस्त्रीहरण दुर्गति का कारण है।"

पति को वैरागी देख चन्द्राभा भी विरक्त हो गयी और बोली, "नाथ, इन भोगों से भी क्या प्रयोजन है? ये भोग वर्तमान में सुख देते हैं, लेकिन पकने पर किंपाक फल की तरह दुखदायी हैं। सज्जन पुरुष उन्हीं भोगों को प्रिय मानते हैं जो अपने और दूसरे किसी के भी सन्ताप का कारण नहीं होते। जो परविषयरूप भोग है, उसे सत्पुरुष नहीं भोगते।"

चन्द्राभा के इस प्रकार समझाने पर राजा मधु का मन निर्मोह हो गया और उसने आदरपूर्वक उससे कहा, "साध्वी, तुमने ठीक कहा, बहुत अच्छा कहा।"

राजा फिर बोला, "वास्तव में सत्पुरुषों को ऐसा काम करना उचित नहीं, जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाए और पाप को बढ़ाए। जब मेरे जैसा प्रबुद्ध व्यक्ति भी ऐसा लोक-निन्द्य कार्य करता है, तब अविवेकी और साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या? अपनी स्त्री से सम्बन्धित अत्यधिक राग भी कर्मबन्ध का कारण है, फिर परस्त्री-सम्बन्धी राग की तो बात ही क्या?

यह मन का मदोन्मत्त हाथी ज्ञान के अंकुश से ही सुमार्ग में लग सकता है। राग से हरे इस मन को इन्द्रिय-विजय के अंकुश से ही वश में किया जा सकता है तभी इसके मद का विनाश हो सकता है। जो प्रयत्नपूर्वक वश में किये वगैर इस

मनरूपी हाथी पर चढ़ता है, उसे हमेशा भय बना रहता है। यदि इसे अच्छी तरह वश में कर लिया जाए तो यही मन साधुवृत्तियों की प्रेरणा से कितने भी बड़े पाप का निवारण कर सकता है।

अब तो मैं विषय के धान्यों की इच्छा रखनेवाले और मन की तरंग से चौकड़ी भरनेवाले इन इन्द्रियों के मृगों को ध्यान के जाल में मूँदकर तपस्या से अपने सारे पापों को क्षीण करूँगा।''

राजा मधु ने ज्ञान के जल से धुली अपनी बुद्धि को तपश्चर्या में लगाया।

उन्हीं दिनों मुनिराज विमलवाहन एक हजार मुनियों के साथ अयोध्या में आये और राजा मधु के आम्रवन में ठहर गये। मुनियों का आना सुन राजा मधु अपने छोटे भाई कैटभ और अन्त:पुर की स्त्रियों के साथ उनके दर्शनों को गया। उसने सबके साथ विधिपूर्वक उनकी पूजा की और धर्मोपदेश सुना। उसके अन्दर वैराग्य का आविर्भाव हो ही चुका था। अब वह राज्य, संसार आदि सारे सुखों से पूरी तरह विरक्त हो कैटभ तथा अन्य क्षत्रियों के साथ दीक्षित हो गया। व्रत और शील आचरणवाली चन्द्राभा आदि रानियाँ भी दीक्षित होकर आर्यिका बन गयीं। मधु के पुत्र कुलवर्धन ने राज्य और गृहकाज सँभाला।

मधु, कैटभ घोर तप करने लगे। व्रत, गुप्ति और समिति से युक्त वे दोनों निर्ग्रन्थ मुनिराज बन गये। वे छ:-छ: माह के उपवास करते थे और शास्त्रों में प्रतिपादित आचरणों से कर्मों को जीर्ण करते थे। जब वे पहाड़ों की चोटियों पर आतापन योग लेकर तपते तो उनके शरीर से टपकती पसीने की बूँदें ऐसी जान पड़ती थीं, मानो कर्म ही गल-गलकर नीचे गिर रहे हों। चौमासे में वे भ्रमण बन्द कर वृक्षों के नीचे रहते थे। पहले जिस तरह युद्ध में बाणों की वर्षा उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाती थी, वैसे ही अब जल की धाराएँ उनकी कोई हानि नहीं कर पाती थीं। वे वृक्षों के नीचे बैठे वर्षा-जल की मोटी धाराओं को बड़े धैर्य के साथ सहन करते थे। हेमन्तऋतु की रातों में वे प्रतिमायोग से बैठ जाते और शरीर की कान्ति को जलानेवाले तुषारपात को बड़ी शान्ति से सहन करते थे। ये दोनों धीर-वीर मुनि दशधर्मों, चारित्र की शुद्धियों, उत्तम अनुप्रेक्षाओं और परीषहजय के द्वारा संवर करते थे। वे स्वाध्याय, ध्यान तथा योग में स्थित हो गये थे।

इस तरह हजारों वर्षों तक तप कर मधु और कैटभ ने अन्त में सम्मेदाचल पर जाकर एक महीने का प्रायोपगमन संन्यास लिया और समाधिपूर्वक शरीर-त्याग दिया। मरणोपरान्त वे आरण और अच्युत स्वर्ग में हजारों देव-देवियों के स्वामी इन्द्र और सामानिक देव हुए और सम्यग्दृष्टि होकर स्वर्ग के उत्तम सुखों को भोगने लगे।

उनमें मधु का जीव स्वर्ग से च्युत होकर कृष्ण नारायण की रुक्मिणी रानी का प्रद्युम्न पुत्र हुआ और कैटभ का जीव अभी स्वर्ग में ही है। वह जल्दी ही च्युत

होकर कृष्ण की भावी रानी जाम्बवती से उत्पन्न होगा। श्याम शरीरवाला वह 'शाम्ब' नाम से प्रसिद्ध होगा।''

सीमन्धर भगवान ने प्रद्युम्न की कथा का अन्त करते हुए कहा :

वह जो वटपुर का राजा वीरसेन था, जो चन्द्राभा के विरह में तपता हुआ बहुत बरसों तक इस जगत् के जंगल में भटकता रहा, अगले जन्म में अज्ञानी तपस्वी हुआ और आयु के अन्त में मरकर अग्नि की तरह धधकता हुआ धूमकेतु नाम का देव हुआ।

पूर्वजन्म के वैर का स्मरण आते ही वह धूमकेतु बालक प्रद्युम्न को उठा ले गया, लेकिन प्रद्युम्न के पूर्वसंचित पुण्य ने उसकी रक्षा की। वैरभाव पाप को बढ़ाता है और पुण्य अपाय से रक्षा करता है, इसमें सन्देह नहीं।

प्रद्युम्न का चरित्र सुनकर सबने सीमन्धर जिनेन्द्र को प्रणाम किया। नारद भी नमस्कारपूर्वक उठे और आनन्दित होकर आकाशमार्ग से मेघकूट पर्वत पर जा उतरे।

कुशल नारद ने पुत्रलाभ के लिए राजा कालसंवर का अभिनन्दन किया और पुत्रवती कनकमाला की स्तुति की। सैकड़ों विद्याधर कुमारों से सेवित प्रद्युम्न को देखकर नारद को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे किसी तरह अपने आनन्द-रोमांच को छिपाये बैठे रहे। कालसंवर ने नारद का बहुत सम्मान किया। नारद ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया और जल्दी से जल्दी यह समाचार यादवों को सुनाने के लिए उड़कर द्वारिका पहुँच गये।

नारद ने श्रीकृष्ण, रुक्मिणी तथा सब यादवों को प्रद्युम्न की सारी कथा कह सुनायी। सीमन्धर भगवान के वचनों को दुहराते हुए उन्होंने प्रसन्न रुक्मिणी से कहा, ''रुक्मिणी, मैंने विद्याधरों के राजा कालसंवर के घर क्रीड़ा करता तुम्हारा पुत्र देखा है। वह साक्षात् देवकुमार है और सोलहवें वर्ष में सोलह लाभों तथा प्रज्ञप्तिविद्या को प्राप्त कर अवश्य ही आवेगा।''

नारद ने फिर कहा, ''और सुन रुक्मिणी, जब उसके आने का समय होगा, तो तेरे उद्यान में असमय में ही मोर शब्द करने लगेंगे। तेरे उपवन की सूखी पड़ी मणिमय बावड़ी उसके आगमन के समय कमलों से भर जाएगी और शोकहारी अशोक वृक्ष बिना ऋतु के ही अंकुरित और पल्लवित हो जाएगा। प्रद्युम्न के निकट आते ही तेरे यहाँ के गूँगे बोलने लगेंगे। इन सारे संकेतों से तू पुत्र के आगमन को जान लेना।''

नारद के हितकारी वचन सुनकर रुक्मिणी के स्तनों से दूध झरने लगा। उसने श्रद्धापूर्वक नारद को प्रणाम किया और बोली, ''भगवन, आप हमेशा ही वात्सल्य

प्रकट करने में तत्पर रहते हैं। आज आपने मेरा जो हित किया है, वह किसी के लिए भी शक्य नहीं। हे मुनि, पुत्र के शोक में मैं निराधार जल रही थी। आपने मुझे सहारा देकर बचा लिया। मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि मेरा पुत्र अवश्य लौटेगा। मैं भी अपना हृदय कठोर कर सीमन्धर भगवान की आज्ञानुसार जीवित रहूँगी। हे ऋषि, अब आप पधारें और मैं आपके दर्शन फिर करूँ, इस बात का ध्यान रखें।"

रुक्मिणी ने नारद को प्रणाम किया। नारद उसे आशीर्वाद देकर चले गये। रुक्मिणी भी शोक छोड़ श्रीकृष्ण के सुख का आयोजन करती हुई रहने लगी।

रानी सत्यभामा के जो पुत्र हुआ था, वह सूर्यमण्डल की तरह देदीप्यमान था। इसलिए उसका नाम भानु रखा गया। तेजस्वी भानु जैसे-जैसे बड़ा होता जाता था, सत्यभामा के मान का पर्वत भी बढ़ता जाता था।

एक बार कृष्ण की सभा में नारद का आना हुआ, कृष्ण ने उनसे पूछा, "मुनिवर, इस समय कहाँ से आ रहे हैं? आपके चेहरे से ऐसा लगता है कि कोई बड़े भारी हर्ष की बात है।"

नारद बोले, "मैं जम्बूपुर से आ रहा हूँ। यह नगर विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में है। इसका राजा जाम्बव विद्याधर है। उसकी रानी का नाम शिवचन्द्रा है। इन दोनों के विश्वक्सेन पुत्र और जाम्बवती कन्या है। जाम्बवती क्या है, स्वर्ग से आयी हुई लक्ष्मी ही है। वह इस समय सखियों के साथ गंगा में स्नान कर रही है और ताराओं से घिरी हुई चन्द्रकला के समान जान पड़ती है। ऐसा लगता है कि जाम्बवती जाम्बव पर्वत से निकली नदी ही है। पिता जाम्बव की सेना की तरह उसे वश करना किसी के लिए भी शक्य नहीं।"

नारद के इन वचनों से कृष्ण उत्तेजित हो उठे और अनावृष्टि तथा सेना को साथ लेकर जम्बूपुर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्नान कर रही जाम्बवती को देखा। जाम्बवती ने भी नीलोत्पल जैसे शरीरवाले श्रीकृष्ण को देखा। दोनों के हृदय कामदेव के बाणों से बिंध गये। अवसर देख श्रीकृष्ण ने लक्ष्मी को भी तिरस्कृत करनेवाली जाम्बवती का आलिंगन किया और उसका हरण कर लाये।

जाम्बवती के हरण से सखियाँ जोर-जोर से रोने लगीं। रोने का शब्द सुनकर क्रोध से भरा कन्या का पिता जाम्बव तलवार और ढाल के साथ आकाशमार्ग द्वारा शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा। आकाशगामी अनावृष्टि ने आकाश में ही कुछ देर तक युद्ध से जाम्बव का सत्कार किया। फिर उसे बाँधकर कृष्ण के पास ले आया। इस घटना से जाम्बव का मन विरक्त हो गया और वह पुत्र विश्वक्सेन को श्रीकृष्ण के अधीन कर वन में चला गया।

जाम्बवती से विवाह कर कृष्ण द्वारिका लौटे। जाम्बवती के आगमन से रुक्मिणी भी प्रसन्न हुई इसीलिए श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के महल के समीप ही जाम्बवती को सुन्दर महल दिया। रुक्मिणी और जाम्बवती में जो प्रीतिभाव पहले मिलन में ही जागा था, वह परस्पर आने-जाने से बढ़ता गया और इस तरह अखण्ड रूप में परिणत हो गया।

इसके बाद श्रीकृष्ण ने सिंहलद्वीप की राजकन्या लक्ष्मणा, सुराष्ट्र के राजा राष्ट्रवर्धन की कन्या गौरी से विवाह किया। कृष्ण ने अरिष्टपुर के राजा हिरण्यनाभ की पुत्री पद्मावती, और पुष्कलावती के इन्द्रगिरि राजा की कन्या गान्धारी से भी विवाह किया। ये सभी कन्याएँ अत्यन्त रूपवती और शुभलक्षणा थीं। उन सबको यथायोग्य महल, सेवक, धन-ऐश्वर्य देकर कृष्ण सत्यभामा, रुक्मिणी और जाम्बवती सहित इन रानियों के साथ स्वर्गिक सुखों का भोग करने लगे।

बारहवाँ प्रकरण

इधर विजयार्ध पर्वत पर प्रद्युम्न चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। उसने बड़े उद्यम के साथ छोटी आयु में ही आकाशगमन आदि विद्याधर-विद्याओं को सीख लिया था। वह बचपन से ही अपने रूप, लावण्य, सौभाग्य और पौरुष से मित्र और शत्रु, स्त्री और पुरुष—सबका मन हर लेता था। यौवन में पैर रखने के साथ ही प्रद्युम्न समस्त युद्ध-विद्याओं में कुशल हो गया। तरुण प्रद्युम्न अपने सौन्दर्य के कारण अन्य युवाओं के हृदय पर चोट-सी करता था, फिर भी वह सबका प्रिय था। कामदेव का ही दूसरा रूप होने के कारण लोग उसे काम, मन्मथ, मदन, मनोभव, अनंग आदि नामों से भी बुलाते थे।

उस समय सिंहरथ नाम का एक विद्याधर राजा कालसंवर के विरुद्ध था। उसे जीतने के लिए कालसंवर ने अपने पाँच सौ पुत्र भेजे थे, लेकिन सिंहरथ ने सभी को पराजित कर दिया था। जब युद्धकुशल प्रद्युम्न ने उसी सिंहरथ को जीतकर पिता कालसंवर के सामने डाल दिया, तो कालसंवर बहुत सन्तुष्ट हुआ और प्रद्युम्न के साथ से विजयार्ध की दोनों श्रेणियों को अपने वशीभूत मानने लगा। इस घटना से प्रभावित होकर उसने विधि-विधानपूर्वक प्रद्युम्न को अपना उत्तराधिकारी बनाया और युवराजपद का महापट्ट बाँधकर सब कुमारों में श्रेष्ठ घोषित कर दिया। प्रद्युम्न के इस विशिष्ट उत्कर्ष से वे पाँच सौ राजपुत्र प्रद्युम्न के नाश का उपाय सोचने लगे। वे निरन्तर कपट रचते, लेकिन प्रद्युम्न के बैठने, उठने, सोने के समय, भोजन, पान, वस्त्र आदि के ग्रहण के समय वे उसे छल नहीं सके।

तब कूटनीति बरतनेवाले वे सब कुमार प्रद्युम्नकुमार को सिद्धायतन के गोपुर के निकट ले गये और उसे यह कहकर प्रेरित करने लगे कि ''जो इस गोपुर के अगले सिरे पर चढ़ेगा, वह उस पर रहनेवाले देव से विद्याओं का खजाना तथा मुकुट प्राप्त करेगा।''

साथियों से प्रेरणा पाकर कुमार बड़े वेग से गोपुर के अगले सिरे पर चढ़ गया

और वहाँ के निवासी देव से विद्याओं का खजाना और मुकुट ले आया। भाइयों ने फिर कुमार को उकसाया, तो वह बड़े वेग से महाकाल नाम की गुफा में घुस गया और वहाँ से तलवार, ढाल, छत्र तथा चमर ले आया। वे पाँच सौ राजपुत्र कुमार प्रद्युम्न को खतरनाक स्थानों में जाने के लिए प्रेरित करते चले गये और कुमार बिना किसी भय के उन-उन स्थानों में जाकर दुर्लभ वस्तुओं को ले आया। वह नागगुफा में गया और वहाँ रहनेवाले देव से उत्तम पादपीठ, नागशय्या, आसन, वीणा तथा भवन बनानेवाली विद्या ले आया। बावड़ी में घुसा और युद्ध में पराजित देव से मकर के चिह्न से अंकित ऊँची ध्वजा ले आया। अग्निकुण्ड में प्रविष्ट हुआ और वहाँ से अग्नि से शुद्ध हुए दो वस्त्र ले आया। मेषाकृति पर्वत में प्रवेश कर कानों के दो कुण्डल ले आया। पाण्डुकवन में जाकर वहाँ के मर्कट देव से मुकुट और अमृतमाला लेकर लौटा। कपित्थ वन के निवासी देव से विद्याहस्ति ले आया। वल्मीक वन के देव से छुरी, कवच तथा मुद्रिका ले आया। उसने शराव पर्वत के देव से कटिसूत्र, कवच, कड़ा, बाजूबन्द और कण्ठाभरण प्राप्त किया। शूकर वन के शूकरदेव से शंख और सुन्दर धनुष लिया। शूकरवन में ही मनोवेग नाम के एक विद्याधर को दूसरे विद्याधर वसन्त ने कीलित कर दिया था। प्रद्युम्न ने उन दोनों की मित्रता करा दी और मनोवेग से हार तथा इन्द्रजाल और वसन्त से एक कन्या तथा नरेन्द्रजाल प्राप्त किया। आगे चलकर प्रद्युम्न ने एक भवन में प्रवेश किया। वहाँ के अधिपति देव ने कुमार को पुष्प धनुष और उन्माद, मोह, सन्ताप, मद तथा शोक उत्पन्न करनेवाले बाण दिये। एक और नागगुफा में प्रवेश कर प्रद्युम्न ने वहाँ के स्वामी से चन्दन, अगुरु, फूलछत्र और फूलशय्या प्राप्त की और अन्त में जयन्तगिरि पर्वत के दुर्जयवन में जाकर वहाँ से विद्याधर वायु तथा विद्याधरी सरस्वती की पुत्री रति को प्राप्त किया।

ये सोलह लाभ-स्थान थे, जहाँ से प्रद्युम्न ने अनेक लाभों को प्राप्त किया था। इन आश्चर्यजनक महालाभों के साथ प्रद्युम्न को देखकर संवर आदि वे पाँच सौ कुमार चकित हो गये। उन्होंने इसे पुण्य का माहात्म्य समझा और प्रद्युम्न के प्रति शान्ति धारण कर वे मेघकूट नगर वापस आ गये।

धनुष, बाण, छत्र, ध्वजा और दिव्य आभूषणों से अलंकृत, पुष्पधनुष और पाँच काम बाणों से स्त्री-पुरुष के मन को हरता हुआ प्रद्युम्न सफेद बेलों वाले दिव्य रथ पर सवार होकर नगर में आया। सैकड़ों कुमारों से घिरे प्रद्युम्न का प्रताप किसी के हृदय में रागजनित तो किसी के हृदय में द्वेषजनित सन्ताप भर रहा था।

पहुँचते ही प्रद्युम्न ने कालसंवर को प्रणाम किया और उसके बाद उसी रथ पर बैठकर कनकमाला के पास आया। तरुण कामवेश में सजे प्रद्युम्न को देखकर कनकमाला की भावस्थिति विपरीत हो गयी। कनकमाला ने रथ से नीचे आये विनम्र

प्रद्युम्न की बहुत प्रशंसा की। उसका माथा सूँघा, उसे पास बैठाया और कोमल हाथ से उसका स्पर्श किया। तीव्र मोह ने उसकी आत्मा को परवश कर दिया और अनेक खोटे विचार उसकी हृदयभूमि को खोदते हुए ऊपर आने लगे।

कनकमाला सोचने लगी—'शय्या पर जो स्त्री अपने अंगों से इसके अंगों का स्पर्श प्राप्त करेगी, वही एक स्त्री है। अन्य स्त्रियाँ तो उसकी अनुकृति मात्र हैं। मेरा रूप, लावण्य, सौभाग्य और चातुर्य तभी सफल है, जब मुझे प्रद्युम्न प्राप्त हो।'

प्रद्युम्न कनकमाला के विचारों की कल्पना भी नहीं कर सका और उसे पुत्रवत् प्रणाम कर वापस चला गया।

इधर विद्याधरी कनकमाला रागजन्य क्षोभ से विकल हो गयी। उसके सारे कामकाज ठप्प हो गये। उसके अस्वस्थ होने का समाचार पाकर प्रद्युम्न भी उसे देखने आया। प्रद्युम्न ने देखा, कनकमाला कमल-पत्तों की शय्या पर पड़ी छटपटा रही है। कुमार ने उसकी विकलता का कारण पूछा तो उसने अपने अंगों के रागपूर्ण हावभावों तथा बोलों से अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया।

इस विपरीत बात को जानकर प्रद्युम्न बहुत खिन्न हआ। वह कनकमाला से माता-पुत्र के सम्बन्ध की गरिमा का बखान करने लगा, तो कनकमाला ने उसे आदि से लेकर अन्त तक सारी कथा कह सुनायी कि कैसे अटवी में वह मिला, उसका लालन-पालन हुआ इत्यादि।

कनकमाला से यह कथा सुन प्रद्युम्न के मन में संशय हो गया। वह जिनमन्दिर में विद्यमान मुनि सागरचन्द्र के पास गया और उनसे उसने अपने पूर्वजन्म के बारे में जानने की इच्छा प्रकट की। मुनिराज ने उसे उसके पूर्वजन्म सुनाये और यह भी बता दिया कि वह कनकमाला पूर्वजन्म की चन्द्राभा है।

अन्त में मुनि ने कहा, "प्रद्युम्न, तुझे कनकमाला से प्रज्ञप्तिविद्या का लाभ होगा।"

शुद्ध सम्यग्दर्शन और शीलधन को धारण करनेवाला प्रद्युम्न कनकमाला के पास आया और उससे प्रज्ञप्तिविद्या के बारे में पूछने लगा।

कामपीड़ित कनकमाला बोली, "काम, एक बात सुन, यदि तू मुझे चाहता है तो मैं तुझे गौरी और प्रज्ञप्तिविद्याएँ देती हूँ, तू ग्रहण कर।"

प्रद्युम्न ने कहा, "यह आपकी प्रसन्नता है। मैं आपको चाहता हूँ, विद्याएँ मुझे दीजिए।"

कुमार के मुख से यह सुनकर कनकमाला ने अन्य विद्याधरों के लिए दुर्लभ वे दोनों विद्याएँ विधिपूर्वक प्रद्युम्न को दे दीं।

प्रद्युम्न ने हाथ फैलाकर विद्याओं को ग्रहण किया और प्रसन्न होकर बोला, "पहले अटवी से लाकर आपने मेरी रक्षा की और आज विद्यादान किया, इसलिए

प्राणदान और विद्यादान देने के कारण आप मेरी गुरु हैं।''

प्रद्युम्न ने कनकमाला की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और हाथ जोड़कर माथा नवाकर बोला, ''पुत्र के योग्य जो भी आज्ञा हो, मुझे दीजिए।''

कनकमाला चुप रह गयी और प्रद्युम्न थोड़ी देर वहाँ रुककर चला गया।

'इसने मुझे छला है'—यह सोचकर क्रोध से पागल हुई कनकमाला ने अपने वक्ष और स्तनों को अपने ही नाखूनों से क्षत-विक्षत कर लिया। जब कालसंवर उसके पास आये तो उन्हें अपना शरीर दिखाकर वह बोली, ''पुत्र के योग्य प्रद्युम्न की करतूत देखो।''

पति ने स्त्री के इस प्रपंच पर विश्वास कर लिया और अपने पाँच सौ पुत्रों को एकान्त में बुलाकर कहा, ''जैसे भी हो, प्रद्युम्न को मार डालो और किसी को भी इस घटना का पता नहीं लगना चाहिए।''

प्रद्युम्न पर क्रुद्ध पिता की इस आज्ञा से वे दुष्टबुद्धि कुमार फूले न समाये और अगले दिन बड़ा आदर दिखाकर प्रद्युम्न को कालाम्बु बावड़ी पर ले गये। उन्होंने सोचा था कि जलक्रीड़ा करते समय वे सब एक साथ प्रद्युम्न पर कूद पड़ेंगे और उसे मार डालेंगे। वे सब बावड़ी में उतरने की तैयारी कर ही रहे थे कि प्रज्ञप्तिविद्या ने प्रद्युम्न के कान में उन सबके षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ कर दिया। सुनकर प्रद्युम्न को बड़ा क्रोध आया। उसने माया से अपना वास्तविक शरीर तो छिपा दिया और छाया-शरीर लेकर बावड़ी में कूद पड़ा। उसके कूदते ही वज्र की तरह कठोर वे सारे कुमार उसके ऊपर कूद पड़े। प्रद्युम्न ने चार सौ निन्यानबे कुमारों को तो सिर नीचे पैर ऊपर कर कील दिया और शेष एक कुमार की पाँच चोटियाँ बनाकर उसे खबर देने के लिए कालसंवर के पास भेज दिया।

पुत्रों के कीलित होने का समाचार सुनकर कालसंवर के क्रोध में घी पड़ गया। वह सेना लेकर युद्ध करने पहुँचा। प्रद्युम्न ने भी विद्या के प्रभाव से एक सेना बना ली। युद्ध में कालसंवर हार गया और जीवन की आशा छोड़ प्रज्ञप्तिविद्या को ही एकमात्र उपाय मानकर कनकमाला के पास पहुँचा।

''तू मुझे शीघ्र ही प्रज्ञप्तिविद्या दे।'' उसने कहा।

कनकमाला बोली, ''मैं तो बाल्यकाल में ही दूध के साथ वह विद्या प्रद्युम्न को दे चुकी हूँ।''

स्त्री की यह दुश्चेष्टा जानकर कालसंवर फिर युद्ध के मैदान में लौटा और युद्ध करने लगा। प्रद्युम्न ने उसे बाँधकर एक शिलातल पर रख दिया।

तभी कालज्ञ नारद वहाँ आ पहुँचे। प्रद्युम्न ने उनका सम्मान किया और नारद ने सब सम्बन्धों को स्पष्ट किया। प्रद्युम्न ने राजा कालसंवर को बन्धनमुक्त कर दिया और प्रणामपूर्वक कहा, ''माता कनकमाला ने जो भी किया है, वह पूर्वकर्म के

वशीभूत होकर ही किया है, आप उसे क्षमा कर दें।''

कुमार ने उन पाँच सौ भाइयों को भी छोड़ दिया और बार-बार अपना भ्रातृ-स्नेह प्रकट किया।

माता रुक्मिणी और पिता कृष्ण के दर्शन के लिए प्रद्युम्न का मन आतुर हो उठा। उसने राजा कालसंवर से आज्ञा माँगी। उसने प्रद्युम्न को प्रीतिपूर्वक विदा किया। प्रद्युम्न द्वारिका जाने के लिए नारद के साथ विमान में आरूढ़ हुआ। अनेक तरह की कथाओं को कहते हुए वे आकाश में जा रहे थे कि नीचे हस्तिनापुर से कुछ आगे जाती हुई एक सेना कुमार को दिखाई दी।

सेना को देख प्रद्युम्न ने पूछा, ''पूज्य, वन के बीच यह किसकी इतनी बड़ी सेना है? यह पश्चिम दिशा में इतनी तेजी से कहाँ और क्यों जा रही है?''

नारद ने कहा, ''पुत्र, यह कुरुवंशी राजा दुर्योधन की सेना है। तुम्हारे जन्म से पहले कभी उसने कृष्ण से प्रतिज्ञा की थी कि यदि मेरे कन्या हुई और आपकी सत्यभामा तथा रुक्मिणी रानियों के पुत्र हुए, तो जो पहला पुत्र होगा, उसे मैं अपनी कन्या दूँगा। हे प्रद्युम्न, रुक्मिणी के तुम और सत्यभामा के भानु साथ ही साथ जनमे। लेकिन रुक्मिणी के सेवकों से तुम्हारे जन्म का समाचार पहले पाने के कारण कृष्ण ने तुम्हें अग्रज घोषित किया और सत्यभामा के स्वजनों से भानु के जन्म का समाचार बाद में पाने के कारण उसे अनुज कहा। तभी तुम्हारा हरण हो गया और तुम सबके लिए अज्ञात-से हो गये। इसलिए यशस्वी दुर्योधन ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपनी कन्या उदधिकुमारी सत्यभामा के पुत्र भानु के लिए भेजी है। भावमयी यह कन्या इतनी बड़ी सेना से सुरक्षित होकर द्वारिका जा रही है, वहाँ इसका विवाह भानु से होगा।''

सारी बात सुन-समझकर प्रद्युम्न ने नारद को तो विमान में ही रहने दिया और स्वयं नीचे उतरकर भील के वेश में सेना के सामने जा खड़ा हुआ।

उसने सेना के अधिकारियों से कहा, ''कृष्ण महाराज ने मेरे लिए जो शुल्क देना निश्चित किया है, वह देकर जाइएं।''

भील की बात सुनकर वे प्रमुखजन बोले, ''माँग, क्या चाहता है?''

भील ने जवाब दिया, ''इस सेना में जो सारभूत वस्तु हो, वही चाहता हूँ।''

उसकी इस बात पर सेना के लोग क्रुद्ध होकर बोले, ''इस सेना में सारभूत तो राजकन्या है।''

भील ने निर्भय भाव से कहा, ''तो वही कन्या मुझे दी जाये।''

यह सुन उन लोगों ने कहा, ''तू नारायण श्रीकृष्ण की सन्तान नहीं है। कन्या

उसे दी जाएगी, नारायण श्रीकृष्ण की सन्तान है।''

भील ने जोर देकर कहा, ''मैं उन्हीं की ही सन्तान हूँ।''

''इस अनर्गल प्रलाप करनेवाले की धृष्टता तो देखो!'' ऐसा कहकर उन मुख्य वीरों ने प्रद्युम्न को धनुष की कोटि से अलग हटाकर जैसे ही आगे कदम बढ़ाया कि प्रद्युम्न ने विद्या से भीलों की सेना रच ली और दुर्योधन की सेना को हराकर कन्या को ले आकाश में आ पहुँचा। विमान में पहुँचकर प्रद्युम्न ने भील-वेश त्याग दिया और अपने वास्तविक रूप में आ गया। कामदेव की तरह सुन्दर उस युवा को देखकर उदधिकुमारी निर्भय हो गयी और नारद से सारा आख्यान जानकर तो उसके आनन्द की सीमा न रही।

प्रद्युम्न उदधिकुमारी और नारद मुनि के साथ इच्छानुकूल चलनेवाले उस विमान से द्वारिका पहुँचा। उसने दूर से ही समुद्र की परिखावाली, परकोटे से सुरक्षित और गोपुर तथा अट्टालिकाओं से व्याप्त कृष्ण की इस नगरी को देखा। तभी उसकी दृष्टि सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार पर पड़ी। वह घोड़े को व्यायाम कराने के लिए नगरी के बाहर मैदान में आया था। देखते ही प्रद्युम्न को शरारत सूझी। उसने विमान को आकाश में खड़ा किया और स्वयं एक बूढ़े का रूप रख एक सुन्दर घोड़े के साथ भानुकुमार के पास जा पहुँचा और बोला, ''यह घोड़ा मैं भानुकुमार के लिए लाया हूँ।''

देखते ही भानु उस घोड़े पर सवार हो गया। मनचाहा चलनेवाले उस घोड़े ने भानुकुमार को बहुत देर तक तंग किया और बाद में वह भानु को साथ लेकर अपनी इच्छा से ही उस बूढ़े के पास आया। भानु घोड़े से उतर गया।

बूढ़े ने बड़ी जोर से अट्टहास किया और घोड़े को थपथपाकर भानु की हँसी उड़ाते हुए वह बोला, ''वाह, घोड़ा चलाने में तो आप कमाल करते हैं।''

फिर रुककर बोला, ''मैं तो बूढ़ा हो गया। खुद तो घोड़े पर बैठ नहीं सकता। अगर कोई मुझे घोड़े पर बैठा दे तो मैं अपना कौशल दिखलाऊँ।''

भानु की आज्ञा से उसके सेवक उस बूढ़े को घोड़े पर बैठाने का उद्यम करने लगे, लेकिन प्रद्युम्न ने अपना शरीर इतना भारी कर लिया कि उन अनेक लोगों को उसे हिलाना भी दूभर हो गया। जब प्रद्युम्न उन सबको खूब तंग कर चुका तो स्वयं घोड़े पर चढ़ गया और अपना कौशल दिखाता हुआ चला गया।

इसके बाद वह सत्यभामा के बगीचे में पहुँचा। वहाँ उसने माया-वानरों के द्वारा सारा बगीचा उजाड़ डाला और माया से उसकी विशाल बावड़ी सुखा दी।

नगर के द्वार पर राजा श्रीकृष्ण आ रहे थे। उन्हें देख उसने माया से मक्खी-मच्छरों को रचकर इतनी अधिक संख्या में छोड़ा कि उनका आगे बढ़ना कठिन हो गया और हाथ हिलाते हुए उन्हें लौटना ही पड़ा। इसके बाद वह गधे और मेढ़े

(मेष) के रथ पर सवार हुआ और नगर में घूम-घूमकर द्वारिका के लोगों का मनोरंजन करता रहा।

उसने बड़े प्रसन्न भाव से अपने बाबा वसुदेव के साथ मेषयुद्ध भी किया।

इसके बाद वह सत्यभामा के महल में पहुँचा। वहाँ ब्राह्मणों का भोज होनेवाला था। प्रद्युम्न ने भी एक ब्राह्मण का वेश धरा और सबसे आगे के आसन पर जा बैठा। एक अपरिचित ब्राह्मण को आगे बैठा देख सब ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये। तब उसने उन लगे हुए आसनों से ही उन्हें खूब छकाया और ब्राह्मण-भोज में जितना भी भोजन बना था, सब अकेले ही खा लिया। जब कुछ भी न बचा तो सत्यभामा को कृपण बताकर उसने सारा भोजन वहीं वमन कर दिया और बाहर चला गया।

अब प्रद्युम्न क्षुल्लक का वेश रख माता रुक्मिणी के महल में गया। वहाँ उसने रुक्मिणी के दिये हुए लड्डू खाये। उसी समय सत्यभामा का नाई रुक्मिणी के बाल लेने आया, ताकि पहले निश्चय के अनुसार वर-वधू उन्हें पैरों के नीचे रख स्नान कर सकें। प्रद्युम्न ने उस नाई के आने का प्रयोजन जानकर उसका खूब तिरस्कार किया। नाई ने जाकर सत्यभामा को बताया। सत्यभामा ने बलदेव से कहा तो वे रुक्मिणी के महल में आये। उन्हें आते देख प्रद्युम्न ने एक ब्राह्मण का रूप रखा और द्वार पर पैर फैलाकर पड़ गया।

बलदेव ने कहा, "दूर हट।"

प्रद्युम्न बोला, "आज सत्यभामा के घर बहुत भोजन कर आया हूँ, मुझसे उठते नहीं बनता।"

उसे टस से मस न होते देख बलदेव ने उसकी टाँग पकड़कर खींची, लेकिन विद्याबल से प्रद्युम्न ने अपनी टाँग इतनी जमा ली कि बलदेव उसे हिला भी न सके।

इस तरह अनेक विद्याओं का धनी प्रद्युम्न अपने अद्‌भुत कार्यों से सबको चकित करता हुआ घूमने लगा।

उसी समय रुक्मिणी के बगीचे में बिन मौसम ही मोर बोलने लगे। सूखी पड़ी मणिमय वाटिका निर्मल जल और कमलों से भर गयी। अशोक वृक्ष अंकुरित-पल्लवित हो उठे। गूँगों ने बोलना शुरू कर दिया। प्रद्युम्न के आने पर नारद के बताये इन चिह्नों के प्रकट होने पर रुक्मिणी के स्तनों से दूध झरने लगा। आश्चर्य-चकित हो वह सोचने लगी—'सोलह बरस बीत गये हैं, कहीं मेरा पुत्र ही तो रूप बदलकर नहीं आ गया है?'

उसी क्षण प्रद्युम्न ने वास्तविक रूप में प्रकट होकर स्नेहपूर्वक माता के चरणों में प्रणाम किया। पुत्र को देखते ही रुक्मिणी का शरीर रोमांचित हो उठा। उसने विनम्र हुए पुत्र का आलिंगन किया और चिर-संचित दुख को आँसुओं के बहाने छोड़ने लगी। उस समय पुत्र के दर्शन ने रुक्मिणी को अमृत से सींच दिया था।

उसके शरीर में रोमांच इस तरह प्रकट हो रहा था, मानो पुत्र का स्नेह ही रोमकूपों से बाहर फूट निकला हो।

जब माता-पुत्र का मिलन हो चुका तो रुक्मिणी ने प्रद्युम्न से कहा, ''पुत्र, कनकमाला धन्य है, जिसने तेरी बालक्रीड़ाओं को देखकर पुत्र-जन्म का फल खाया।''

हृदय में तोष भरनेवाले, आँखों को आनन्दित करनेवाले प्रद्युम्न ने माता को नमस्कार कर कहा, ''माँ, देख, मैं अभी तुझे अपनी बालक्रीड़ाएँ दिखाता हूँ।''

उसी क्षण वह एक दिन का बालक बन गया और नीलकमल जैसी आँखों को प्रफुल्लित घुमाता हुआ हाथ का अँगूठा चूसने लगा। कुछ देर बाद वह रुक्मिणी के स्तनों से चिपककर दूध पीने लगा। फिर छाती के बल सरकने लगा। उठने का प्रयत्न करता, फिर गिर पड़ता। इसके बाद माता की उँगली पकड़ वह मणिजटित फर्श पर चलने लगा। कुछ देर बाद धूल में खेलकर आया और माँ के गले से लिपटकर उसे सुख देने लगा। फिर माता के मुख की ओर टकटकी बाँध मुस्कराता हुआ तोतली बोली बोलने लगा।

इसी तरह बाल-लीलाओं से रुक्मिणी माता का मनोरथ पूरा कर वह असली रूप में आ गया और बोला, ''चल माँ, मैं तुझे आकाश में लिये चलता हूँ।''

प्रद्युम्न दोनों बाँहों में रुक्मिणी को उठाकर आकाश में खड़ा हो गया और घोषणा करता हुआ बोला :

''समस्त यादव राजा सुनें, मैं तुम लोगों के देखते-देखते लक्ष्मी की तरह सुन्दर श्रीकृष्ण की प्रिया रुक्मिणी को हरकर ले जा रहा हूँ। जिसमें शक्ति हो, आकर रक्षा करे।''

इतना कहकर उसने शंख बजाया और रुक्मिणी को विमान में नारद और उदधि कुमारी के पास बैठाकर स्वयं युद्ध के लिए आकाश में आ खड़ा हुआ।

एक अपरिचित युवा के इस उद्धत कार्य से क्षुब्ध हुए यादव राजा अपनी चतुरंग सेना के साथ नगरी से बाहर निकले। प्रद्युम्न ने विद्याबल से सारी यादव सेना को मोहित कर दिया और आकाश में स्थित कृष्ण के साथ बड़ी देर तक घमासान युद्ध करता रहा। कृष्ण का सारा अस्त्र-कौशल आज विफल हो गया। अब दोनों वीर भुजा-युद्ध करने के लिए तैयार हो गये।

यह देख रुक्मिणी का धैर्य जाता रहा। उसने नारद से प्रार्थना की और नारद ने आकाश में खड़े उन दोनों के बीच जाकर उन्हें पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताकर युद्ध करने से रोका।

चरणों में नम्र हुए पुत्र का आलिंगन कर कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। उनकी आँखें आँसुओं से भींग गयीं और वे प्रद्युम्न को अनेक आशीर्वाद देने लगे। प्रद्युम्न ने माया

से सोयी हुई सेना को जाग्रत् किया और समस्त बन्धु-बान्धवों के साथ द्वारिका में प्रवेश किया।

पुत्रवत्सला रानी रुक्मिणी और जाम्बवती ने बहुत उत्सव मनाया।

प्रद्युम्न का उदधिकुमारी और अन्य अनेक उत्तम कन्याओं से विवाह हुआ। विद्याधर रानी कनकमाला ने भी अपने पति कालसंवर के साथ इन विवाह-उत्सवों को देखा और पूर्वभाव से मुक्त होकर पालित पुत्र प्रद्युम्न पर आशीर्वादों की वर्षा की।

तेरहवाँ प्रकरण

भगवान सीमन्धर ने मधु के भाई कैटभ के बारे में जो भविष्यवाणी की थी कि वह अच्युत स्वर्ग में देव हुआ है, और कृष्ण की जाम्बवती रानी से शम्ब नाम का पुत्र बनकर जन्म लेगा, उसके जन्म का समय निकट आ गया था। अच्युत स्वर्ग में अपनी आयु पूरी हुई जान वह एक दिन द्वारिका आया और सत्यभामा से एक और पुत्र की इच्छा रखनेवाले श्रीकृष्ण को एक सुन्दर हार दे गया। प्रद्युम्न ने इस बात को जान लिया और अपनी विद्या के प्रयोग से रानी जाम्बवती को सत्यभामा का रूप देकर श्रीकृष्ण के पास भेज दिया। उसने कृष्ण से रति-मिलन के बाद वह हार प्राप्त कर लिया। उसी क्षण पुण्य का उदय होने के कारण अखण्ड अभ्युदय धारण करनेवाले कैटभ का जीव स्वर्ग से च्युत हो जाम्बवती के गर्भ में आ गया। जाम्बवती अपने महल को लौट गयी।

कुछ देर बाद सत्यभामा भी कृष्ण के पास आयी और उसने भी रमण के बाद स्वर्ग से च्युत किसी शिशु को गर्भ में धारण किया।

नौ माह पूरे होने पर रानी जाम्बवती ने शम्ब नाम के पुत्र को और रानी सत्यभामा ने अत्यन्त तेजस्वी पुत्र सुभानु को जन्म दिया। प्रद्युम्न के अभ्युदय और शम्ब के जन्म से रुक्मिणी और जाम्बवती को महान हर्ष हुआ। उधर भानु और सुभानु पुत्रों को पाकर सत्यभामा के आनन्द की सीमा न रही। कृष्ण के अन्य स्त्रियों से भी अनेक पुत्र हुए। सत्यनिष्ठ, पराक्रमी और यशस्वी सैकड़ों कुमारों में प्रशंसित शम्ब अत्यन्त पराक्रमी था। वह हर क्रीड़ा में सुभानु को दबा देता था और उसे जीतकर मनमाने खेल किया करता था।

एक बार रुक्मिणी ने प्रद्युम्न के लिए अपने भाई रुक्मी की कन्या वैदर्भी को माँगा, लेकिन पूर्व विरोध के कारण रुक्मी ने अपनी कन्या न दी। यह सुन शम्ब और प्रद्युम्न दोनों भाई भील के वेश में गये और रुक्मी को हराकर बलपूर्वक उस कन्या को हर लाये। प्रद्युम्न ने उस कन्या से विवाह कर लिया।

शम्ब जुआ खेलने में बहुत चतुर था। एक दिन उसने सबके देखते-देखते जुए में सुभानु का सब धन जीत लिया और सब लोगों को बाँट दिया। अनेक पक्षियों की बोली बोलना, सुगन्धित पदार्थों की परख करना, इन सबमें शम्ब सुभानु से बहुत आगे था। एक बार महाराज कृष्ण की सभा में शम्ब ने अग्नि में शुद्ध किये दो दिव्य वस्त्र तथा अलंकार प्राप्त किये और एक बार अपना बल दिखाकर सुभानु कुमार को इतने कौशल से जीता कि श्रीकृष्ण उस पर अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उससे वर माँगने को कहा। शम्ब ने एक माह का राज्य माँग अनेक विपरीत कार्य किये। तब कृष्ण ने पितातुल्य क्रोध से उसकी ताड़ना की।

एक बार एक ही रात्रि में शम्ब ने सौ कन्याओं के साथ विवाह का मंगल-स्नान कर माता जाम्बवती को बहुत प्रसन्न किया और एक दिन पूज्य पितामह वसुदेव के भवन में जाकर प्रणामपूर्वक उनसे विनोद में बोला :

"पूज्यवर, आपने अनेक क्लेश उठाये, तब कहीं आप विद्याधरों की सुन्दर कन्याएँ प्राप्त कर सके। मुझे देखिए, मैंने घर बैठे बिना किसी कष्ट के एक ही रात में सौ कन्याओं के साथ विवाह कर लिया। आप हम दोनों का अन्तर देखिए।"

वसुदेव बोले, "पुत्र, तू बाण की तरह दूसरे से अर्थात् प्रद्युम्न से प्रेरित हो चलता है और फिर तेरी गति भी कितनी? सिर्फ घर में ही। सचमुच ही हम दोनों में बहुत अन्तर है। मैं विद्याधरों के नगर-समुद्रों का मगर हूँ और तू द्वारिका के कुएँ का मेंढक है।

शम्ब, मैंने विद्याधरों के नगरों में जो अनुभव किया, देखा, सुना, वह अत्यन्त रोमांचकारी है।"

वसुदेव से ऐसा सुनकर शम्ब अत्यन्त उत्सुक हो उठा और आदरपूर्वक बोला, "आर्य, मैं वह सारी कथा सुनना चाहता हूँ, कृपा कर सुनाइए।"

वसुदेव बोले, "पुत्र, तू आनन्द-भेरी बजवाकर समस्त यादवों को इसकी सूचना दे। मैं सबके सामने अपना चरित्र सुनाऊँगा।"

आनन्द-भेरी सुनकर सारा यादव-समाज एकत्रित हो गया। तब वसुदेव ने विस्तारपूर्वक सारा वृत्तान्त कहा। उन्होंने शौर्यपुर से छलपूर्वक निकलने से लेकर प्रद्युम्न और शम्ब के जन्मपर्यन्त अपना मनुष्य तथा विद्याधरों से सम्बन्ध रखनेवाला सारा चरित कह सुनाया। सभासद लोग, वृद्ध पुरुष, स्त्री, युवा, बालक, समस्त यदुवंशी राजा और रानियाँ तथा द्वारिका के अन्य लोगों ने वह चरित सुना और अद्भुत रस का अनुभव किया। शिवादेवी आदि रानियाँ भी वसुदेव के कथारस का पान कर उनकी स्तुति करने लगीं।

वसुदेव की कथा फिर ताजा हो गयी और लोग उसे घर-घर सुनाने लगे।

चौदहवाँ प्रकरण

भगवान वृषभदेव के समकालीन जिन दो राजाओं—श्रेयांस और सोमप्रभ—की चर्चा हुई है, उनमें राजा सोमप्रभ के जयकुमार नाम का पुत्र हुआ। उसे भन्त चक्रवर्ती ने 'मेघस्वर' नाम से सम्बोधित किया था। उसके पुत्र का नाम था कुरु। इसी कुरु की कुल-परम्परा में भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ—ये तीन तीर्थंकर हुए। अनेक चक्रवर्तियों, सैकड़ों राजाओं के बाद कालान्तर में राजा शान्तनु हुए। शान्तनु के पुत्र धृतव्यास हुए और अगले छह राजाओं के क्रम में राजा धृत के धृतराज नाम का पुत्र हुआ। धृतराज की उच्चकुल में उत्पन्न तीन रानियाँ थीं-अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा। उनमें अम्बिका से धृतराष्ट्र का जन्म हुआ, अम्बालिका से पाण्डु जनमे और अम्बा से ज्ञानी विदुर का जन्म हुआ। भीष्म भी शान्तनु के कुल में ही उत्पन्न हुए थे। धृतराज के भाई रुक्मण उनके पिता थे और पवित्र बुद्धिशालिनी गंगा उनकी माता थीं। राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, ये सभी नीतिवान और पुरुषार्थी थे और हमेशा एक-दूसरे का हित करने में तत्पर रहते थे।

राजा पाण्डु का विवाह वसुदेव की दोनों बहनों कुन्ती और माद्री से हुआ था। राजा पाण्डु ने गन्धर्व-विवाह कर कुन्ती से कुमारी अवस्था में ही सम्भोग किया था, जिससे कर्ण का जन्म हुआ था। विवाह के बाद युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र हुए थे। माद्री से पाण्डु के दो पुत्र हुए-नकुल और सहदेव। कर्ण को छोड़कर ये पाँचों भाई पाँच पाण्डव कहलाते थे।

जब राजा पाण्डु और छोटी रानी माद्री जिनधर्म के प्रसाद से स्वर्गवासी हो गये, तब धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में राज्य को लेकर विरोध पैदा हो गया। जब इनकी कलह बढ़ने लगी तो भीष्म, विदुर, द्रोण तथा मन्त्री शकुनि ने बीच में पड़कर राज्य के दो बराबर भाग कर दिये। एक भाग युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डवों को मिला और दूसरा भाग दुर्योधन आदि सौ कौरवों को प्राप्त हुआ।

द्रोणाचार्य धुनर्विद्या में अत्यन्त निपुण थे। वे मध्यस्थ भाव से दोनों पक्षों के

राजपुत्रों को धनुर्विद्या सिखाते थे। ये विद्रावण के पुत्र थे और समस्त भृगुवंशियों के पूजनीय थे। द्रोणाचार्य की स्त्री अश्विनी से अश्वत्थामा का जन्म हुआ। यह बड़ा भारी धुनर्धर था और युद्ध में केवल अर्जुन ही उसकी बराबरी कर सकता था।

दुर्योधन अर्जुन के लोकोत्तर प्रताप और अनुपम सूझबूझ से बहुत खार खाता था। एक बार ये सभी भाई पाण्डवों के साथ हुई राज्य-सन्धि को दोषपूर्ण बताने लगे।

दुर्योधन ने कहा, ''कुरुवंश के आधे राज्य को एक तरफ सिर्फ पाँच पाण्डव भोगते हैं और आधे राज्य को दूसरी तरफ हम सौ भाई भोगते हैं—इससे बढ़कर अन्याय और क्या होगा?''

इन भाइयों की यह बात पाण्डवों ने भी सुनी। युधिष्ठिर शान्तिप्रिय थे, इसलिए कुछ नहीं बोले। लेकिन बाकी चारों पाण्डव प्रसन्न और गम्भीर स्वभाव के होने पर भी इस तरह क्षुब्ध हो गये, जैसे प्रचण्ड वायु के आघात से चारों समुद्र क्षुब्ध हो जाते हैं।

अर्जुन बादल की तरह यह कहकर उठ खड़ा हुआ, ''मैं शत्रुओं के पहाड़ को अपनी बाणवर्षा से अभी आच्छादित करता हूँ,'' लेकिन युधिष्ठिर ने हवा की तरह उसे शान्त कर दिया।

भीम भुजंग की तरह यह कहकर उठा, ''मैं इन सौ के सौ हिस्सेदारों को अपनी दृष्टि से ही जला डालता हूँ,'' लेकिन युधिष्ठिर ने उसे मन्त्र से शान्त कर दिया।

नकुल नेवले की तरह सर्प बने इन शत्रुओं के कुल का अन्त करने का उपक्रम करने लगा, लेकिन युधिष्ठिर ने उसे अपनी भुजाओं के पिंजरे में कैद कर लिया।

सहदेव दावानल की तरह प्रज्वलित हो उठा कि शत्रु के इस विस्तृत जंगल को भस्म कर दे, लेकिन युधिष्ठिर ने उसे मेघ बनकर शान्त कर दिया।

इधर दुर्योधन की कर्ण के साथ मित्रता हो गयी और जरासन्ध के साथ एकान्त में बैठकें होने लगीं।

एक दिन पाँचों पाण्डव गहरी नींद में सो रहे थे कि कौरवों ने उनके महल में आग लगवा दी। सहसा उनकी नींद खुल गयी। वे सारा षड्यन्त्र समझ गये और माता कुन्ती के साथ सुरंग से निकलकर चुपचाप कहीं चले गये। कौरवों ने समझा कि पाण्डव तो आग में जलकर भस्म हो चुके हैं तो उन्होंने कुटुम्बी होने के नाते मृत्यु के बाद की क्रियाओं को किया और निश्चिन्त होकर रहने लगे। लेकिन इस घटना से जनता के मन पर बुरा असर पड़ा और वह दुर्योधन से विद्वेष रखने लगी।

इधर पाण्डव गंगा नदी को पार कर, वेश बदलकर पूरब दिशा की ओर निकल गये। माता कुन्ती धीरे-धीरे चल पाती थीं, इसलिए वे पाँचों पुत्र उनके अनुसार ही चलते थे। इसी तरह सुखपूर्वक चलते हुए वे राजा वर्ण की नगरी कौशिक में पहुँचे। राजा वर्ण की स्त्री का नाम प्रभावती था और उनके कुसुमकोमला नाम की अत्यन्त

रूपवती कन्या थी। पाण्डवों पर लोगों का विशेष अनुराग था। कुसुमकोमला ने भी उनका नाम सुना था और अब दर्शन भी किया। युधिष्ठिर को देखकर कुसुमकोमला का मन प्रेम से बँध गया। वह चन्द्रदर्शन से खिलनेवाली कुमुदिनी की तरह अत्यन्त विकसित हो गयी और सोचने लगी—'इस जन्म में ये ही मेरे पति हों।' कुसुम-कोमला को देखकर युधिष्ठिर भी प्रेमबन्ध से बँध गये थे। उन्होंने उसके मनोरथ को समझा और संकेत से विवाह की आशा दिखाकर आगे चले गये। कुसुमकोमला उनकी प्रतीक्षा करती हुई रहने लगी।

अब उन पाँचों पाण्डवों ने ब्राह्मण का वेश रख लिया। उनका रूप मनोहर था और व्यक्तित्व प्रभावशाली। इसलिए सभी उनके प्रति सहज ही आकर्षित हो जाते थे। महापुण्यशाली होने के कारण अज्ञातवास के समय भी उन्हें सुन्दर आसन, शयन और भोजन अनायास और अचिन्तित रूप से प्राप्त होते रहते थे।

एक दिन वे श्लेष्मान्तक वन में पहुँचे। उन्होंने तपस्वियों के एक सुन्दर तपोवन में विश्राम किया। वे स्वयं तपस्वी वेश में थे। तेजस्वी थे इसलिए सभी तपस्वियों ने उनका विशेष सत्कार किया। उस आश्रम में वसुन्धरपुर के राजा विन्ध्यसेन की पुत्री वसन्तसुन्दरी भी थी। विन्ध्यसेन ने अपनी कन्या को पहले से ही युधिष्ठिर के लिए दे रखा था। लेकिन जब पाण्डवों के जल जाने की खबर आग की तरह फैल गयी, तो वसन्तसुन्दरी अपने कर्म को दोष देकर जन्मान्तर में युधिष्ठिर को पाने की इच्छा से तपस्वियों के ही आश्रम में तप करने लगी।

वसन्तसुन्दरी अत्यन्त रूपवती और लावण्यवती थी। लम्बे नेत्र, सुष्ठु ओठ और सुन्दर मुखाकृति से युक्त यह कन्या चन्द्रमा की कला की तरह कृश और निर्मल थी। उसने सफेद साड़ी पहन रखी थी और शिर पर जटाएँ रखे हुए थी। वह कोमल कान्ति से सम्पन्न वटवृक्ष की छायादार टहनी की तरह लगती थी। तपस्या की प्रखरता के कारण यह तपस्वियों की पूज्या थी और अपने आवास से उस तपोवन में पवित्र गुण का विस्तार कर रही थी।

तपस्विनी वसन्तसुन्दरी ने मधुर सम्भाषण और तापसोचित आतिथ्य से पाण्डवों का सत्कार किया और उनके ठहरने की उत्तम व्यवस्था की।

इस तपस्विनी को देखकर कुन्ती के हृदय में स्नेहजन्य जिज्ञासा हुई। उसने बड़े प्रेम से उससे पूछा, "कोमलांगी बेटी, तुझे नयी अवस्था में ही वैराग्य किस कारण हो गया, जो तूने यह कठिन व्रत ले लिया?"

स्नेह ने उस राजपुत्री को द्रवित कर दिया और वह सुमधुर स्वर में बोली, "माता, आपने ठीक पूछा है। मैं आपसे अपने मन का दु:ख कहती हूँ जो मेरे वैराग्य का कारण बन गया। मेरे माता-पिता ने मुझे स्वभाव से ही धर्मात्मा पाण्डवों के बड़े भाई युधिष्ठिर के लिए दे रखा था। लेकिन मेरे पाप के प्रभाव से उनके साथ जो

घटा, उसका स्मरण भी नहीं किया जा सकता। मेरे स्वामी दाह-दुःख से मरे हैं। मुझे भी इसी तरह जलकर मर जाना चाहिए था, लेकिन शक्तिहीन होने के कारण मैं वैसा नहीं कर सकी, इसलिए अब दूसरी आग में जल रही हूँ।''

तपस्या से तपती उस कन्या के वचन सुनकर कुन्ती को बहुत आनन्द हुआ। उसे भावी पुत्रवधू मानकर सौम्य स्वभाववाली कुन्ती ने कहा, ''बेटी, यह तूने बहुत ही अच्छा किया कि प्राणों की रक्षा की। बन्धुजन बान्धवों के बारे में कुछ और सोचते हैं और भाग्य उस सोच के विपरीत कुछ और ही कर देता है। इसलिए हमेशा दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए। कल्याणी पुत्री, प्राण कल्याण के कारण हैं। इसलिए मेरी बात मानकर तू इन्हें अवश्य धारण करना। यदि जीवित रहेगी तो एक दिन श्रेयस को अवश्य प्राप्त करेगी।''

युधिष्ठिर ने भी माता कुन्ती के वचनों का अनुमोदन किया और वसन्तसुन्दरी को अणु, शील और गुणव्रतों से युक्त धर्म का उपदेश दिया।

उस समय परस्पर प्रीति को बढ़ानेवाला उन दोनों के बीच जो मधुर आलाप हुआ, उससे वसन्तसुन्दरी के मन में स्वाभाविक शंका उत्पन्न हुई—'कहीं ये राजलक्षणों से युक्त महात्मा युधिष्ठिर ही तो नहीं हैं, जो मेरे प्रति दयार्द्र होकर मुझे सुन्दर उपदेश दे रहे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरा पुण्य और मेरा तप ही आज प्रकट हो गया हो?'

उसे विश्वास हो गया और वह मन-ही-मन बोली—'ये दृढ़प्रतिज्ञ प्रिय कुमार निरापद होकर चिरकाल तक जीवित रहें।'

युधिष्ठिर जब माता और भाइयों के साथ वहाँ से जाने लगे, तो उस कन्या ने अत्यन्त मीठे स्वर में उनका सम्मान करते हुए कहा, ''आप महानुभावों का फिर से दर्शन प्राप्त हो।''

अब पाण्डव तपस्वियों का वेश छोड़ सामान्य ब्राह्मणों के वेश में विचरने लगे। एक दिन वे माता के साथ ईहापुर नगर में पहुँचे। वहाँ भृंग नाम के महाभयंकर नरभक्षी एक राक्षस ने लोगों को दुखी कर रखा था। भीम ने उसे मारकर वहाँ के निवासियों को निरापद किया। उस राक्षस के भय से मुक्त होकर प्रजाजनों ने पाण्डवों का बहुत अधिक सत्कार किया।

इसके बाद इच्छानुसार घूमते हुए वे सब त्रिशंग नाम के महानगर में पहुँचे। वहाँ का राजा प्रचण्डवाहन क्रूर कर्म करनेवाले मनुष्य को दण्ड देने के लिए प्रसिद्ध था और अत्यन्त न्यायप्रिय था। उसकी स्त्री का नाम था विमलप्रभा था और इन दोनों के अत्यन्त रूपवन्ती, कलाओं में पारंगत दश कन्याएँ थीं। ये सभी कन्याएँ युधिष्ठिर

के लिए वाग्दत्ता थीं, लेकिन फिर उनका अन्यथा समाचार सुनकर ये सभी अणुव्रतों को धारण करनेवाली श्राविकाएँ बन गयी थीं। इन्हीं कन्याओं के साथ नगरसेठ की नयनसुन्दरी कन्या भी युधिष्ठिर की प्रीति के कारण श्राविका बन गयी थी। जब राजा प्रचण्डवाहन और कुबेर की तरह धनी उस सेठ ने ब्राह्मणवेशधारी पाण्डवों को देखा तो उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से उन्हें महापुरुष समझा और उनका बहुत आदर-सत्कार किया। सेठ न केवल धनी था, बल्कि पुरुषों के अन्तरंग को भी समझता था। युधिष्ठिर का चरित्र-माहात्म्य देखकर उसने अपनी कन्या नयनसुन्दरी को उन्हें देना चाहा। उधर राजा ने भी समान भाव रखते हुए अपनी दशों कन्याओं को युधिष्ठिर के लिए अर्पित करना चाहा, लेकिन इन सभी कन्याओं ने युधिष्ठिर में अपने पूर्व निश्चय को दृढ़ रखकर ब्राह्मणवेशधारी युधिष्ठिर को अन्य पुरुष समझा और स्वीकार नहीं किया।

पाण्डव सुमेरु की तरह स्थिर स्वभाववाले थे और समय के अनुकूल आचरण करना जानते थे। वे उसी तरह निर्लिप्त बने त्रिशंग नगर से निकल गये और चलते-चलते चम्पापुरी नगरी में पहुँचे। यहाँ महाराजा कर्ण राज्य करते थे। उस समय एक मदोन्मत्त हाथी ने नगर में उपद्रव मचा रखा था। भीम ने जल्दी ही उसका मद दूर कर दिया और उसे वशीभूत कर लिया। भीम की यह वीरता देख कर्ण को बहुत क्षोभ हुआ।

इसके बाद ये लोग वैदिशपुर पहुँचे। यहाँ का राजा वृषध्वज था और युवराज दृढायुध था। रानी दिशावली से उसकी दूसरी सन्तान एक कन्या थी। नाम था दिशानन्दा। दिशानन्दा का रूप सचमुच ही दिशाओं की तरह शुद्ध और आनन्ददायी था।

एक दिन गम्भीर स्वर और गम्भीर दृष्टिवाले स्वरूपवान कुमार भीम भिक्षा के लिए राजमहल में गये। वहाँ राजा वृषध्वज ने उन्हें देखा और देखते ही समझ लिया कि कोई महापुरुष द्वार पर आया है। वह तत्काल उठा और कन्या दिशानन्दा को लेकर अपनी रानी के साथ भीम के सामने खड़ा हो गया। उसने भीम का स्वागत करते हुए कहा, "हे श्रीसम्पन्न अतिथि, यह कन्या ही आपके लिए अनुरूप भिक्षा है। इसे स्वीकारिए और पाणिग्रहण के लिए हाथ पसारिए।"

इन मीठे वचनों को सुनकर भीम बोले, "अहा, यह भिक्षा तो अपूर्व है, लेकिन इस समय मैं यह भिक्षा स्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूँ।"

इतना कहकर भीम अपने आवास को लौटे और सब भाइयों से इस घटना के बारे में बताया।

करीब डेढ़ माह उस नगर में रहकर ये लोग नर्मदा नदी को पार कर विन्ध्याचल में प्रविष्ट हुए। विन्ध्याचल के बीच एक अन्तरद्वीप था। उसके सन्ध्याकार नगर में

हिडिम्बवंशी राजा सिंहघोष रहता था। उसकी स्त्री का नाम था सुदर्शना और बेटी हृदयसुन्दरी थी। हृदयसुन्दरी के बारे में निमित्तज्ञानियों ने यह कहा था कि 'विन्ध्याचल पर गदाविद्या सिद्ध करनेवाले विद्याधर को जो मारेगा, वही हृदयसुन्दरी का पति होगा।' यह बात भीम के कानों में भी पड़ी। वे विन्ध्याचल पर गये तो उन्होंने देखा कि सचमुच ही एक विद्याधर वृक्ष की कोटर में बैठा गदा सिद्ध कर रहा है। देखते ही भीम ने वह गदा हाथ में ले ली और उसी के प्रहार से उसे वृक्षसहित गिरा दिया।

भीम को हृदयसुन्दरी मिली। हिडिम्बवंशी राजा सिंहघोष के साथ अपने कुल के इस सम्बन्ध से पाण्डवों को अत्यन्त आनन्द हुआ।

अनेक अभ्युदयों को धारण करते हुए पाण्डव दक्षिण के अनेक देशों में घूमे और अब हस्तिनापुर जाने की तैयारी करने लगे। चलते-चलते वे एक दिन स्वर्ग की तरह सुन्दर माकन्दी नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा द्रुपद के धृष्टद्युम्न आदि अनेक बलशाली पुत्र थे और उनके अलावा द्रौपदी नाम की एक पुत्री भी थी। वह रूप, लावण्य में अद्वितीय और अनेक कलाओं में कुशल थी। सौभाग्य और सौन्दर्यगुण में अपनी सानी न रखनेवाली द्रौपदी के लिए अनेक राजपुत्र याचना कर चुके थे। वे अनेक उपहारों के साथ आते और द्रौपदी के हाथ की प्रार्थना करते। इस होड़ में उनमें आपस में संघर्ष भी होने लगा। 'आखिर कन्या किसको दी जाए' इसके निर्णय के लिए राजा द्रुपद ने कन्या की इच्छा रखनेवाले सब राजकुमारों को 'चन्द्रकयन्त्र' वेध करने के लिए आमन्त्रित किया।

द्रौपदी इस समय सबका ग्रह बन गयी और उसके वशीभूत होकर कर्ण, दुर्योधन आदि सभी राजा माकन्दी नगरी में इकट्ठा हो गये।

उसी समय एक विद्याधर राजा सुरेन्द्रवर्धन भी अपनी कन्या के लिए योग्य वर की तलाश में वहाँ आया और उसने राजा द्रुपद की आज्ञा लेकर गाण्डीव धनुष को वर की परीक्षा का साधन बनाया। राजा द्रुपद और राजा सुरेन्द्रवर्धन की संयुक्त मति से वर-निर्णय की घोषणा इस तरह की गयी :

'जो इस अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुष की यष्टि को मण्डलाकार करेगा और 'चन्द्रक-यन्त्र' का वेध करेगा, वही द्रौपदी का पति होगा।'

इस घोषणा को सुनकर वहाँ आये सब राजा गोलाकार होकर धनुष के चारों ओर खड़े हो गये। लेकिन देवों से अधिष्ठित उस धनुषयष्टि की तरफ कोई आँख भी न उठा सका। उसे छूना और खींचना तो दूर रहा।

जब सब परास्त हो गये तब अपने नाम के ही अनुरूप ऋजु अर्जुन उठे और उस धनुषयष्टि को क्षणभर देखकर उसे उठाकर इस तरह खींचा कि वह सती स्त्री की तरह उनके वशीभूत हो गयी। जब अर्जुन ने उस पर प्रत्यंचा चढ़ायी और उसे

टनकारा, तो उसके प्रचण्ड शब्द से राजाओं के कान बहरे हो गये।

तीक्ष्ण तेजस्वी पार्थ को देखकर कर्ण, दुर्योधन के मन में यह सन्देह हुआ—'कहीं स्वाभाविक ऐश्वर्यों को धारण करनेवाला अर्जुन ही तो यहाँ अपने भाइयों के साथ फिर उत्पन्न नहीं हो गया है?'

वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अर्जुन को छोड़कर और कौन धनुर्धारी इस तरह खड़ा हो सकता है? इसकी दृष्टि, इसकी मुट्ठी और इसकी कुशलता सभी आश्चर्यजनक हैं।'

ये सब राजा इस तरह सोच-विचार में पड़े थे कि अर्जुन प्रत्यंचा पर बाण रख चलते हुए चक्र पर चढ़ गया और सबके देखते-देखते उसने चन्द्रक-यन्त्र बेध दिया।

उसी समय द्रौपदी ने अर्जुन की झुकी हुई सुन्दर ग्रीवा में वरमाला डाल दी। अर्जुन के पास खड़ी द्रौपदी ऐसी लग रही थी, मानो किसी सुरभित, फलों से नम्र, अत्यन्त उन्नत वृक्ष से लिपटने के लिए आतुर पुष्पित लता हो। कुशल अर्जुन नूपुरों की धीरध्वनि करती द्रौपदी को सब अनीतिज्ञ राजाओं के आगे से माता कुन्ती के पास ले चला। युद्ध करने के लिए तत्पर राजाओं को नीतिज्ञ द्रुपद ने रोका भी, लेकिन कितने ही राजा अर्जुन के पीछे लग गये। लेकिन धनुर्धारी अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न ने उनका रास्ता दोनों तरफ इस तरह रोक दिया कि न वे आगे बढ़ सके और न पीछे लौट सके।

अर्जुन द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न के रथ पर सवार था। उसने अनुकूल अवसर जान अपने नाम से अंकित समस्त सम्बन्धों को सूचित करनेवाला बाण द्रोणाचार्य की गोद में फेंका। द्रोण, अश्वत्थामा, भीष्म और विदुर ने जब उस बाण पर अर्जुन का नाम और सबके सम्बन्धों का परिचय पढ़ा तो वे हर्ष-गद्गद होकर उठ खड़े हुए। राजा द्रुपद को जब पता लगा कि पाण्डवों में अप्रतिम वीर अर्जुन ने उनकी कन्या को स्वयंवर में जीता है, तो वे अन्य कुटुम्बियों के साथ आनन्द और उल्लास मनाने लगे। माकन्दी नगरी उत्सवसूचक शंख और बाजों की ध्वनि से गूँज उठी।

भाइयों के इस समागम पर दुर्योधन आदि कौरवों ने भी ऊपरी स्नेह दिखाया और पाँचों पाण्डवों का अभिनन्दन किया। जिस तरह तेल से भरी दीपिका किसी के हाथ में होने से और भी अधिक प्रकाशित होने लगती है, वैसे ही स्नेह से भरी द्रौपदी अर्जुन के पाणिग्रहण से अत्यन्त देदीप्यमान होने लगी।

अन्य राजागण द्रौपदी और अर्जुन का विवाह-मंगल देख अपने-अपने राज्यों को लौट गये। दुर्योधन भी पाण्डवों को साथ लेकर हस्तिनापुर पहुँच गया। भीष्म, द्रोण,

जरासन्ध आदि ने बीच में पड़कर फिर इनकी सन्धि करा दी और कौरव तथा पाण्डवों में आधे-आधे राज्य का बँटवारा हो गया।

युधिष्ठिर ने अज्ञातवास में जिन कन्याओं को हृदय में स्वीकार किया था—तपस्विनी कुसुमकोमला, प्रचण्डवाहन की श्राविका बनी गुणप्रभा आदि दस कन्याएँ एवं नगरसेठ की अणुव्रत धारण करनेवाली कन्या नयनसुन्दरी—उन सबसे विवाह कर उन्हें सुखी किया और भीम भी दिशानन्दा और हृदयसुन्दरी के साथ मिलनोत्सव मनाने लगा।

द्रौपदी अर्जुन की स्त्री थी। युधिष्ठिर और भीम उसे बहू की तरह देखते थे और नकुल तथा सहदेव उसे माता के समान मानते थे। द्रौपदी भी युधिष्ठिर और भीम में पाण्डु की तरह श्वसुरभाव रखती थी और नकुल-सहदेव को छोटे देवरों की तरह स्नेह करती थी।

कुछ लोग शुद्ध आचारनिष्ठ मनुष्यों की भी निन्दा करते हैं। उनके इस पाप का निवारण कौन कर सकता है? जिस समय द्रौपदी ने अर्जुन को वरमाला पहनायी थी, उस समय बड़ी तेज हवा चल रही थी, इसलिए हवा के झोंके से टूटकर वह माला खड़े पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़ी थी। इसे देख किसी मनचले अविवेकी राजपुत्र ने शोर मचा दिया था, "अरे द्रौपदी ने तो पाँच कुमारों को वरा है।"

यही घटना एक अपवाद के रूप में प्रचलित हो गयी। ऐसा कहा जाता है कि किसी में दोष हो, तो भी उसे मत कहो। वह भी पाप का कारण होता है। फिर दोष के न होने पर उसकी चर्चा करना तो कितने भारी पाप का कारण होता होगा। पाप को कहना और सुनना निश्चित ही अश्रेय के लिए है। अगर उसका फल तत्काल नहीं मिलता तो कालान्तर में अवश्य ही मिलता है। पाण्डव महापुरुषों की कोटि में स्थित थे। द्रौपदी सती-साध्वी स्त्री थी। इनके बारे में किसी भी प्रकार का दोष लगाना घोर पतन का कारण है। मिथ्या वचन हमेशा ही कष्ट का कारण होता है। इसलिए यश से उज्ज्वल सत्य वचन का ही पालन सदा करना चाहिए।

पर्वतों की तरह धीर-वीर पाण्डव हस्तिनापुर में सुख से रह रहे थे। श्रेष्ठ विभूतियों से नित्य उत्कर्ष को प्राप्त हो रहे उन पाँचों भाइयों को देखकर कौरव फिर विचलित हो गये। उन्होंने सन्धि की मर्यादा तोड़ दी और शकुनि के साथ जुए का षड्यन्त्र रचकर युधिष्ठिर को जीत लिया।

विजयी दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा, "युधिष्ठिर, तुम सत्यवादी हो। तुम्हारी प्रतिज्ञा कभी मिथ्या नहीं होती, इसलिए तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यहाँ से भाइयों के साथ चले जाना चाहिए और छिपकर ऐसी जगह रहना चाहिए, जहाँ

तुम्हारा नाम भी सुनाई न दे।''

दुर्योधन की बात सुनकर भीम, अर्जुन क्रोधित हो उठे। लेकिन युधिष्ठिर ने उन्हें शान्त कर दिया और बारह वर्ष की अवधि के लिए सब राजपाट छोड़ अज्ञातवास का नियम लेकर हस्तिनापुर से बाहर निकल गये।

जैसे चाँदनी चन्द्रमा के पीछे-पीछे चलती है, उसी तरह प्रेम और हर्ष से भरी द्रौपदी अर्जुन के पीछे-पीछे चलने लगी।

एक-दूसरे के हित में लगे, धैर्य और शक्ति के भण्डार वे श्रेष्ठ पुरुष अनेक स्थानों में घूमते हुए कालांजला नाम की अटवी में पहुँचे। उस समय वहाँ सुतार नाम का विद्याधर अपनी कुसुमावली नाम की विद्याधरी के साथ क्रीड़ा कर रहा था। वह शावरी विद्या से सम्पन्न था और स्त्री सहित सुन्दर किरात वेश रखे हुए था। धनुर्धारी अर्जुन ने किरात वेशधारी धनुर्धारी उस विद्याधर को देखा। एक-दूसरे पर दृष्टि पड़ते ही उनमें भयंकर युद्ध होने लगा। सारी दिशाएँ दिव्य बाणों से आच्छादित हो गयीं। इसके बाद उनमें बाहुयुद्ध हुआ। अर्जुन ने मजबूत मुट्ठी बाँधकर उस बलवान विद्याधर की छाती पर बड़ी जोर से प्रहार किया। यह देख विद्याधरी कुसुमावली घबरा गयी और अर्जुन से पति के प्राणों की भिक्षा माँगने लगी। अर्जुन ने उसे छोड़ दिया और वह विजयार्ध पर्वत की दक्षिणी श्रेणी में चला गया।

इसके बाद वे धीर-वीर पाण्डव मेघदल नगर में पहुँचे, जहाँ राजा सिंह राज्य करता था। उसकी स्त्री कनकमेखला से पुत्री कनकावर्ता का जन्म हुआ था। यह कन्या अत्यन्त सुन्दरी और सौभाग्यशालिनी थी। इसी नगर में एक सेठ भी था, जिसके चारुलक्ष्मी नाम की कन्या थी। भिक्षा के लिए गये हुए भीम ने इन दोनों कन्याओं को प्राप्त किया था।

कुछ दिन इस नगर में विश्राम करके वे सौम्य पुरुष कोसल देश गये। वहीं से वे रामगिरि पर्वत पर गये। यहाँ राम और लक्ष्मण ने निवास किया था। इस पर्वत पर रामचन्द्र ने सैकड़ों जिनमन्दिर बनवाये थे, जो अब भी चाँद और सूरज की तरह दमक रहे थे। अनेक देशों से आये श्रद्धालु प्राणी इन मन्दिरों में प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमाओं की पूजा किया करते थे। पाण्डवों ने भी भक्तिपूर्वक उन प्रतिमाओं की वन्दना की।

और उस पर्वत पर स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए तथा कभी भी सुख से अलगाव का अनुभव न करते हुए ग्यारह बरस बिता दिये।

पाण्डवों के अज्ञातवास का एक वर्ष शेष रह गया था। रामगिरि पर्वत के लतामण्डपों को अपनी उदात्त चेष्टाओं का साक्षी बनाकर पाण्डव विराट नगर में

पहुँचे। वहाँ का राजा विराट था और उसकी रानी का नाम था सुदर्शना। प्रमादरहित पाण्डव और अत्यन्त कुशल द्रौपदी अपने आपको छिपाकर विराट नगर में रहने लगे। राजा विराट से सम्मान पाकर उनका समय सुख से बीतने लगा।

तभी एक घटना घटी। रानी सुदर्शना के भाइयों में से बड़ा भाई कीचक बहन को देखने के लिए विराट नगर आया। यह राजा चूलिक का पुत्र था और स्वभाव से ही क्रूर कर्म करनेवाला और रूप-यौवन, शौर्य तथा धन के मद से मतवाला था। उसने किसी समय द्रौपदी को देख लिया। उस समय द्रौपदी ने कोई सुगन्धित द्रव्य लगाया था, और वह अनुपम रूप, लावण्य और सौभाग्य के साथ मिली उस सुगन्ध से दिशाओं को व्याप्त कर रही थी।

कीचक बड़े अभिमानी स्वभाव का था, पर द्रौपदी को देखते ही उसका सारा मान गल गया और वह दीन होकर मन ही मन द्रौपदी की याचना करने लगा। उसका मन द्रौपदी के साथ तन्मय हो गया था कि वह जहाँ भी जाता, वहाँ उसी के ध्यान में डूबा रहता था। कीचक ने अनेक उपायों से द्रौपदी को लुभाने का प्रयत्न किया और दूसरों के द्वारा भी उसे प्रलोभन दिखलाये, लेकिन वह उसके हृदय में कोई स्थान न बना सका। द्रौपदी उसे तिनके की तरह तुच्छ समझती थी और उसे मना भी कर चुकी थी। लेकिन वह अपनी धृष्टता नहीं छोड़ता था। हारकर उसने एक दिन ज्येष्ठ भीम से कीचक की शिकायत कर दी। फिर क्या था, भीम का हृदय क्रोध से उबल उठा और वे कामातुर कीचक को सबक सिखाने के लिए तैयार हो गये।

भीम के कहने पर द्रौपदी ने कीचक को शाम के समय किसी एकान्त स्थान में आने का संकेत दे दिया, लेकिन वहाँ द्रौपदी के बदले पहुँचे भीम, शैलन्ध्री का वेश रखकर। कामातुर कीचक भी उस संकेत-स्थान पर उसी तरह पहुँच गया, जैसे हथिनी के स्पर्श से अन्धा हाथी बन्धन-स्थान में स्वयं आ जाता है। आनन्द के अतिरेक से कीचक की आँखें मुँदी हुई-सी थीं। स्त्री वेशधारी भीम ने उसका आलिंगन किया और उसे पटककर उसकी छाती पर चढ़ गये। उन्होंने मजबूत मुक्कों के प्रहार से उस पहाड़ जैसे कीचक को चूर-चूर कर दिया। फिर कुछ दया धारण कर बोले, "अरे पापी, जा!" और उसे छोड़ दिया।

परस्त्री-विषयक आकांक्षा और विषयमात्र पर ऐसा प्रत्यक्ष फल देखकर कीचक को वैराग्य हो गया और उसने रतिवर्धन मुनि से दीक्षा ले ली।

इधर कीचक के भाइयों ने जब कीचक को नहीं देखा, तो वे बहुत घबराये और सब जगह कीचक की खोज करने लगे, लेकिन कीचक कहीं नहीं दिखा। तभी उन्होंने एक जलती हुई चिता देखी। किसी ने बता दिया कि यह कीचक की चिता है। सुनकर वे भाई दुख और क्रोध से पागल हो गये। शैलन्ध्री (द्रौपदी) को ही

इस सारे विनाश का कारण मान उसे भी चिता में जलाने का उपक्रम करने लगे। लेकिन भीम ने उनके उन्माद को ठण्डा कर दिया और उन सबको एक-एक कर चिता में होम दिया।

इधर कीचक मुनि अनुप्रेक्षाओं के द्वारा आत्मचिन्तन करने लगे। वे शास्त्रों का स्वाध्याय करते और भावशुद्धि के द्वारा रत्नमय की शुद्धि का प्रयत्न करते। एक दिन ये मुनि पद्मासन लगाये एकान्त में बैठे थे कि तभी एक यक्ष ने उन्हें देखा। उनकी परीक्षा करने के लिए वह यक्ष आधी रात के समय द्रौपदी का रूप रख उनके पास पहुँचा और कामजनित चेष्टाएँ करने लगा। लेकिन कीचक मुनि उसके रूप के प्रति अन्धे बने रहे और उसकी मधुर वाणी के प्रति बहरे हो गये। जितेन्द्रिय कीचक मुनि को उसी समय अवधिज्ञान प्राप्त हो गया।

जब उनका ध्यान समाप्त हुआ तो यक्ष ने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बार-बार क्षमा माँगी। उसने नमस्कारपूर्वक मुनि के सामने अपना प्रश्न रखा, ''द्रौपदी के प्रति आपके मोह का क्या कारण था, क्योंकि मोह अकारण तो हो नहीं सकता।''

तब मुनिराज कीचक ने नम्र हुए यक्ष को अपने पूर्वजन्मों की कथा सुनायी :

''जहाँ वेगवती नदी का संगम होता है, उस तरंगिणी नदी के तट पर कभी मैं क्षुद्र नाम का म्लेच्छ था। मनुष्यों का वैरी था और क्रूर कर्म किया करता था। एक बार मुझे मुनिराज के दर्शनों का सौभाग्य मिला। उन्हें देखते ही मेरा हृदय शान्त हो गया और मेरा अगला जन्म वैश्यकुल में हुआ। इस जन्म में मेरे पिता का नाम धनदेव और माता का नाम सुकुमारिका था। मुझे लोग कुमार देव कहते थे। एक बार मेरी माँ ने भोजन में विष देकर सुव्रत मुनि को मार डाला। उसके फलस्वरूप उस पापिनी को नरक मिला और वहाँ अनेक दुख भोगकर वह इस पृथिवी पर भी क्षुद्र गति को प्राप्त हुई। मैं भी पाप-पवन से प्रेरित था, इसलिए क्षुद्र जीवदशा को भुगतता रहा। इसके बाद मेरा जन्म एक तपोवन में हुआ। तपस्वी सित मेरे पिता थे और तापसी मृगशृंगिणी मेरी माता थी। मुझे मधु नाम मिला था। उस आश्रम में मैं बड़ा होने लगा। वहाँ मैंने एक श्रावक को किन्हीं मुनिराज को आहार का दान देते हुए देखा। उसके माहात्म्य से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैंने दीक्षा ले ली और पुण्य के कारण स्वर्ग गया। वहाँ से च्युत होकर मैं कीचक हुआ हूँ। माता सुकुमारिका ने अनुमतिका नाम की स्त्री होकर अनेक दुख भोगे और अन्त में, निदानयुक्त तप करने के कारण द्रौपदी बनकर जन्मी। पूर्वजन्म के सम्बन्ध-संस्कार के कारण ही मुझे उसमें मोह हो गया था।''

कीचक मुनि यक्ष से बोले, ''देखो, माता बहन हो जाती है, पुत्री स्त्री हो जाती है और स्त्री माता, बहन, पुत्री बन जाती है। संसारचक्र के साथ यह व्यतिक्रम होता रहता है। इस विचित्रता को समझकर कितने भी महान विषय में आसक्त नहीं होना

चाहिए और तप करते हुए मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।''

कीचक मुनि के वचन सुनकर यक्ष ने अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन से अलंकृत किया और हर्षपूर्वक मुनि को नमस्कार करके वन में अन्तर्हित हो गया।

इधर पाण्डवों के अज्ञातवास की अवधि पूरी हो चुकी थी। वे अन्तराल रूप भयानक वन से बाहर निकल आये थे और उन्होंने अपनी मर्यादा को हमेशा अखण्ड रखा था।

हस्तिनापुर लौटकर वे मूर्तिमान नयों के समान अपने पिता पाण्डु के भवन में एकत्रित हुए। युधिष्ठिर की आज्ञा से छोटे चारों भाइयों ने युद्ध में दुर्योधन का साथ दिया और मुनियों की तरह सबके इष्ट बनकर रहने लगे। वे सर्वहितकारी मेघों की तरह सबके मनोरथों को पूर्ण करते थे और निर्वैर रहकर सबका हित करने में तत्पर रहते थे।

दुर्योधन के मन में अब भी मैल था। भला इधर-उधर बहनेवाले पानी में स्वच्छता रह सकती है? ये सौ के सौ भाई ऊपर से तो पाण्डवों को प्रसन्न रखते थे, लेकिन अन्दर ही अन्दर इन्हें पराजित करने के उपाय सोचते रहते थे। इन्होंने पहले की तरह फिर से सन्धि में दोष बताना शुरू कर दिया। भीम और अर्जुन फिर उत्तेजित हुए, लेकिन युधिष्ठिर ने फिर शान्ति का मार्ग अपनाया और वे माता तथा स्त्री-भाइयों सहित दक्षिण दिशा की तरफ चले गये।

चलते-चलते पाण्डव विन्ध्यवन में पहुँचे। वहाँ विदुर एक आश्रम बनाकर तपस्या कर रहे थे। युधिष्ठिर ने सब भाइयों के साथ उन्हें नमस्कार किया और बोले, ''हे पूज्य, आपका जन्म सफल है, जो आपने सम्पदाओं को छोड़कर जिनेन्द्र द्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्ग अपनाया है। निर्मल सम्यग्दर्शन, समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान और व्रत, गुप्ति, समिति से युक्त यह मार्ग इन्द्रिय और कषाय को जीतनेवाले संयम का निरूपण करता है। इस मार्ग में स्थिर होकर आप जैसे महात्मा जल्दी ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।''

इस तरह विदुर मुनि का स्तवन कर युधिष्ठिर सपरिवार आगे बढ़े और द्वारिका पहुँच गये। यादवों को जब पाण्डवों के आगमन का समाचार मिला तो उन्होंने इनका बड़ा स्वागत किया। समुद्रविजय, वसुदेव आदि भाइयों ने बहन कुन्ती और भानजों को बहुत समय बाद देखा था। इसलिए वे बहुत ही प्रसन्न हुए। भगवान नेमिनाथ, कृष्ण, बलदेव—सभी यादव कुमार और राज-स्त्रियों तथा प्रजा के लोगों ने बहुत आनन्द मनाया। स्वजनों का यह मिलन सभी के लिए परम सुखकारी हुआ। यादवों और पाण्डवों का मिलन क्या हुआ, वे ऐसा मानने लगे कि दुर्योधन आदि शत्रुओं

ने उनका अपकार नहीं, बल्कि उपकार किया है।

श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण भोग-सामग्रियों से भरे पाँच महल पाँचों पाण्डवों को दिये और पाँचों भाइयों को यादवकुल की श्रेष्ठ कन्याएँ—युधिष्ठिर को लक्ष्मीमती, भीम को शेषवती, अर्जुन को सुभद्रा, सहदेव को विजया और नकुल को रति—अर्पित कीं। इन सुन्दर कन्याओं से विवाह कर देवोपम पाण्डव द्वारिका में सुखपूर्वक रहने लगे।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

इधर कोई वणिक् सौदागर खरीदे हुए माल को बेचने के लिए बहुत-सी अमूल्य मणियाँ लेकर राजा जरासन्ध के पास आया। उन मणियों की गुणवत्ता देखकर चक्रवती जरासन्ध भी चुँधिया गया।

उसने सौदागर से पूछा, ''ये मणियाँ तुम कहाँ से लाये हो?''

उत्तर में व्यापारी बोला, ''महाराज, ये मणियाँ मैं महाप्रतापी राजा कृष्ण की नगरी द्वारिका से लाया हूँ। जब यादव-कुल में महाराजा समुद्रविजय की शिवादेवी रानी के नेमिकुमार तीर्थंकर का जन्म हुआ था, तब देवताओं ने पन्द्रह माह तक रत्नों की वर्षा की थी। उन्हीं रत्नों में से ये रत्न मैं आपके पास लाया हूँ।''

सौदागर के मुख से यादवों का ऐसा माहात्म्य सुनकर जरासन्ध क्रोध से लाल-पीला हो गया। कृष्ण का नाम महागुण की किरणों से चमक रहा था, मणियों की राशि की तरह देदीप्यमान था और सारे जगत् में अद्वितीय वीर के रूप में प्रख्यात था। अनेक युद्धों में उत्कृष्ट पराक्रम के प्रतीक कृष्ण का गौरव सुनते ही जरासन्ध की शान्ति भंग हो गयी। वह यादवों को फलता-फूलता देख सन्धि से विमुख हो गया और मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करने लगा।

उसने कड़कती आवाज में पूछा, ''मन्त्रियो, यह तो बताओ, समुद्र की उठी हुई लहरों की तरह नाशवान वे शत्रु आज तक अनदेखे कैसे रह गये? गुप्तचरों की आँख से देखनेवाले राजा के लिए मन्त्री ही 'चक्षु' कहे गये हैं, फिर आपने मुझे और अपने-आपको धोखा कैसे दिया? अगर ऐश्वर्य-उन्मत्त होकर मैंने उन शत्रुओं को नहीं देखा, तो वे आप लोगों से अदृष्ट कैसे रह गये? अगर शत्रुओं को पैदा होते ही प्रयत्नपूर्वक नहीं मार दिया जाता, तो वे महामारियों के समान दुःख देते हैं और उनका अन्त अच्छा नहीं होता।

वे दुष्ट यादव मेरे जमाई कंस और भाई अपराजित को मारकर समुद्र में घुस गये हैं। यह सही है कि वे प्रवेश करने में मुश्किल समुद्र के मध्य में बनी द्वारिका

में रह रहे हैं, फिर भी किसी उपाय से उन्हें मछलियों की तरह जल से बाहर लाकर मारना होगा। वे तभी तक निर्भय थे, जब तक मुझे उनका पता नहीं था, लेकिन अब मेरे क्रोध की आग प्रज्वलित हो गयी है। अब वे सुख से नहीं रह सकते। अब साम दाम से काम नहीं चलेगा, भेद और दण्ड से भी उन्हें ठिकाने लगाना है।''

राजा जरासन्ध ने अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया था। उसे किसी तरह शान्त कर मन्त्रियों ने नम्र होकर कहा, ''हम द्वारिका में यादवों के उत्कर्ष से परिचित थे, फिर भी जो चुप रहे, उसका कारण बताते हैं—

''यादवों के वंश में उत्पन्न श्री नेमिकुमार तीर्थंकर, श्रीकृष्ण और बलदेव—ये तीनों इतने शक्तिशाली हैं कि मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवता भी उन्हें नहीं जीत सकते। स्वर्गावतार के समय जो रत्नवर्षा से पूजित हुआ था, सुमेरुपर्वत पर इन्द्रों ने जिसका जन्म-अभिषेक किया था, जो देवों द्वारा सदा रक्षित है, उस नेमि जिनेन्द्र को आप युद्ध में कैसे जीत सकते हैं? और पृथिवी के समस्त राजा भी एकत्रित होकर उसे कैसे जीत सकते हैं? कंस, चाणूर, कालयवन, अपराजित तथा शिशुपाल के साथ जो युद्ध हुए, उनमें श्रीकृष्ण और बलदेव की लोकोत्तर सामर्थ्य प्रमाणित हो चुकी है।

अपने प्रताप से यशस्वी बने महापराक्रमी पाण्डव उनके पक्ष में हैं और विवाह-सम्बन्धों के द्वारा अनुकूलता दिखलानेवाले अनेक विद्याधर उनका समर्थन करते हैं। यादवों के साढ़े तीन करोड़ कुमार रणविद्या में कुशल हैं, उन्हें कैसे जीता जा सकता है?

इसके अलावा, हमें यह भी नहीं समझना चाहिए कि यादव हमसे भयभीत होकर समुद्र-मध्य में जा बसे हैं। भाग्य और समय दोनों की ही शक्ति उनके साथ है। वे सोते हुए सिंह के समान हैं, हमें उन्हें छेड़ना नहीं चाहिए। वे सुखपूर्वक द्वारिका में रहें, हम यहाँ सुख से अपना जीवन व्यतीत करें, यही इष्ट है।

महाराज, जिसमें स्व और पर दोनों का सुख हो, वही व्यवस्था प्रशंसनीय है। हाँ, इतना निश्चित है, आपके इस तरह शान्त रहने पर भी, यदि वे क्रोध करते हैं, तो हम उनका प्रतिकार पुरुषार्थ से करेंगे।''

मन्त्रियों के ये हितकारी और सत्यवचन जरासन्ध को प्रभावित नहीं कर सके। यादवों के विनाश के लिए उसकी हठ वैसी ही बनी रही। जब अपने नष्ट होने का समय आता है, तो बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है।

राजा जरासन्ध ने किसी की भी बात न मानी और अपने दूत अजितसेन को यादवों के क्रोध को बढ़ावा देने के लिए द्वारिका भेज दिया। उसने चारों दिशाओं के आज्ञाकारी राजाओं को युद्ध के लिए तैयार होने को कहा और चतुरंग सेना के साथ आने की आज्ञाएँ भेंजी।

शीघ्र ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पार्वत्य एवं मध्य देशों के निवासी राजा जरासन्ध की सेवा के लिए आ पहुँचे। हस्तिनापुर से सत्यप्रतिज्ञ कर्ण और दुर्योधन भी जरासन्ध के पास राजगृह पहुँच गये।

अनेक बलवान राजाओं और पुत्रों से घिरा जरासन्ध यादवों को जीतने की इच्छा से चल पड़ा। मार्ग में अनेक अशुभ सूचक निमित्त हुए, लेकिन जरासन्ध ने किसी की भी परवाह न की और समुद्र की तरह क्षोभ को प्राप्त विशाल सेना के साथ आगे बढ़ता गया।

उधर स्वामी के कार्य को समझनेवाला दूत अजितसेन भी सुन्दर द्वारोंवाली द्वारिका नगरी में जा पहुँचा। द्वारिका की आश्चर्यजनक रचना की मन ही मन सराहना करता वह दूत अनेक द्वारों को पार करता और अनेक लोगों की दृष्टि का लक्ष्य बनता हुआ महाप्रासाद में पहुँच गया। उसने द्वारपाल से सूचना भिजवायी और अनुमति पाकर विशिष्ट यादवों, भोजवंशियों और पाण्डवों से भरी श्रीकृष्ण की सभा में प्रवेश किया। महाराज श्रीकृष्ण तथा अन्य महानुभावों को प्रणाम करके वह दिये हुए आसन पर बैठ गया और अपने स्वामी के बल से बलवान होकर घमण्ड के साथ बोला :

"राजाधिराज महाराज जरासन्ध जो आज्ञा देते हैं, उसे समस्त यादव एकाग्रचित्त होकर सुनें। उन्होंने पूछा है कि मैंने तुम्हारा क्या अनिष्ट किया है, जो तुम लोग भयभीत होकर समुद्र के बीच में जा बसे हो। वैसे यह सच है कि अपराधी होने के कारण भयभीत होकर तुम लोगों ने दुर्ग का आश्रय लिया है, फिर भी तुम्हें मुझसे भय नहीं है, तुम लोग आओ और मुझे नमस्कार करो।

अगर दुर्ग का बल पाकर तुम लोग मुझे नमस्कार किये बिना रहते रहोगे, तो मैं समुद्र को पीकर अपनी सेनाओं से तुम्हारी दुर्गति कर दूँगा। जब तक मुझे तुम्हारे यहाँ रहने का पता नहीं था, तभी तक तुम्हारा बल बल था, पर आज पता लग जाने पर तुम्हारा बल बल नहीं रहा।"

दूत के वचन सुनकर श्रीकृष्ण अन्य समस्त राजाओं के साथ क्रुद्ध हो उठे और कुटिल भौंहों से कुंचित मुख करके बोले, "दूत, तुम्हारे राजा की मृत्यु निकट आ पहुँची है। सेना के साथ आ रहे उस जरासन्ध का हम युद्ध से सत्कार करेंगे?"

यादवों ने दूत को विदा किया और दूत उनके रूखे वचनों से पराभव अनुभव करता हुआ राजा जरासन्ध के पास आया और सारा समाचार कह सुनाया।

इधर महाराजा समुद्रविजय के नीतिनिपुण विमल, अमल और शार्दूल आदि मन्त्रियों ने आपस में सलाह की और अपने राजा से कहा :

''महाराज, क्योंकि सामनीति अपने पक्ष और शत्रुपक्ष दोनों के लिए ही हितकारी है, इसलिए हम लोग जरासन्ध के साथ साम का प्रयोग ही करें तो अच्छा है। युद्ध में जो भी भाग लेंगे, वे सब स्वजन हैं। युद्ध में इनकी कुशलता का कौन वचन भर सकता है? जिस तरह हमारी सेना में अमोघ बाणों की वर्षा करनेवाले योद्धा हैं, वैसे ही जरासन्ध की सेना भी धनुर्धरों के लिए प्रसिद्ध है। युद्ध में एक भी स्वजन की मृत्यु होने पर दोनों ही पक्षों को दुख होगा, इसलिए साम को ही प्रशंसनीय उपाय मानकर शान्ति के लिए जरासन्ध के पास दूत भेजना हर तरह से अच्छा है। फिर भी अगर उसने अशान्ति बरती, तो हम लोग भी तब उसके अनुरूप कार्य करेंगे।''

मन्त्रियों की मन्त्रणा सुन समुद्रविजय ने कहा, ''क्या दोष है, दूत भेजा जाए!''

सबकी सलाह से उन्होंने कुमार लोहजंघ को दूत बनाकर भेज दिया। लोहजंघ बहुत ही चतुर, शूरवीर और नीतिज्ञ था। वह अपनी सेना ले जरासन्ध के साथ सन्धि करने चला।

पूर्वमालव देश में पहुँचकर उसने एक वन में अपनी सेना का पड़ाव डाला। उस वन में दो मुनि तिलकानन्द और नन्दन साथ-साथ विचरण कर रहे थे। वे दोनों मुनि एक माह के उपवासी थे और यह नियम लेकर विहार कर रहे थे कि वन में आहार मिलेगा तो लेंगे, अन्यथा नहीं। कुमार लोहजंघ ने उन्हें देखा और आहार दिया। फलस्वरूप उसने पंच आश्चर्य प्राप्त किये।

उसी समय से वह स्थान तीर्थ बन गया कौर पृथ्वी पर 'देवावतार' नाम से जाना जाने लगा। हजारों प्राणी वहाँ जाकर अपनी पाप-शान्ति का उपाय करते हैं।

लोहजंघ जरासन्ध से मिला। जरासन्ध सन्धि करने के पक्ष में नहीं था, लेकिन चतुर दूत लोहजंघ ने उसे एकान्त में समझाया। लोहजंघ की बातों से जरासन्ध बहुत प्रसन्न हुआ और उसने छः माह के लिए सन्धि स्वीकार कर ली।

राजा जरासन्ध से सम्मानित होकर दूत द्वारिका लौट आया और समुद्रविजय आदि को सुख-समाचार सुना दिया।

युद्ध की तैयारी का ध्यान रख यादवों ने एक वर्ष शान्ति से बिता दिया। उधर जरासन्ध युद्ध के लिए उत्सुक हो उठा और बड़े-बड़े सामन्तों और राजाओं से युक्त अपनी समुद्र जैसी विशाल सेना से दिशाओं को कँपाता हुआ कुरुक्षेत्र के मैदान में आ पहुँचा। उधर श्रीकृष्ण भी सेनारूपी अनेक नदियों से भरे हुए दूसरे समुद्र के

समान पहले ही वहाँ आकर जमे हुए थे।

उस समय सभी दिशाओं के सम्बन्धी राजाओं ने आकर कृष्ण के प्रति अपनी मैत्री का प्रमाण दिया। दसों भाई, भोज और पाण्डव आदि बन्धु वहाँ पहले से उपस्थित थे ही।

राजा समुद्रविजय एक अक्षौहिणी सेना के स्वामी थे। राजा उग्रसेन और इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजा मेरु भी एक अक्षौहिणी सेना के स्वामी थे। राष्ट्रवर्धन देश का राजा आधी अक्षौहिणी सेना के अधिपति था। शकुनि का पराक्रमी भाई चारुदत्त एक चौथाई अक्षौहिणी सेना का स्वामी था और कृष्ण के हित में सदा तत्पर रहता था। ये सब और बर्बर, यवन, आभीर, काम्बोज और द्रविड़ देशों के शूरवीर राजा भी श्रीकृष्ण की मैत्री के कारण उनकी सेना में आ मिले थे।

चक्ररत्न के प्रभाव से भरतक्षेत्र को वशीभूत करनेवाले राजा जरासन्ध को भी अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ प्राप्त थीं और अनेक शूरवीर राजा उसके पक्ष से लड़ने के लिए आये हुए थे।

अनेकअतिरथी, महारथी, समरथी और रथी राजा दोनों ही सेनाओं में मौजूद थे। यादवों में कुमार नेमि, बलदेव और श्रीकृष्ण अतिरथी थे। उस समय भारतवर्ष में जितने भी अतिरथी थे, उनमें ये तीनों सबसे श्रेष्ठ थे। राजा समुद्रविजय, वसुदेव, युधिष्ठिर, भीम, कर्ण, अर्जुन, रुक्मी, प्रद्युम्न, सत्यक, धृष्टद्युम्न, अनावृष्टि, शल्य, भूरिश्रवा, हिरण्यनाभ, सहदेव और सारण महारथी थे। ये सभी शस्त्र और शास्त्र में निपुण, निस्पृह, दयालु, महाशक्तिशाली और धैर्यवान थे।

समुद्रविजय और वसुदेव के अलावा अन्य आठ भाई—शम्ब, भोज, विदूरथ, द्रुपद, सिंहराज, शल्य, वज्र, सुयोधन, पौण्ड्र, पद्मरथ, कपिल, भगदत्त और क्षेमधूर्त आदि योद्धा समरथी थे। ये युद्ध में समान शक्ति को धारण करते थे। महानेमि, धर, अक्रूर, निषध, उल्मुक, दुर्मुख, कृतवर्मा, विराट, चारुकृष्ण, शकुनि, यवन, भानु, दुश्शासन, शिखण्डी, सोमदत्त, देवशर्मा, वक, वेणदारी और विक्रान्त आदि राजा अर्धरथी थे। ये आश्चर्यजनक युद्ध करनेवाले और धीर-वीर थे। इनके अलावा सभी राजा रथी कहलाते थे।

क्षुब्ध महासमुद्रों की तरह जब दोनों की सेनाएँ पास-पास आ गयीं तो कुन्ती बहुत घबरायी। युद्ध आरम्भ होने से पहले उसने कर्ण से मिलना चाहा और अपने पुत्रों की स्वीकृति लेकर कर्ण के पास गयी।

इस समय कुन्ती की भावदशा विचित्र हो रही थी। उसका शरीर कम्पित और विवश था और हृदय कन्या-अवस्था के पुत्र कर्ण के ऊपर अपार स्नेह के कारण टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा था। उसने देखते ही कर्ण को गले से लगा लिया और रो-रोकर उसके जन्म का और अपने माता-पुत्र सम्बन्ध का सारा वृत्तान्त कह

सुनाया। कुन्ती ने यह भी बताया कि मैंने तुझे उत्पन्न होते ही लोकलाज के भय से कम्बल में लपेटकर छोड़ दिया था।

कर्ण कम्बल के वृत्तान्त को जानता था और यह भी जानता था कि उसका जन्म कुरुवंश में हुआ है। कुन्ती के कहने से भी उसे निश्चय हो गया कि वह पाण्डु और कुन्ती का पुत्र है और युधिष्ठिर आदि उसके छोटे भाई हैं।

कर्ण ने अपनी स्त्रियों को बुलाया और सबके साथ कुन्ती की पूजा की।

कुन्ती ने पुत्र के प्रति आदर दिखाते हुए कहा, "बेटा, उठ, वहाँ चलें, जहाँ तेरे सब भाई और श्रीकृष्ण आदि आत्मीयजन तेरे लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं।"

कुन्ती ने आर्द्र स्वर में फिर कहा, "पुत्र, इस समय पृथिवी पर कुरुओं का स्वामी तू ही है। तू राजा है। युधिष्ठिर तेरे ऊपर छत्र लगाएगा। भीम चँवर डुलाएगा। अर्जुन मन्त्री होगा और सहदेव और नकुल तेरे द्वार के प्रहरी होंगे और कर्ण, निरन्तर तेरा हित करने में तत्पर मैं तेरी माँ हूँ ही।"

माता कुन्ती के ये वचन सुनकर कर्ण भाइयों के स्नेह से विवश हो गया। पर तभी उसे वे उपकार याद आये, जो जरासन्ध ने उसके ऊपर किये थे। अपनी स्वामिभक्ति याद आयी और सामने खड़ा स्वामी का कार्य याद आया

वह अपने कर्तव्य का विचार कर कुन्ती से बोला, "माँ, लोक में माता-पिता और भाई-बन्धु अत्यन्त दुर्लभ हैं, फिर भी अवसर आने पर स्वामी का कार्य छोड़ भाइयों का कार्य करना भी अनुचित और अप्रशस्त है। सामने उपस्थित युद्ध को छोड़ना हास्यास्पद भी है। इस समय तो मैं इतना ही कर सकता हूँ कि स्वामी का कार्य करते हुए भी युद्ध में भाइयों से न लड़कर अन्य प्रतिपक्षी योद्धाओं से युद्ध करूँ।

और भी है माँ, अगर युद्ध समाप्त होने पर भाग्यवश हम जीवित रह गये, तो हम सब भाइयों का समागम निश्चित ही होगा। तू जा, और सब भाई-बन्धुओं को इसकी खबर दे दे।"

कर्ण ने फिर कुन्ती की पूजा की और उसे मानपूर्वक विदा किया।

कुन्ती ने सब समाचार श्रीकृष्ण और अपने पुत्रों से कह सुनाया।

·

उधर राजा जरासन्ध की सेना में कुशल राजाओं ने शत्रुओं केलिए चक्रव्यूह की रचना की। उस चक्रव्यूह की चक्राकार रचना में एक हजार आरे थे और हर आरे में एक-एक राजा स्थित था। हर राजा के साथ सौ हाथी, दो हजार रथ, पाँच हजार घोड़े और सोलह हजार पैदल सैनिक थे। चक्र की धारा के पास छह हजार राजा अपनी सेनाओं के साथ वक्रधारा की सन्धियों पर अवस्थित थे। आरों के बीच-बीच के स्थानों पर कुछ विशिष्ट राजा अपनी सेनाओं के साथ थे। इस तरह यह चक्रव्यूह-

रचना पक्षधरों में तो उत्साह बढ़ा रही थी और शत्रुओं की सेना में भय उत्पन्न कर रही थी।

वसुदेव को जब पता लगा कि जरासन्ध की सेना में चक्रव्यूह की रचना की गयी है, तब रचना-कुशल वसुदेव ने भी चक्रव्यूह को भेदनेवाले गरुड़-व्यूह की रचना कर डाली। अत्यन्त शूरवीर तथा अनेक शस्त्रास्त्रों से सज्जित पचास लाख यादव कुमार उस गरुड़ के मुख पर खड़े किये गये। धीर-वीर अतिरथी बलदेव और श्रीकृष्ण उसके मस्तक पर स्थित हुए। वसुदेव के अक्रूर, कुमुद, वीर, सारण, विजय जय, पद्म, जरत्कुमार, सुमुख, दुर्मुख, दृढमुष्टि, विदूरथ और अनावृष्टि आदि पुत्र बलदेव और श्रीकृष्ण के रथ की रक्षा करने के लिए उनके पृष्ठरक्षक बनाये गये। असंख्य रथों के साथ भोज गरुड़ की पीठ पर स्थित हुआ। राजा भोज के पीछे अंगरक्षक के रूप में धारण और सागर आदि अनेक रणवीर राजा नियुक्त हुए। अपने महारथी पुत्रों और विशाल सेना के साथ महाराजा समुद्रविजय उस गरुड़ के दाहिने पंख पर स्थित हुए। सैकड़ों यादव और अन्य रणकुशल राजा उनके पार्श्वरक्षक बनाये गये। बलदेव के पुत्र और युद्धविद्या में कुशल पाण्डव गरुड़ के बायें पंख का आश्रय लेकर खड़े हुए। इन्हीं के समीप अनेक राजा और राजपुत्र परमशक्तिशाली शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर स्थित हुए। इन सभी के पास असंख्य रथ थे और ये सब युद्ध में कौरवों के वध का निश्चय किये हुए थे। पीछे अनेक देशों के राजा अपनी सेनाओं के साथ उद्यत खड़े थे और अनेक राजा अपनी सेनाओं के साथ श्रीकृष्ण के कुल की रक्षा में सन्नद्ध थे।

अनेक महारथियों के उत्साह से शक्तिशाली, वसुदेव द्वारा निर्मित वह गरुड़व्यूह जरासन्ध केचक्रव्यूह को भेदने के लिए उत्सुक हो रहा था। ये दोनों ही व्यूह प्रवेश करने में अत्यन्त कठिन थे, अब देखना यह था कि कौन जिनमार्ग के अनुशासन और प्रभाव से इस युद्ध का विजेता नायक बनता है।

इसी बीच वसुदेव के शुभचिन्तक और सम्बन्धी अनेक विद्याधर एक साथ मिलकर समुद्रविजय के पास आ पहुँचे। समुद्रविजय ने उनका यथोचित सम्मान कर हर्ष-पूर्वक कहा, "अब हम लोग कृतार्थ हो गये।"

अशनिवेग, सिंहदंष्ट्र, मानसवेग आदि उन विद्याधर राजाओं ने समुद्रविजय से कहा, "इस युद्ध से वसुदेव के विरोधी विद्याधरों में बड़ा क्षोभ हो रहा है और वे सब मिलकर जरासन्ध के कार्य में सहयोग देने के लिए आनेवाले हैं।"

उनसे ऐसा सुनकर सब यादवों ने आपस में सलाह की और उन विद्याधरों को शान्त करने के लिए वसुदेव को उन्हीं विद्याधरों के साथ विजयार्ध की तरफ भेज

दिया। उनके साथ प्रद्युम्न, शम्ब और दूसरे राजपुत्र भी गये।

उसी समय बलदेव, कृष्ण और नेमि यादवों की कार्यसिद्धि के लिए अपने-अपने दिव्य रथों पर आरूढ़ हुए। बलदेव का रथ कुबेर के द्वारा भेजा गया था। वह दिव्य अस्त्रों से परिपूर्ण और सिंहविद्या-सम्पन्न था। श्रीकृष्ण का रथ गरुड़ांकित पताकावाला, अनेक दिव्य शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और गरुड़विद्या-सम्पन्न था और नेमि का रथ इन्द्र द्वारा प्रेषित था। मातलि उसका सारथि था और वह भी दिव्य शस्त्रास्त्रों से परिपूर्ण था।

समुद्रविजय आदि समस्त राजाओं ने वसुदेव के शूरवीर पुत्र अनावृष्टि का सेनापति-पद पर अभिषेक किया।

सेनापतियों का संकेत होते ही युद्धसूचक शंख और भेरी के शब्दों से आकाश गूँज उठा। दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध करने के लिए एक-दूसरे के सामने आ गयीं। सात्त्विक क्रोध का उदय हुआ। भौंहें कुटिल हो जाने के कारण विषम मुखवाले राजा एक-दूसरे को ललकारते हुए युद्ध करने लगे। हाथी-हाथियों के साथ, घोड़े घोड़ों के साथ, रथ रथों के साथ, पैदल पैदलों के साथ भिड़ गये। उस समय धनुषों की टंकार, रथों की चीत्कार, हाथियों की गर्जना और योद्धाओं के सिंहनाद से दसों दिशाएँ फटने लगीं।

जब वृषभध्वज नेमिकुमार, हस्तिध्वज अर्जुन और वानरध्वज धारण करनेवाले अनावृष्टि ने देखा कि शत्रु की सेना अधिक शक्ति से उनकी सेना को नष्ट कर रही है, तो कृष्ण के अभिप्राय से प्रेरित होकर वे स्वयं युद्ध करने के लिए उद्यत हुए और चक्रव्यूह भेदने का निश्चय कर पूर्ण तैयारी से आगे बढ़े। नेमि ने अपना शाक्र शंख फूँका। अर्जुन ने देवदत्त और सेनापति अनावृष्टि ने अपना बलाहक नाम का शंख बजाया। इन शंखों की दिगन्तव्यापी ध्वनि सुनकर यादवों की सेना में महान् उत्साह और शत्रुसेना में महान् भय छा गया। सेनापति अनावृष्टि ने चक्रव्यूह का मध्य भाग, नेमि ने दक्षिण भाग और अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग क्षणभर में भेद डाला। जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ ने सेनापति अनावृष्टि का सामना किया। रुक्मी ने नेमि का और दुर्योधन ने अर्जुन का सामना किया।

पाँचों प्रकार के शस्त्र बरसानेवाले उन वीरों के महायुद्ध को देखकर आकाश में दूर खड़े कलहप्रिय नारद हर्ष से नाचने लगे।

इस समय पाण्डवों का धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ जो भीषण युद्ध हुआ, उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। युधिष्ठिर शल्य के साथ, भीम दु:शासन के साथ, सहदेव शकुनि के साथ और नकुल उलूक के साथ युद्ध कर रहे थे। दुर्योधन और अर्जुन के युद्ध को देखकर तो भूत भी भयभीत हो गये। पाण्डवों ने युद्ध में धृतराष्ट्र के कितने ही पुत्रों को मार डाला और दुर्योधन आदि को मृतप्राय कर दिया।

इधर नेमिकुमार ने भयानक युद्ध करनेवाले रुक्मी को बाण-वर्षा से गिराकर धराशायी कर दिया। उधर जरासन्ध के पक्ष में युद्ध कर रहे कर्ण ने कृष्ण-पक्ष के अनेक योद्धाओं को नष्ट कर डाला।

जब दोनों पक्षों का अनिर्णीत युद्ध हो रहा था, तब दोनों पक्षों के सेनापतियों में अनेक शस्त्रास्त्रों के साथ घनघोर युद्ध हुआ। वीर हिरण्यनाभ ने यादव सेनापति अनावृष्टि को युद्ध में सत्ताईस बार घायल किया और अनावृष्टि ने उसे सौ बार घायल किया। हिरण्यनाभ ने सारथि को मार डाला। फिर उसने दूसरा धनुष लेकर बाणों की वर्षा शुरू कर दी। और अनावृष्टि ने परिध फेंककर हिरण्यनाभ का रथ गिरा दिया। अब वे दोनों तलवार और ढाल लेकर नीचे उतर आये। उस समय उन दोनों में बड़ा भारी खड्ग-युद्ध हुआ।

अन्त में अनावृष्टि को अवसर मिला और उसने हिरण्यनाभ की भुजाओं पर तलवार का घातक प्रहार किया। उसकी दोनों भुजाएँ कट गयीं, छाती फट गयी और वह प्राणरहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सेनापति के मरते ही उसकी सेना पीछे हट गयी और जरासन्ध के पास पहुँची। इधर अपनी सेना से स्तुत्य अनावृष्टि रथ पर चढ़कर बलदेव और कृष्ण के पास गया। बलदेव और कृष्ण ने व्यूहभेद करनेवाले महापराक्रमी नेमि, अर्जुन और अनावृष्टि का आलिंगन किया।

सूर्यास्त हुआ। विषाद से मलिन जरासन्ध की सेना अपने शिविरों में चली गयी और अरिष्ट नेमि की लक्ष्मी से सम्पन्न यादवों की सेना लहराते हुए समुद्र की तरह उल्लास से झूमती अपने शिविरों में पहुँची।

दूसरे दिन जब संसार सूर्य से प्रकाशित हो गया, तब जरासन्ध और कृष्ण युद्ध करने के लिए तैयार होकर अपनी-अपनी सेनाओं के साथ बाहर निकले। सेनाएँ पहले की तरह व्यूह-रचना में स्थित हो गयीं और एक-दूसरे का घात करने के लिए संकेत की प्रतीक्षा करने लगीं। रथ पर बैठे हुए जरासन्ध ने यादवों को देखकर अपने निकटवर्ती मन्त्री हंसक से कहा :

"हंसक, यादवों के नाम-चिह्न तो बता, ताकि मैं उन्हीं से निपटूँ। अन्य लोगों को मारने से क्या लाभ है?"

हंसक तत्काल बोला, "स्वामी, यह सूर्य के रथ की तरह देदीप्यमान रथ श्रीकृष्ण का है, जिसमें सोने की साँकलोंवाले, फेन की तरह सफेद घोड़े जुते हुए हैं, और जिस पर गरुड़ की ध्वजा फहरा रही है।

सामने यह शूरवीर अरिष्टनेमि का रथ है—सुवर्णमयी साँकलोंयुक्त, तोते की

तरह हरे घोड़ों से जुता हुआ। इस पर वृषभ ध्वजा फहरा रही है।

राजन्, कृष्ण की दाहिनी ओर रीठे की तरह रंगवाले घोड़ों से जुता हुआ, ताल की पताकावाला यह महाबली बलदेव का रथ है।

श्यामवर्ण के घोड़ों से जुता और वानर की ध्वजा से युक्त जो बड़ा भारी रथ दिखाई दे रहा है, वह सेनापति अनावृष्टि का रथ है।

उधर जो आप रथ देख रहे हैं, जो सोने की साँकलों से युक्त, गरदन पर नीले बालोंवाले घोड़ों से जुता है, वह राजा युधिष्ठिर का रथ है।

चन्द्रमा की तरह सफेद और वायु के समान वेगशाली घोड़ों से जुता हुआ तथा हाथी की पताकावाला यह बड़ा भारी रथ अर्जुन का है।

नीलकमल की तरह नीले-नीले घोड़ोंवाला, मणि और सुवर्ण के आभूषणों से सजा यह भीमसेन का रथ है।

यादवों की सेना के बीच में जो आप लाल रंग केघोड़ों से जुता हुआ रथ देख रहे हैं, जिस पर सिंह-ध्वजा फहरा रही है, वह समुद्रविजय का रथ है।

वह कुमार अक्रूर का रथ है, जिस पर कदली का ध्वज फहरा रहा है, और जो सुवर्ण और प्रवाल के आभूषणों से दमक रहा है, और शक्तिशाली घोड़ों से जुता है।

तीतर की तरह मटमैले घोड़ोंवाला महारथ सत्यक का है और कुमुद की तरह सफेद घोड़ोंवाला रथ महानेमि का है।

वह सामने भोज का महारथ है, जिसमें तोते की चोंच की तरह लाल घोड़े जुते हैं और सोने के दण्ड के ऊपर विशाल पताका फहरा रही है।

यह हरिण की पताकावाले जरत्कुमार का रथ देखिए। उसके घोड़ों की पीठ पर सोने की पलान मढ़ी हुई है।

काम्बोज देश के घोड़ोंवाला यह जो सफेद रथ नजर आ रहा है, वह सिंहलकुमार का रथ है।

सोने के आभूषणों से सजे कुछ-कुछ लाल रंग के घोड़ोंवाला यह रथ मरुराज का है, जिस पर मत्स्य की ध्वजा फहरा रही है।

यह जो सेनाओं के आगे खड़ा रथ है, जिसमें कमल की द्युतिवाले घोड़े जुते हैं, वह रणवीर राजा पद्मरथ का रथ है।

देखिए महाराज, यह सारण का रथ है। इस पर कमल की ध्वजा फहरा रही है। इसके घोड़े तीन वर्ष के हैं। इनका रंग कबूतर की तरह है और उन पर सोने की झालरें पड़ी हुई हैं।

यह पाँच वर्ष के घोड़ों से जुता कुमार विदूरथ का वेगशाली रथ है, जिस पर कलश की ध्वजा फहरा रही है।

महाराज, यादवों के ये रथ हजारों की संख्या में हैं। इनका वर्णन नहीं हो सकता

और आप अपने पक्ष के शूरवीर राजाओं और राजकुमारों के अनेक चिह्नों से युक्त रथों को तो जानते ही हैं।''

हंसक ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा, ''राजन्, अनेक शूरवीर क्षत्रियों से शक्तिशाली आपका यह चक्रव्यूह अत्यन्त शोभा पा रहा है। यह सचमुच ही शत्रुसेना के लिए भय का कारण है।''

हंसक से विशिष्ट यादवों का विवरण सुनकर जरासन्ध ने अपने सारथि से कहा, ''सारथि, तू मेरा रथ शीघ्र ही यादवों की तरफ ले चल।''

युद्धारम्भ के शंख-बिगुल बजते ही जरासन्ध ने अपने असंख्य बाणों से यादवों को आच्छन्न कर दिया। क्रोधोन्मत्त जरासन्ध के पुत्र भी यादवों के साथ घनघोर युद्ध करने लगे। राजा जरासन्ध का सबसे बड़ा पुत्र कालयवन यमराज की तरह था और मलय नाम के हाथी पर सवार होकर भीषण युद्ध कर रहा था। दूसरा पुत्र सहदेव था, जिसके पराक्रम से यादव कुमार आतंकित हो रहे थे। इसके अलावा द्रुमसेन, द्रुम, जलकेतु, चित्रकेतु, धनुर्धर, महीजय, भान, कांचनरथ, चित्रपाल, जितशत्रु, पुरन्दर, सहस्ररश्मि, अर्चिष्मान आदि सैकड़ों पुत्र यादवों पर मारक प्रहार करने लगे। गिरते हुए मनुष्य, रथ, हाथी, घोड़ों को देख वसुदेव-पुत्रों ने युद्ध में कालयवन को घेर लिया। दोनों पक्षों के वीर एक-दूसरे को धिक्कारने लगे और अहंकारवश व्यर्थ की डींगें हाँकते हुए लड़ने लगे। कुमार सारण ने कालयवन का शिर छेद उसे यमलोक पहुँचा दिया। जरासन्ध के अन्य पुत्रों ने एकत्रित होकर हमला किया तो कृष्ण ने अपने अर्धचन्द्राकार बाणों से उनके सिर काट डाले।

अपने पुत्रों का यह विनाश देख जरासन्ध स्वयं क्रोध में भरकर श्रीकृष्ण की तरफ दौड़ा। श्रेष्ठ रथों पर सवार वे दोनों एक-दूसरे के प्रति तिरस्कारयुक्त वाणी बोल रहे थे। दोनों ही उत्कृष्ट शूरवीर थे और दोनों ही दिव्य शस्त्रास्त्रों के स्वामी थे। जरासन्ध और श्रीकृष्ण का यह युद्ध समान शक्तियों का युद्ध था।

सम्मुख होते ही जरासन्ध ने श्रीकृष्ण को मारने के लिए अग्नि की तरह लपलपाता हुआ नागास्त्र छोड़ा। सावधान श्रीकृष्ण ने नागास्त्र को नष्ट करने के लिए तत्काल गारुड़ास्त्र छोड़ा। उसने वेग से जाकर उस नागास्त्र को ग्रस लिया। अब जरासन्ध ने प्रलयकालीन मेघ की तरह भयंकर वर्षा करनेवाला संवर्तक अस्त्र फेंका तो श्रीकृष्ण ने उसके प्रतिकार के लिए महाश्वसन अस्त्र से तीव्र आँधी चलाकर उसका निराकरण कर दिया। अस्त्रों के प्रयोग में कुशल वीर जरासन्ध ने वायव्य अस्त्र से कृष्ण को घेरना चाहा तो उन्होंने अन्तरिक्ष अस्त्र के द्वारा उसे तत्काल प्रभावहीन कर दिया।

अब जरासन्ध ने अपने आग्नेय बाण का सहारा लिया तो कृष्ण ने वारुणास्त्र से उसे शान्त कर दिया। क्रुद्ध जरासन्ध ने वैरोचनाशस्त्र छोड़ा तो श्रीकृष्ण ने माहेन्द्र अस्त्र द्वारा उसे दूर पर ही नष्ट कर दिया। जरासन्ध के राक्षसबाण को नारायण अस्त्र से, तामसास्त्र को भास्कर बाण से, अश्वग्रीव नाम के तीक्ष्ण शस्त्र को ब्रह्मशिरस शस्त्र से प्रतिरुद्ध कर कृष्ण अविचल खड़े रहे। जरासन्ध ने और भी दिव्य अस्त्र चलाये, लेकिन कृष्ण उन सबका निराकरण कर ज्यों के त्यों स्थिर बने रहे। उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ।

इस तरह जरासन्ध का जब सारा प्रयास व्यर्थ हो गया, तो उसने अपना धनुष धरती पर फेंक दिया और हजार यक्षों द्वारा रक्षित अपने चक्ररत्न का स्मरण किया। स्मरण करते ही सूर्य की तरह दिशाओं को प्रकाशमान करता चक्ररत्न जरासन्ध के हाथ में आकर स्थित हो गया। सब शस्त्रास्त्रों के व्यर्थ हो जाने के कारण जरासन्ध भयानक क्रुद्ध हो गया था। उसका मुख भृकुटिभंग से कुटिल हो रहा था। उसने चक्ररत्न के स्थिर होते ही उसे घुमाकर कृष्ण की तरफ फेंका। अपनी प्रभा से सूर्य को भी फीका करनेवाले उस चक्ररत्न को आकाश में आता हुआ देखकर कृष्णपक्ष के अन्य सभी शूरवीर राजाओं ने प्रतिकार के लिए अपने-अपने चक्र छोड़े।

श्रीकृष्ण शक्ति और गदा लेकर, बलदेव हल और मुसल लेकर, भीमसेन गदा लेकर, अस्त्रविद्या के राजा अर्जुन अनेक अस्त्र लेकर, सेनापति अनावृष्टि परिघ लेकर और युधिष्ठिर प्रकट हुई सर्पिणी जैसी शक्ति लेकर प्रतिघात करने के लिए आगे बढ़े। समुद्रविजय तथा अक्षोभ्य आदि भाइयों ने अत्यन्त सावधान होकर उस चक्ररत्न की तरफ महाअस्त्र फेंके।

लेकिन भगवान नेमि अपने अवधिज्ञान से आगामी कार्य की गतिविधि को अच्छी तरह जानते थे, इसलिए आते हुए चक्ररत्न के सामने कृष्ण के साथ ही खड़े रहे। राजाओं के तमाम अस्त्रों ने जिसे रोकने का प्रयत्न किया था और जिससे प्रदीप्ति चिनगारियाँ निकल रही थीं, ऐसा वह चक्ररत्न मित्र की तरह धीरे-धीरे पास आया और भगवान नेमि सहित श्रीकृष्ण की परिक्रमा करके शंख-चक्र और अंकुश से चिह्नित कृष्ण के दायें हाथ में स्थित हो गया।

उसी समय आकाश में दुन्दुभि बजने लगी। पुष्पवृष्टि होने लगी। अनुकूल सुगन्धित वायु बहने लगी और देवताओं के समूह हर्ष मनाते हुए कहने लगे, ''यह नौवाँ नारायण प्रकट हुआ है।''

यादवों का हृदय आश्चर्यजनक सुख से उच्छ्वसित हो उठा।

संग्राम में कृष्ण को चक्रधारी देख जरासन्ध सोचने लगा—'हाय, मेरा चक्र चलाना

भी व्यर्थ हो गया। मैंने इस चक्ररत्न और अपने प्रताप से दिशाओं को व्याप्त कर रखा था। मैं तीन खण्ड पृथिवी का अधिपति था। आज मेरा सारा पराक्रम, सारा पुरुषार्थ खण्डित हो गया।

भाग्य के बल के साथ ही पुत्र, मित्र, पुरुषार्थ और ये सारे उपकरण काम आते हैं। भाग्य के निर्बल होने पर चतुरंग सेना हो या पुरुषार्थ—सब अर्थहीन हो जाते हैं।

मैं गर्भ से ही ईश्वर था और किसी के लिए भी अनतिक्रमणीय था और यह कृष्ण गर्भ से ही क्लेश उठानेवाला एक छोटा-सा व्यक्ति था। आज इसने मुझे कैसे जीत लिया? अगर इस साधारण से व्यक्ति के भाग्य में मेरी जीत लिखी ही हुई थी तो बाल्यावस्था में गोकुल में इतने दुख क्यों उठाने पड़े? इस विडम्बना के लिए विधाता को धिक्कार है।

उस लक्ष्मी को भी धिक्कार है जो लोगों को बड़ी कुशलता से अन्धा बनाती है। धीर वीर मनुष्यों के धैर्य को भी नष्ट कर देती है और वेश्या की तरह अन्य पुरुषों के साथ जाने की कामना रखती है।'

इस तरह सोच रहे जरासन्ध को यह निश्चय हो चुका था कि अब उसका मरणकाल आ चुका है। फिर भी वह प्रकृति से ही निर्भय होने के कारण कृष्ण से यह उद्धत वचन बोला, "अरे गोप, तू चक्र चला, व्यर्थ ही समय क्यों खो रहा है? अरे मूर्ख, जो समय का आदर नहीं करता, वह दीर्घसूत्री मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है।"

जरासन्ध की बात सुनकर स्वभाव से ही विनयी कृष्ण ने कहा, "चक्रवर्तित्व का निर्णय हो चुका है, इसलिए आज से आप मेरे शासन में रहिए। यों यह प्रकट है कि आप हमारा अपकार करने में ही लगे हुए हैं, फिर भी आपके नमस्कार मात्र से प्रसन्न होकर हम आपके सारे अपकारों को क्षमा कर देंगे।"

श्रीकृष्ण के ये वचन सुनते ही जरासन्ध का अहंकार चोट खाये सर्प की तरह उठ खड़ा हुआ। वह कृष्ण का तिरस्कार करते हुए बोला, "अरे ग्वाले, यह चक्र तो मेरे लिए अलातचक्र की तरह है। तू इसे पाकर इतना घमण्ड क्यों दिखा रहा है? वैसे ठीक भी है, जिसे कभी ऐश्वर्य के दर्शन न हुए हों, ऐसा छोटा आदमी थोड़ा-सा वैभव पाकर भी अहंकार करने ही लगता है। सावधान हो, मैं तुझे इस चक्र के साथ, यादवों के साथ, तेरी सहायता करनेवाले इन राजाओं के साथ अभी समुद्र में फेंकता हूँ।"

जरासन्ध की बात सुनकर चक्रवर्ती कृष्ण क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने घुमाकर चक्ररत्न छोड़ दिया। द्रुतगति से जा रहे उस चक्ररत्न ने जरासन्ध की वक्षस्थल-भित्ति को भेद दिया और उसे मारकर फिर कृष्ण के हाथ में आकर स्थित हो गया।

कृष्ण ने यादवों के हृदय में प्रसन्नता का संचार करनेवाला अपना पांचजन्य शंख फूँका और नेमि, अर्जुन तथा सेनापति अनावृष्टि ने भी अपने-अपने शंख फूँके।

रणभूमि बाजों की गम्भीर ध्वनि और अभयघोषणाओं से भर गयी। अभय प्राप्त सारी स्व-पर सेनाएँ चुपचाप आकर श्रीकृष्ण की आज्ञा में खड़ी हो गयीं।

राजा दुर्योधन, द्रोण तथा दुश्शासन ने विरक्त होकर विदुर मुनि के पास जिनदीक्षा ले ली। राजा कर्ण ने भी युद्ध में अपना कौशल दिखाने के बाद सुदर्शन नाम के उपवन में दमवर मुनि से मोक्ष फल देनेवाली दीक्षा धारण कर ली। राजा कर्ण ने जिस स्थान पर अपने सुवर्ण अक्षरों से अंकित कर्ण छोड़े थे, वह स्थान 'कर्ण-सुवर्ण' नाम से पुकारा जाने लगा।

मातलि भी नेमिकुमार की आज्ञा ले रथसहित इन्द्र के पास चला गया। अन्य राजागण भी अपने-अपने शिविरों में गये।

उस समय डूबता हुआ सूर्य ऐसा लगता था, मानो जरासन्ध की मृत्यु से रो-रोकर जवाकुसुम की तरह लाल हो गया है और अब जलांजलि देने की इच्छा से समुद्र में प्रवेश कर रहा है।

दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही राजा जरासन्ध और अन्य राजाओं के अन्तिम संस्कार सम्पन्न किये गये। वीरों के जख्मों पर मरहम-पट्टी की गयी।

शत्रुओं से अलंघ्य महातेजस्वी कृष्ण की सभा जुड़ी। समुद्रविजय आदि समस्त राजाओं ने अपना-अपना आसन ग्रहण किया और वसुदेव के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। वे आपस में चर्चा कर रहे थे कि पुत्र और नातियों के साथ विजयार्ध पर्वत पर गये हुए वसुदेव को काफी समय हो गया है, पर आज तक उनकी कुशलता का समाचार क्यों नहीं आया?

गाय-बछड़े की तरह स्नेह में सराबोर बाल-वृद्धजनों से युक्त वे सब राजा ऐसा कह ही रहे थे कि आकाश में बिजली-सी चमकी और अपनी द्युति से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई नागकन्या वेगवती अनेक विद्याधारियों के साथ वहाँ आ पहुँची।

उसने आशीर्वचनों के साथ कहा, ''गुरुजनों के आशीर्वाद आज फलीभूत हो गये हैं। इधर पुत्र ने जरासन्ध को नष्ट किया है, उधर पिता ने विरोधी विद्याधरों को नष्ट कर दिया है। पुत्र-पौत्रों सहित वसुदेव अच्छी तरह हैं और आप सबके लिए यथायोग्य आदर स्नेह भेज रहे हैं।''

विद्याधारियों के बीच खड़ी वेगवती के मुख से इतना सुनते ही यादव रोमांचित हो उठे। राजाओं ने विद्याधर-स्त्रियों में श्रेष्ठ वेगवती से पूछा, ''कृपा कर हमें बताइए कि वसुदेव ने उन शत्रु विद्याधरों को कैसे जीता?''

सदा वसुदेव के हित में लगी रहनेवाली नागकन्या ने कहा, "वसुदेव का रण-पराक्रम अद्‌भुत है। युद्धनिपुण वसुदेव विजयार्ध पर्वत पर गये और उन्होंने अपने सम्बन्धी विद्याधरों को रोका। वसुदेव ने उन्हें रण के लिए ललकारा और वे जरासन्ध की सहायता भूलकर स्वयं युद्ध में घिर गये। उन दोनों पक्षों के युद्ध को देखकर प्रलयकाल की आशंका होने लगी और सब भय से व्याकुल हो उठे। वसुदेव, उनके पुत्र, प्रद्युम्न तथा शम्ब अपने शस्त्रों की ज्वालाओं से शत्रुराजाओं को भस्म कर रहे थे। रण में घूमते हुए वे संचरणशील दावानल का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे।

तभी आपकी विजय से प्रसन्न देवताओं ने आकाश में यह घोषणा की, 'वसुदेव का पुत्र कृष्ण नौवाँ नारायण हुआ है। उसने चक्रधारी होकर अपने गुणों में द्वेष रखनेवाले शत्रु जरासन्ध को उसी के चक्र से युद्ध में मार डाला है।'

देवताओं ने इन शब्दों के साथ ही वसुदेव के रथ पर आकाश में बरसती हुई चाँदनी की तरह सफेद मणिमय रत्नों की वर्षा करनी आरम्भ कर दी। शत्रु विद्याधरों ने भी यह घोषणा सुनी और भयभीत होकर वसुदेव की शरण में आने लगे। उन्होंने वसुदेव को उनके पुत्रों-पौत्रों के लिए अपनी अनेक कन्याएँ प्रदान कीं।"

नागकन्या वेगवती ने अपनी बात समाप्त करते हुए कहा, "हम लोग वसुदेव की प्रेरणा से आपको उनका कुशल समाचार देने आयी हैं। नारायण कृष्ण की भक्ति से प्रेरित होकर अनेक विद्याधर राजा असंख्य उपहारों को लेकर वसुदेव के साथ आ रहे हैं।"

वनदेवी वेगवती के मुख से इस समाचार का पूरा होना था कि आकाश विद्याधरों के विमानों से व्याप्त हो गया।

विद्याधर विमानों से उतरे और उन्होंने बलदेव एवं कृष्ण को नमस्कार कर अनेक उपहार अर्पित किये। बलदेव और कृष्ण ने भक्तिपूर्वक पिता वसुदेव को नमस्कार किया। पिता ने भी दोनों को हृदय से लगा लिया और उनकी बहुत प्रशंसा की। सबका यथोचित मेल-मिलाप होने के बाद बलदेव और कृष्ण ने विद्याधरों का सत्कार किया और वे सब अपना जन्म सफल मानकर अपने-अपने स्थानों को लौट गये।

जरासन्ध के मारे जाने पर यादवों ने जहाँ आनन्द-नृत्य किया था, वह स्थान 'आनन्दपुर' नाम से प्रसिद्ध और जिनमन्दिरों से व्याप्त हो गया।

हर्ष और उत्साह से भरे हुए बलदेव और नारायण ने अब अपनी समस्त सेना के साथ पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। रत्नाकर श्रीकृष्ण ने चक्ररत्न की पूजा कर देव-असुर-मानव सहित दक्षिण भरतक्षेत्र को जीता। उन्होंने सारे राजाओं को जीता और उन राजाओं ने लगातार आठ वर्षों तक मनोवांछित पदार्थों से कृष्ण की सेवा की। अब श्रीकृष्ण कोटिकशिला की तरफ गये। इस उत्कृष्ट शिला पर करोड़ों

मुनियों ने सिद्ध अवस्था प्राप्त की है, इसलिए यह 'कोटिकशिला' नाम से प्रसिद्ध है। यह शिला एक योजन चौड़ी है और अर्ध भरतक्षेत्र में विद्यमान देवताओं द्वारा परिरक्षित है। श्रीकृष्ण ने पहले तो उस पवित्र शिला पर पूजा की और इसके बाद उसे अपनी दोनों भुजाओं से चार अँगुल ऊपर उठाया। अलग-अलग नारायणों ने इसे अलग-अलग परिमाण से ऊपर उठाया था। हर युग में कालभेद होने के कारण प्रधानपुरुष सहित सभी शक्तिशाली मनुष्यों की शक्ति अलग परिमाणवाली होती है। पहले त्रिपृष्ठ नारायण ने इस शिला को जहाँ तक भुजाएँ ऊपर पहुँचती हैं, वहाँ तक उठाया था। द्विपृष्ठ नारायण ने इसे मस्तक तक उठाया था। तीसरे स्वयम्भू ने कण्ठ तक, पुरुषोत्तम ने वक्षस्थल तक, नृसिंह ने हृदय तक, पुण्डरीक ने कमर तक, दत्तक ने जाँघों तक और आठवें नारायण दत्तक ने उसे घुटनों तक उठाया था। आज नौवें नारायण कृष्ण ने जब इसे चार अँगुल ऊपर उठा लिया तो सारा जगत् श्रीकृष्ण के शारीरिक बल से परिचित हो गया।

अब श्रीकृष्ण दक्षिण भरतक्षेत्र से वापस द्वारिका आये। उन्होंने मनोहर गोपुर-द्वारों से सुन्दर स्वर्ग की तरह सजी हुई द्वारिका में प्रवेश किया। बड़े-बूढ़ों के आशीर्वाद से अभिनन्दित श्रीकृष्ण ने अपने साथ आये भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओं को योग्य सामग्री से भरे द्वारिका के महलों में ठहराया।

सब राजाओं ने बलदेव और श्रीकृष्ण को अर्ध भरतक्षेत्र का स्वामी घोषित किया और महान उत्सव के बीच उनका राज्याभिषेक सम्पन्न किया।

चक्ररत्न के स्वामी श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के दूसरे पुत्र सहदेव को राजगृह का राजा बनाया और उसे मगधदेश का एक चौथाई भाग भी दिया। उग्रसेन के पुत्र द्वार को उन्होंने मथुरा का राज्य दिया और नेमिकुमार का शौर्यपुर की गद्दी पर अभिषेक किया। पाण्डवों को उनका प्रिय हस्तिनापुर दिया और राजा हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोसल देश दिया।

इस तरह चक्रपाणि श्रीकृष्ण ने आये हुए समस्त राजाओं की यथायोग्य स्थानों पर स्थापना की। क्रमशः पाण्डव आदि सभी राजा विदा हुए और यादव देवों की तरह द्वारिका नगरी में आनन्द मनाने लगे।

श्रीकृष्ण के सात दिव्य रत्न थे—शत्रुओं का मुख न देखनेवाला सुदर्शन चक्र, अपनी टंकार से शत्रुओं में भय भरनेवाला शाङ्र्ग धनुष, सोनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, अव्यर्थ अमोघमूला शक्ति, पांचजन्य शंख और विशाल प्रताप को प्रकट करनेवाली कौस्तुभ मणि। ये सातों रत्न देवों द्वारा पूजित थे। अत्यन्त हितकारी थे और दिव्य शोभा सम्पन्न थे।

बलदेव के भी पाँच दिव्य रत्न थे—अपराजित नाम का दिव्य हल, दिव्य गदा, दिव्य मुसल, दिव्य शक्ति और दिव्य माला। ये पाँचों रत्न भी देवों द्वारा पूजित थे।

गुणों का आदर करनेवाले, माननीय सोलह हजार प्रमुख राजा और आज्ञाकारी भक्त गणबद्ध देव नतमस्तक होकर श्रीकृष्ण की निरन्तर सेवा करते थे। देवांगनाओं की तरह सुन्दर सोलह हजार स्त्रियाँ श्रीकृष्ण की और आठ हजार श्रेष्ठ स्त्रियाँ बलदेव की रमणपूर्वक सेवा करती थीं।

यादव जिनधर्म का पालन करते थे, उनके रति और राग में कभी व्यवधान नहीं पड़ता था। प्रिय युवतियाँ ही उनकी सहायक थीं और वे सारी पृथिवी के अधिपति होकर द्वारिका में छहों ऋतुओं के अनुरूप स्थानों में स्वेच्छित भोग भोगते हुए निवास करते थे।

सोलहवाँ प्रकरण

अब पाण्डव हस्तिनापुर में यथोचित रीति से व्यवस्थित हो गये थे। कुरुदेश की प्रजा अपने पूर्व स्वामियों को पाकर सन्तुष्ट थी और उनके नीतिपूर्ण सुखप्रद राज्य में रहकर धृतराष्ट्र पुत्रों को पूरी तरह भूल गयी थी। देश के सभी वर्ण और आश्रमों के लोग राजा युधिष्ठिर और उनके भाइयों का गुणगान करते थे।

तभी सर्वत्र बे-रोक-टोक विचरण करनेवाले नारद एक दिन हस्तिनापुर आये। पाण्डवों ने नारद का बहुत सम्मान किया। इसके बाद नारद द्रौपदी के घर गये। उस समय द्रौपदी आत्मरति में मोहित हुई आभूषणों से अपने को सजा रही थी। इसलिए कब नारद आये और कब चले गये, वह नहीं जान सकी। नारद स्वभाव से ही क्रुद्ध हृदय और कलहप्रेमी थे। द्रौपदी के इस व्यवहार को वे सह नहीं सके और घी पड़ी आग की तरह जलने लगे। जो व्यक्ति सम्मान से सुखी होता है, वह असम्मान से दुखी भी हो जाता है। नारद ने द्रौपदी को दण्ड देने का दृढ़ निश्चय कर लिया और वे अपने निश्चय को रूप देने के लिए पूर्वधातकीखण्ड के भरतक्षेत्र की ओर उड़ चले।

नारद नि:शंक होकर अंग देश की अमरकंका नगरी में पहुँचे और वहाँ के राजा पद्मनाभ से मिले। पद्मनाभ अत्यन्त सुन्दर और स्त्रीलम्पट राजा था।

राजा पद्मनाभ नारद को आत्मीय मान उन्हें अपने अन्त:पुर में ले गया। उसकी रूपवती उत्तम स्त्रियों ने नारद का सत्कार किया।

राजा ने आत्मप्रशंसा के भाव से नारद से पूछा, "मुनिवर, स्त्रियों का ऐसा रूप आपने कहीं और भी देखा है?"

राजा पद्मनाभ का यह प्रश्न क्या था, खीर में पड़े घी की तरह था। नारद ने अवसर को अनुकूल जान राजा के सामने द्रौपदी के लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन किया और उसे इस तरह द्रौपदी के प्रति उत्कण्ठित कर दिया कि उसकी दशा पिशाचग्रस्त

की तरह हो गयी। नारद ने पद्मनाभ को द्रौपदी के क्षेत्र, नगर, भवन का पूरा पता दिया और स्वयं चलते बने।

राजा पद्मनाभ द्रौपदी को पाने की इच्छा से कठिन तप करने लगा। उसने पाताललोक में निवास करनेवाले देव संगमक को अपनी आराधना से प्रसन्न किया। वह देव पद्मनाभ की इच्छा से रात के समय सोती हुई द्रौपदी को पद्मनाभ की नगरी में उठा लाया और उसे महल के उद्यान में छोड़ दिया। सूचना पाकर राजा पद्मनाभ आया और उसने उपवन में जाकर साक्षात् देवांगना द्रौपदी को देखा।

जिस समय देव संगमक ने द्रौपदी को पद्मनाभ के महल के उपवन में छोड़ा था, उस समय द्रौपदी अपनी शैया पर जाग गयी थी, लेकिन उसे स्वप्न मानकर बरबस अपनी आँखें बन्द कर लेती थी। आँखें बन्द कर सोयी द्रौपदी की शंका को प्रद्मनाभ ने समझ लिया। वह धीरे से उसके पास गया और मीठे स्वर में उससे बोला, ''विशालनयना द्रौपदी, यह स्वप्न नहीं है। जागो और देखो। यह धातंकीखण्ड द्वीप है और मैं राजा पद्मनाभ हूँ। नारद ने मुझे तुम्हारा मनोहर रूप बतलाया था। मैंने तुम्हें पाने के लिए कठोर तप किया और अब मुझसे प्रसन्न हुआ देव तुम्हें हस्तिनापुर से उठाकर यहाँ लाया है और मेरे लिए लाया है।''

इतना सुनना था कि द्रौपदी भय से चकित हो उठ बैठी। सामने अपरिचित राजा को देखकर उसे अपनी स्थिति का निश्चय हो गया और वह सोचने लगी—'अरे, यह तो मुझ पर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा है।'

उसने अपने शील-रूप मजबूत दुर्ग के भीतर खड़े होकर उस कामी राजा पद्मनाभ से कहा, ''सुन राजा, बलदेव और नारायण कृष्ण मेरे भाई हैं। धनुर्धारी अर्जुन मेरा पति है। पति के बड़े भाई युधिष्ठिर और भीम अत्यन्त वीर हैं और पति के छोटे भाई सहदेव और नकुल यमराज के समान हैं। तू नहीं जानता, जल और स्थल के मार्गों से आज तक जिन्हें कोई नहीं रोक सका, ऐसे उनके रथ मनोरथ की तरह वेगवान हैं और सारी पृथिवी पर विचरण करते हैं। अगर तू भाई-बान्धवों के साथ अपना भला चाहता है तो मुझे अपने लिए कालसर्पिणी समझ शीघ्र वापस भेज दे।''

पद्मनाभ को अब और कोई इच्छा नहीं रही थी। द्रौपदी के इस तरह कहने पर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा और अपनी बात पर अड़ा रहा।

द्रौपदी अत्यन्त बुद्धिमती थी। उसने परिस्थिति को समझ लिया और तत्काल निर्णय करके दृढ़तापूर्वक राजा से कहा, ''राजन्, अगर एक माह के भीतर मेरे स्वजन मुझे नहीं ले जाते हैं, तो आप मेरा चाहे जो करना।''

पद्मनाभ ने यह बात स्वीकार कर ली और उसे अपनी स्त्रियों के द्वारा अनुकूल करने और अनेक प्रिय पदार्थों से लुभाने की कोशिश करने लगा।

द्रौपदी ने अर्जुन के दर्शन-पर्यन्त आहार का त्याग कर दिया और एक वेणी बाँधकर मन ही मन कहा—'अर्जुन के हाथ से ही यह वेणी खुलेगी।' उसने भय तो छोड़ दिया, लेकिन निरन्तर आँसू बहाने लगी और पति की राह देखने लगी।

इधर जब द्रौपदी अपने भवन से अकस्मात् अदृश्य हो गयी तो पाँचों पाण्डव किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। अत्यन्त व्याकुल होकर उन्होंने द्रौपदी को सब जगह ढूँढ़ा, लेकिन जब वह न मिली तो निरुपाय होकर श्रीकृष्ण के पास गये। सुनकर श्रीकृष्ण भी अवाक् रह गये और उन्होंने उसी समय सारे भरतक्षेत्र में यह समाचार लोगों तक पहुँचाया। जब भरतक्षेत्र में द्रौपदी का कहीं पता नहीं चला तो उन्होंने समझ लिया कि कोई क्षुद्र वृत्ति का दानव उसे हरकर दूसरे क्षेत्र में ले गया है। कृष्ण की आज्ञा से सारे यादव द्रौपदी का समाचार पाने के लिए तत्पर हो गये।

एक दिन श्रीकृष्ण सभामण्डप में बैठे हुए थे कि उसी समय नारद यहाँ आ पहुँचे। सब यादवों ने उठकर उनका सम्मान किया। नारद द्रौपदी का प्रिय समाचार उन्हें देते हुए बोले, ''मैंने द्रौपदी को धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी में राजा पद्मनाभ के घर देखा है। उसका शरीर अत्यन्त काला और दुर्बल हो गया है। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी रहती है और वह उसाँसें भरती रहती है। राजा पद्मनाभ के अन्तःपुर की स्त्रियाँ आदर के साथ उसकी सेवा करती हैं और उसे राजा के अनुकूल बनाना चाहती हैं।

द्रौपदी को इस समय अपने शीलव्रत का ही सबसे बड़ा भरोसा है और वह आप सबकी राह देखती हुई अपना समय बिता रही है।''

नारद ने फिर कहा, ''आप जैसे भाइयों के होते हुए वह शत्रु के घर में क्यों रह रही है?''

द्रौपदी का समाचार पाकर यादव हर्षित होकर उठ खड़े हुए और तरह-तरह से नारद की प्रशंसा करने लगे।

शत्रु के प्रति द्वेष प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा, ''वह दुष्ट पद्मनाभ द्रौपदी का हरण कर कहाँ जाएगा? मृत्यु के इच्छुक उस दुराचारी को मैं अभी यमराज के घर भेजता हूँ।''

श्रीकृष्ण रथ पर बैठकर द्रौपदी को लाने के लिए उद्यत हुए और दक्षिण समुद्र के तट पर जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने धातकीखण्ड द्वीप को प्राप्त करने की इच्छा से पाण्डवों के साथ नियम लेकर लवणसमुद्र के अधिष्ठाता देव की आराधना की।

देव प्रकट हुआ और पाँचों पाण्डवों तथा कृष्ण को छः रथों में ले गया। उन्होंने समुद्र का उल्लंघन किया और धातकीखण्ड द्वीप के भरत क्षेत्र में जा पहुँचे। वहाँ जाकर वे अमरकंका नगरी के उपवन में ठहर गये। राजा पद्मनाभ को अपने सेवकों से समाचार मिला तो उसने अपनी उद्धत चतुरंग सेना लड़ने के लिए भेजी। युद्ध में पाँचों पाण्डवों ने इसे इतना मारा कि वह सेना तितर-बितर होकर नगर में ही जा घुसी।

राजा पद्मनाभ नीतिकुशल था, इसलिए वह नगर का द्वार बन्द कर भीतर ही रह गया। पाण्डवों ने नगर का द्वार तोड़ने की कोशिश की, पर जब वे सफल न हुए तो श्रीकृष्ण ने स्वयं पैर के आघातों से द्वार तोड़ना शुरू किया। वे आघात क्या थे, वज्र के प्रहार थे। उन्होंने नगर की अन्तर-बाह्य भूमियों को तहस-नहस कर डाला। नगर-प्राचीर और गोपुरों को तोड़ दिया। बड़े-बड़े महल टूटकर गिरने लगे और पशुशालाओं से निकले हाथी-घोड़े इधर-उधर दौड़ने लगे। नगर में हाहाकार मच गया। लोग घबराकर भागने लगे।

जब द्रोही पद्मनाभ निरुपाय हो गया, तो वह भय से व्याकुल होकर नगर निवासियों और अपनी रानियों के साथ द्रौपदी की शरण में पहुँचा। उसने द्रौपदी के पैर पकड़कर कहा, "देवी, तू देवता के समान है, सौम्य है, पतिव्रता है। मुझ पापी को क्षमा कर और अभयदान दिला।"

द्रौपदी बड़ी दयालु थी। उसने शरणागत पद्मनाभ से कहा, "तू स्त्री का वेश धारण कर चक्रवर्ती कृष्ण की शरण में जा। जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे नमस्कार करनेवाले अपराधी जनों पर भी दया करते हैं फिर भीरुजनों का वेश धारण करनेवालों पर तो वे और भी दयालु होते हैं।"

द्रौपदी की बात सुनकर राजा पद्मनाभ ने स्त्री-वेश धारण कर लिया और वह द्रौपदी को आगे कर अपनी स्त्रियों सहित श्रीकृष्ण की शरण में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण शरणागतों का भय हरनेवाले हैं, इसलिए उन्होंने उसे अभयदान देकर अपने स्थान पर वापस कर दिया।

द्रौपदी ने कुशलपूर्वक श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार किया और पाँचों पाण्डवों के साथ यथायोग्य विनय का व्यवहार किया।

अर्जुन ने द्रौपदी का आलिंगन कर अपने पसीने से भीगे हुए हाथों से उसकी बँधी हुई वेणी खोली। द्रौपदी ने पाण्डवोंसहित स्नान-भोजन किया और हृदय से सबका अतिथि-सत्कार किया। रो-रोकर उसने अपना सारा दुःख सुनाया और फिर शान्त-प्रसन्न हो गयी।

कृष्ण ने द्रौपदी को रथ में बैठाया और समुद्र-किनारे आकर इतनी जोर से अपना शंख बजाया कि दूर-दूर तक उसका स्वर व्याप्त हो गया।

वहाँ चम्पानगरी के बाहर जिनेन्द्र भगवान विराजमान थे। उस समय वहाँ उन्हें नमस्कार करने के लिए धातकीखण्ड का नारायण कपिल आया हुआ था। उसने पृथिवी को कम्पित करनेवाली शंख-ध्वनि सुनकर जिनेन्द्र भगवान से पूछा, "नाथ, इस समय मुझसे शासित इस भरतक्षेत्र में मेरे समान दूसरा मनुष्य नहीं है। फिर समान शक्ति के सूचक किस मनुष्य ने यह शंख बजाया है?"

जिनेन्द्र भगवान ने नारायण कपिल से कृष्ण का सारा वृत्तान्त कहा तो उसके अन्दर कृष्ण को देखने की प्रबल इच्छा हुई और वह जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर वहाँ से जाने लगा।

तब भगवान ने कपिल से कहा, "राजन्, तीन लोकों में कभी चक्रवर्ती का चक्रवर्ती से, तीर्थंकर का तीर्थंकर से, बलभद्र का बलभद्र से, नारायण का नारायण से और प्रतिनारायण का प्रतिनारायण से मिलाप नहीं होता। इसलिए तुम कृष्ण से मिलने जाओगे तो चिह्न भाव से ही तुम्हारा-उसका मिलाप हो सकेगा। एक-दूसरे के शंख का शब्द सुनना तथा एक-दूसरे के रथ की ध्वजाओं को देखना, केवल इन्हीं चिह्नों से तुम्हारा और कृष्ण का साक्षात्कार हो सकेगा।"

कपिलनारायण का भगवान जिनेन्द्र के कहे अनुसार दूर से ही समुद्र में कृष्ण के साथ साक्षात्कार हुआ।

वह चम्पा नगरी में वापस आया और उसने अमरकंका नगरी में राजा पद्मनाभ का अनुचित कार्य के लिए बहुत तिरस्कार किया।

कृष्ण तथा पाण्डव पहले की ही तरह महासागर को शीघ्र पार कर इस तट पर आ गये! तभी एक अप्रिय घटना घट गयी।

कृष्ण तट पर पहुँचकर विश्राम करने लगे और पाण्डव नौका से गंगा पार कर दक्षिण तट पर जा उतरे। भीम ने हँसी-हँसी में इस पार आने के बाद नौका छिपा दी। पीछे जब द्रौपदी के साथ कृष्ण आये तो उन्होंने नौका न देखकर पाण्डवों से पूछा, "आप लोग कैसे गंगा-पार पहुँचे हैं?"

तो कृष्ण की चेष्टा को जानने के इच्छुक भीम ने कहा, "हम लोग तैर कर पार आये हैं।"

श्रीकृष्ण ने भीम के कथन को सत्य मान लिया और वे गंगा पार करने की शीघ्रता करने लगे। कृष्ण ने घोड़ों और सारथी सहित रथ को एक हाथ पर उठा लिया और एक हाथ तथा पैरों से गंगा को इस तरह पार कर लिया, मानो घुटनों बराबर ही पानी हो।

आश्चर्यचकित आनन्दविभोर पाण्डव शीघ्रता से कृष्ण के पास आये और उन्हें नमस्कार करके उनकी अपूर्वशक्ति का स्तुतिगान करने लगे।

भीम ने तभी अपनी करनी के बारे में सबको बताया। कहा, "यह तो मैंने हँसी की थी।"

श्रीकृष्ण को उसी समय पाण्डवों से विरक्ति हो गयी और वे उन्हें फटकारते हुए बोले, ''अरे निन्द्य पाण्डवो, मैंने तुम्हारे सामने अनेक बार मानवोत्तरी कार्य किये हैं, फिर इस गंगा को पार करने में कौन-सी मेरी सामर्थ्य-परीक्षा थी?''

इतना कहकर श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ ही हस्तिनापुर गये। वहाँ उन्होंने सुभद्रा के पुत्र आर्यसूनु को राज्य-सिंहासन पर बैठाया और क्रोधवश पाण्डवों को वहाँ से विदा कर दिया।

कृतकार्य श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी में लौटे और असमय में वज्रपात की तरह कठोर कृष्ण की आज्ञा से पाण्डव अपने अनुवर्ती लोगों के साथ दक्षिण दिशा की तरफ गये। वहाँ जाकर उन्होंने लौंग और कृष्णागुरु की सुगन्ध से व्याप्त समुद्र के तटों पर मथुरा नगरी बसायी और चन्दन से सुगन्धित मलयगिरि की ऊँची-ऊँची चोटियों पर विहार करने लगे।

पाण्डवों की यह नगरी दक्षिण मथुरा नाम से प्रसिद्ध हुई।

सत्रहवाँ प्रकरण

एक दिन युवा नेमिकुमार बलदेव और नारायण की करोड़ों यादवों से भरी हुई कुसुमचित्रा नाम की सभा में गये। उन्होंने कुबेर के द्वारा भेजे हुए वस्त्र, आभूषण, माला, विलेपन आदि धारण कर रखे थे और वे अनेक प्रसिद्ध राजाओं से घिरे हुए थे। मदोन्मत्त हाथी की तरह सुन्दर गतिवाले नेमि जिनेन्द्र जब सभा में पहुँचे तो सभी राजाओं ने आसन छोड़कर सम्मुख जाकर उन्हें नमस्कार किया। श्रीकृष्ण ने भी आगे आकर उनकी अगवानी की और उन्हें अपने आसन पर साथ ही बैठाया। श्रीकृष्ण और नेमिकुमार से अधिष्ठित वह सिंहासन दो इन्द्रों से अधिष्ठित जान पड़ता था।

अत्यन्त शूरवीर और शारीरिक विभूतियों से सम्पन्न राजाओं से उपासित नेमिकुमार अपनी कान्ति से सबका अतिक्रमण करते हुए श्रीकृष्ण के साथ क्षणभर क्रीड़ा करते रहे।

तभी सभा में बलवानों की गणना छिड़ गयी। कोई अर्जुन की, कोई युद्ध में स्थिर रहनेवाले युधिष्ठिर की, कोई पराक्रमी भीम की, कोई उद्धत सहदेव और नकुल की तो कोई अन्य शूरवीरों की प्रशंसा करने लगा। किसी ने कहा, बलदेव सबसे अधिक बलवान हैं तो किसी ने दुर्धर गोवर्धन पर्वत को उठानेवाले श्रीकृष्ण को सबसे अधिक बलवान कहा।

इस तरह कृष्ण की उस कुसुमचित्रा सभा में आये अनेक राजाओं ने अनेक बातें कहीं। तब बलभद्र ने कुछ लीलापूर्ण दृष्टि से नेमिकुमार की ओर देखकर कहा, ''तीनों जगत् में इनके समान बलवान दूसरा नहीं है। ये अपनी हथेली से पृथिवी तल को उठा सकते हैं, समुद्रों को दूर फेंक सकते हैं और पर्वतराज को कम्पित कर सकते हैं। यथार्थ में ये जिनेन्द्र हैं, इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है?''

बलदेव के वचन सुनकर कृष्ण ने भगवान की तरफ देखा, फिर मुस्कराते हुए कहा, ''अगर आपके शरीर का ऐसा उत्कृष्ट बल है तो बाहु-युद्ध में उसकी परीक्षा क्यों न कर ली जाए?''

भगवान ने एक खास भंगिमा से मुख ऊपर उठाया और कृष्ण से कहा, ''अग्रज, इस विषय में हमें मल्ल-युद्ध की क्या आवश्यकता है? अगर आपको मेरी भुजाओं का बल जानना ही है तो अपने इस आसन से मेरे इस पैर को हिला दीजिए।''

श्रीकृष्ण उसी समय कमर कसकर उठे और भगवान जिनेन्द्र को जीतने की इच्छा से अपना भुजबल आजमाने लगे, लेकिन पैर को हिलाना तो दूर रहा, वे कोमल चन्द्रमा को धारण करनेवाली पैर की एक उँगली को भी हिलाने में समर्थ नहीं हो सके। उनका शरीर पसीने से सराबोर हो गया और मुख से लम्बी-लम्बी साँसें निकलने लगीं।

अन्त में श्रीकृष्ण ने अपना अहंकार छोड़ दिया और सबके सामने स्पष्ट शब्दों में कहा, ''देव, आपका बल लोकोत्तर और आश्चर्यजनक है।''

सभा विसर्जन के बाद नेमि जिनेन्द्र निरहंकार भाव से उठे और राजाओं से घिरे हुए अपने महल में चले गये।

इधर कृष्ण भी उठे और अपने विषय में यह शंका करने लगे कि नेमिकुमार के बल का कोई पार नहीं है। इनके रहते हमारा राज्य-शासन स्थित रहेगा या नहीं? कृष्ण की बुद्धि संक्लिष्ट थी, सरल नहीं थी, इसीलिए उनके मन में नेमि जिनेन्द्र के विषय में भी शंका हो गयी थी। जो भी हो, उस समय से कृष्ण नेमिकुमार की बड़े आदर से सेवा-शुश्रूषा करते हुए और उनके प्रति प्रेम दर्शाते हुए रहने लगे।

एक बार जब वसन्तश्री ने सब दिशाओं को व्याप्त कर लिया था, तब श्रीकृष्ण अपनी रानियों के साथ फूल-भरे गिरनार पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए गये। उनके साथ सभी रानियों के दुलारे नेमिकुमार, अनेक राजा-महाराजा और नगर निवासी भी गये। नेमि, बलदेव और कृष्ण बड़े-बड़े घोड़ों के रथों पर आरूढ़ थे। उन पर सफेद छत्र लगे हुए थे और वृषभ, ताल और गरुड़-चिह्नोंवाली ध्वजाएँ फहरा रही थीं। इनके रथ एक के बाद एक जा रहे थे। इन तीनों के पीछे अनेक कुमारों से घिरा हुआ प्रद्युम्न अपने पुष्पबाण, धनुष तथा मकरध्वज से मार्ग के लोगों को आनन्दित करता हुआ जा रहा था। उसके पीछे अनेक वस्त्राभूषणों से सजे नगर-निवासी यथायोग्य उत्तम वाहनों पर आरूढ़ होकर चल रहे थे। इनके पीछे रानियों की पालकियाँ थीं।

उस समय जनसमूह से संकुल गिरनार पर्वत देव-देवियों से व्याप्त सुमेरु पर्वत की तरह सुन्दर लग रहा था। निकट आने पर सबने अपने-अपने वाहन छोड़े और पर्वत के मध्यवनों में घूमने लगे। उस समय बह रही शीतल सुगन्धित हवा ने सबका सारा श्रम दूर कर दिया था। आमरस को पीनेवाली मधुरभाषी कोकिलाएँ अपनी कुहू-कुहू से न केवल लोगों का मन हर रही थीं, बल्कि उनके कामभाव को प्रदीप्त

भी कर रही थीं। कुरबक और मौलश्री वृक्षों पर मधुपान कर रहे भँवरे रस की तन्मयता को प्राप्त हो गये थे और वह सारा वनप्रदेश उनकी गुंजार और स्त्री-पुरुष के स्वतन्त्र संचार से उद्दाम गुण को धारण कर रहा था। फूलों के भार से वृक्ष झुके हुए थे। ऐसा जान पड़ता था कि स्नेह-भंग होने के भय से ही वे इतने विनम्र हो गये हैं। फूल चुनते वक्त स्त्रियों के हाथ से हिलती उनकी टहनियाँ उनके सर्वांग काम-सुख को प्रकट कर रही थीं। वसन्त के सुगन्ध-संचार में आबद्ध यादव-युगल प्रत्येक वन, प्रत्येक झाड़ी, प्रत्येक लता-मण्डप और प्रत्येक बावड़ी में विहार करते हुए विषय-सुख का उपभोग कर रहे थे।

श्रीकृष्ण सोलह हजार स्त्रियों के राग से अनेकरूपता को प्राप्त हो रहे थे। तभी उन्होंने अपनी स्त्रियों को संकेत किया और श्रीकृष्ण के भ्रूभंग को भी समझने में दक्ष वे स्त्रियाँ पति की आज्ञा पाकर उन रागरंजित वनों में नेमिकुमार के साथ क्रीड़ा करने लगीं। कोई भ्रमरों से घिरकर भयभीत हो उनका हाथ पकड़ने लगी। कोई वक्षस्थल पर उन्हें चूमने लगी। कोई उन्हें सूँघने लगी। कोई उन्हें खींचकर अपनी तरफ घुमाने लगी। कितनी ही स्त्रियाँ साल और तमाल वृक्ष की छोटी-छोटी टहनियों से उन्हें पंखा करने लगीं। कोई उन्हें अशोक वृक्ष के नये पल्लवों का कर्णाभूषण और सेहरा बनाकर पहनाने लगीं। कोई उनके गले में माला डालती। कोई उनके शिर पर कुरबक के फूल फेंकती। इस तरह युवा नेमिकुमार ने उस वसन्त ऋतु को उस गिरनार पर्वत पर कृष्ण की स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते हुए बिता दिया।

अब गर्मी आ गयी और श्रीकृष्ण उसकी तीक्ष्णता को कम करने की इच्छा से ठण्डे निर्झरोंवाले गिरनार पर्वत पर ही निवास करने लगे। नेमिकुमार स्वभाव से ही रागविमुख थे लेकिन कृष्ण की स्त्रियों के उपरोध से वे भी शीतल जल से भरे हुए जलाशय में जलक्रीड़ा करने लगे। वे राजरानियाँ कभी तैरती थीं, कभी लम्बी डुबकियाँ लगाती थीं और कभी पिचकारियों से एक-दूसरे के मुख पर पानी छोड़ती थीं। जब वे अपनी अंजलियों और पिचकारियों से नेमिकुमार के ऊपर जल उछालने लगीं तो उन्होंने उन पर इतना पानी उछाला कि वे समुद्र की ठेल से पीछे हटी नदियों की तरह उलट गयीं। उन सबके इस स्नान ने न केवल लोगों के हृदय को रागरंजित कर दिया, बल्कि अत्यन्त सुगन्धित विलेपनों के धुल जाने से जल को भी रंग दिया।

जिस तरह मतवाली हथिनियों का झुण्ड जलाशय में किसी एक महाहस्ती के साथ दीर्घकाल तक क्रीड़ारत रहता है, वैसे ही ये उन्मादभरी सारी स्त्रियाँ नेमिकुमार के साथ बहुत देर तक जलाशय में खेलती रहीं। पानी में बहुत देर तक रहने के कारण उनकी ग्रीष्मजनित आकुलता दूर हो गयी थी। उनके कर्णाभरण गिर गये थे। तिलक मिट गये थे। आँखें चंचल हो गयी थीं। ओठ धूसरित हो गये थे। मेखला

ढीली हो गयी थी और केश खुल गये थे। अपने इस मुक्त सौन्दर्य के कारण वे स्त्रियाँ रतिकालीन श्री को धारण कर रही थीं।

उन राजकुल की स्त्रियों ने सेविकाओं से लाये वस्त्राभूषण पहने और अपने हाथों से नेमिकुमार का शरीर पोंछकर उन्हें दूसरे वस्त्र पहनाये।

नेमि ने अपने उतरे हुए गीले वस्त्र को निचोड़ने के लिए कुछ विलासपूर्ण दृष्टि से कृष्ण की प्रेमपात्र एवं अनुपम सुन्दरी जाम्बवती को संकेत किया।

चतुर जाम्बवती ने देवर नेमिकुमार का अभिप्राय तत्काल समझ लिया और बात बनाने में पण्डित जाम्बवती नेमिकुमार पर बनावटी क्रोध दिखाने लगी। उसकी आँखें टेढ़ी हो गयीं, ओठ काँपने लगे और वह भौंहें चढ़ाकर, उनकी की तरफ देखकर कहने लगी :

"देवर जी, क्या आप मेरे उन स्वामी को नहीं जानते, जिनके शरीर और मुकुट-मणियों की प्रभा करोड़ों सर्पों की मणिकान्तियों से दूनी हो जाती है; जो कौस्तुभ मणि से देदीप्यमान हैं; जो महानागशय्या पर आरूढ़ होकर अपनी शंख-ध्वनि से आकाश का हृदय विदीर्ण करते हैं। जल की तरह जिनकी नीली आभा है; जो अत्यन्त कठोर शार्ङ्ग धनुष पर डोरी चढ़ाते हैं; जो समस्त राजाओं के अधीश्वर हैं और जिनकी अनेक शुभ-सुन्दर स्त्रियाँ हैं? मेरे वे स्वामी भी कभी मुझे ऐसी आज्ञा नहीं देते, फिर आप कोई विचित्र ही पुरुष जान पड़ते हैं, जो मुझे अपना गीला वस्त्र निचोड़ने का आदेश दे रहे हैं?"

जाम्बवती के वचन सुनकर नेमिकुमार हँसते हुए बोले, "आपने राजा कृष्ण के जिस पौरुष का वर्णन किया है, जरा देखूँ तो, वह संसार में कितना कठिन है?"

इतना कहकर वे वेग से नगर की ओर गये और बड़ी द्रुतगति से राजमहल में घुस गये। वे लहलहाते सर्पों के फनों से दीप्त श्रीकृष्ण की विशाल नागशय्या पर चढ़ गये। उन्होंने शार्ङ्ग धनुष को दूना कर प्रत्यंचा चढ़ायी और पांचजन्य शंख को जोर से फूँक दिया।

शंख की उस भयानक ध्वनि से दिशाएँ, आकाश, समुद्र, पृथिवी-सभी चीजें इस तरह भर गयीं, मानो अब फट ही जाएँगी। हाथियों ने क्षुब्ध होकर अपने खम्भे तोड़ डाले। घोड़े बन्धन तुड़ाकर हिनहिनाते हुए दौड़ने लगे। महलों के गुम्बद और कोने टूटकर गिरने लगे।

श्रीकृष्ण ने अपनी तलवार खींच ली। समस्त राजसभा और नगरनिवासी प्रलयकाल की शंका से आकुल-व्याकुल हो गये।

जब कृष्ण को विदित हुआ कि यह तो उनके पांचजन्य शंख का ही शब्द है तो वे तीव्र गति से आयुधशाला में गये और नेमिकुमार को दिव्य नागशय्या पर अनादरपूर्वक खड़ा देख स्तब्ध हो गये।

ज्योंही कृष्ण को यह मालूम हुआ कि कुमार ने यह कार्य जाम्बवती के कठोर वचनों के प्रतिकार में किया है तो उनका सारा भावातिरेक शान्त हो गया और वे कुमार के इस क्रोधपूर्ण विकार को बड़े प्रेम से देखने लगे।

कृष्ण ने बलदेव आदि स्वजनों के साथ युवा नेमिकुमार का आलिंगन किया और फिर अपने राजभवन में वापस आये। वहाँ अपनी अन्य स्त्रियों से उन्हें मालूम हुआ कि जाम्बवती के निमित्त से कुमार नेमि में कामभाव का उद्दीपन हुआ है तो वे प्रसन्न होकर नेमि के विवाह का विचार करने लगे। उन्होंने नेमि के लिए भोजवंशियों की कुमारी राजीमती को माँगा। पाणिग्रहण-संस्कार की तैयारियाँ बड़े जोरों से होने लगीं। बन्धुजन और राजा लोग अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ कृष्ण के निकट एकत्रित होने लगे।

उस समय वर नेमिकुमार और वधू राजीमती उत्तम वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर परम रूप को प्रकट कर रहे थे। वे अपने-अपने नगर में अपने-अपने महल में रहते हुए सब कुटुम्बीजनों के आनन्द का कारण बने हुए थे।

तभी गर्मी का अन्त हुआ। आकाश मेघमाला से छा गया। प्यासे पथिक आशाभरे नेत्रों से नवोदित मेघों को देखकर अपनी तृष्णा को बुझा हुआ समझने लगे। मयूर और चातक उन्मत्त हो नाचने गाने लगे। पहली बूँदों से नम हुई धरती सोंधी-सोंधी सुगन्ध फेंकने लगी। पृथिवी फूले हुए कुटज, कदम्ब और कोहा के वृक्षों के बहाने अपना माधुर्य प्रकट करने लगी। शिलीन्ध्र के नये-नये दलों ने वन, पर्वतों और गह्वरों को व्याप्त कर लिया।

जो मुनि ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतु के भेद से तीन प्रकार का योग धारण करते हैं, अब उन्होंने ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की शिलाओं पर होनेवाला आतापन योग छोड़ दिया था और अब वे वर्षायोग में वृक्ष और लताओं के नीचे निवास करने लगे थे।

इसी वर्षा ऋतु में एक दिन नेमिकुमार चार घोड़ों से जुते, ध्वजा-पताकाओं और छत्रों से सुशोभित अपने देदीप्यमान रथ पर सवार होकर अनेक राजकुमारों के साथ वनभूमि की तरफ भ्रमण के लिए गये। प्रेम और आनन्द से भरी राजीमती ने नगर की अनेक स्त्रियों के साथ नेमिकुमार का दर्शन किया। उस समय सबके बीच राजीमती की प्यासी आँखें ऐसी लग रही थीं, मानो वे स्वामी के शरीर का सारा रूप-जल पी लेंगी। नेमि भी सबका मन रखते हुए उस विशाल राजमार्ग पर धीरे-धीरे गये। उनके समीप आने पर समुद्र ने अपनी तरंगों की भुजाएँ उठाकर नाचते हुए नर्तक की तरह उनका स्वागत किया। उपवन ने वृक्षों को कतारों में खड़ा कर टहनियाँ फैलाकर उन पर पुष्पांजलियाँ बिखेरीं।

युवा नेमिकुमार वनश्री को देखते हुए जा रहे थे कि वन में ही उन्होंने एक ज़गह भयकम्पित कातर, अनेक जाति के तृणभक्षी पशुओं को देखा। बहुत से पुरुषों से घिरे-बँधे वे प्राणी करुण चीत्कार कर रहे थे।

नेमिकुमार अपने अवधिज्ञान के कारण उन पशुओं के एकत्रित होने का कारण जानते थे। फिर भी उन्होंने तत्काल अपना रथ रोका और मेघगम्भीर आवाज में अपने सारथि से पूछा, "ये अनेक तरह के पशु यहाँ किसलिए रोके गये हैं?"

सारथि ने नम्र होकर हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु, आपके विवाह-उत्सव के लिए जो मांसभोजी राजा आये हैं, उनके लिए अनेक तरह का मांस तैयार करने के लिए यहाँ पशुओं को निरुद्ध किया गया है।"

सारथि का उत्तर सुनकर ज्योंही नेमिकुमार की दृष्टि हिरणों के झुण्ड पर पड़ी, उनका हृदय प्राणिमात्र के लिए दया से द्रवित हो गया।

वे संग आये राजकुमारों की तरफ देखकर कहने लगे, "वन ही जिनका घर है, वन की घास ही जिनका आहार और पानी ही जिनका पान है और जो स्वयं पूरी तरह निरपराध हैं, ऐसे दीनहीन इन मृगों का मनुष्य फिर भी वध करते हैं। अरे, आदमी की निर्दयता तो देखो!

रणसम्मुख होने पर जो कीर्ति का संचय करते हैं और पीछे हटे हुए योद्धाओं पर प्रहार तक नहीं करते, जो क्रुद्ध सिंह, हाथियों, रीछों को तुच्छ समझ दूर से ही छोड़ देते हैं, वे मृग और खरगोश आदि निरीह कोमल प्राणियों पर प्रहार करने के लिए उद्यत हुए हैं, कैसी लज्जा की बात है?

जो शूरवीर काँटा चुभने के डर से स्वयं तो पैर में जूता पहनते हैं और कोमल मृगों को अपने तीक्ष्ण बाणों से बेधना चाहते हैं, यह कैसी विडम्बना है?

निरपराध पशुओं का वध मनुष्य को पहले जिह्वा का विषय-सुख तो दे देता है, लेकिन जब बाद में इसका परिणाम अपना रस देने लगता है तो उसे छः प्रकार की ऐसी योनियों का जीव बनना पड़ता है, जहाँ उसे दूसरे जीवों द्वारा मरना पड़ता है। मनुष्य चाहता तो यह है कि उसे विशाल राज्य की प्राप्ति हो, लेकिन प्राणिवध करके वह निश्चित ही पापबन्ध करता है। अनेक दुखरूप बन्धों से बँधा हुआ यह प्राणी अनेक दुर्गतियों को सहन करता है।

यह आदमी जब दूसरी जीवदशा को प्राप्त था, तब भी भय और दुख की खान खोटे सुखों से प्रभावित रहा है और अब जबकि इसने मनुष्य जन्म पाया है, तब भी इतना मोहग्रस्त हो रहा है कि इस दुख को निर्मूल करने का प्रयत्न ही नहीं करता।

समुद्र में सैकड़ों नदियाँ मिलती हैं, फिर भी वे समुद्र के सन्तोष का कारण नहीं बनतीं। उसी तरह ये लम्बी परम्परावाले पंक्तिबद्ध विषय-सुख भी मनुष्य के सुख का कारण नहीं होते।"

कुमार ने अचानक इस चिन्तन को अपने ऊपर ओढ़ते हुए कहा, "औरों की बात क्या कहूँ? मुझे ही देखो। मैंने विद्याधर-इन्द्र, देवेन्द्र, नरेन्द्र बनकर अनेक जन्मों में अनन्तकाल तक देवोत्कृष्ट सुखों का उपभोग किया है, लेकिन उससे मुझे तृप्ति

नहीं हुई। अब भी मुझे लोकोत्तर सुख उपलब्ध है, पर वह भी निःसार है और मेरी आयु की तरह ही एक दिन नष्ट हो जानेवाला है। फिर इससे मुझे शान्ति कैसे मिल सकती है?

आज मैं इस नाशवान और सन्तापप्रद विषयजन्य सुख को त्यागता हूँ और कठिन अध्यवसायपूर्वक तपता हुआ अविनाशी आत्मजन्य मोक्षसुख को अर्जित करता हूँ।''

नेमिकुमार कुछ सोच रहे थे, कुछ बोल रहे थे। तभी पंचम स्वर्ग में उत्पन्न, चन्द्रमा की तरह श्वेत वर्ण के तुषित, वह्नि, अरुण और आदित्य आदि लौकान्तिक देव वहाँ आ पहुँचे। नमस्कार करके उन्होंने भगवान को सम्बोधा, ''प्रभो, इस समय भरतक्षेत्र में तीर्थ-प्रवर्तन का समय है, इसलिए तीर्थवृत्त कीजिए।''

नेमिकुार स्वयं ही मार्ग के ज्ञाता थे, फिर भी लौकान्तिक देवों के उचित अवसर पर कहे गये ये वचन शुभ परिणामवाले हुए।

नेमिकुमार की आज्ञा से उन निरुद्ध पशुओं को स्वतन्त्र कर दिया गया और वे स्वयं राजकुमारों के साथ नगर में आये। इन्द्रों ने आकर सिंहासनासीन नेमि जिनेन्द्र की स्तुति की और फिर उन्हें स्नानपीठ पर विराजमान कर क्षीरोदक से उनका अभिषेक किया। देवों के लाये हुए माला, विलेपन, वस्त्र और आभूषण भगवान को पहनाये गये।

नेमि सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान थे और कृष्ण, बलभद्र आदि राजा तथा सुर-असुर उन्हें घेरकर खड़े हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो सुमेरुपर्वत घेरकर खड़े कुलाचल हों।

नेमिकुमार ने अपना निर्णय सुना दिया। तप के लिए जाने के उद्यत उन्हें उस समय श्रीकृष्ण, बलभद्र तथा अन्य यदुवंशी और भोजवंशी राजा रोक नहीं सके। भला पिंजरे को तोड़कर निकलनेवाले बलवान सिंह को कोई अनुनय-विनय से कैसे रोक सकता है?

संसार की स्थिति के ज्ञाता नेमिकुमार ने माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बियों को अच्छी तरह समझाकर देवशिल्पी द्वारा पालकी की तरफ प्रस्थान किया।

उत्तरकुरु नाम की वह पालकी ध्वजाओं और सफेद छत्र से मण्डित थी। उसकी दीवारें मणियों से बनी थीं और उस पर बेल-बूटे बने हुए थे। विविध रंग रूपवाली उस पालकी पर नेमि प्रभु इस तरह आरूढ़ हुए, जैसे उदयाचल पर चन्द्रमा आरूढ़ होता है।

सबसे पहले कुछ दूर तक श्रेष्ठ राजाओं ने उस सर्वकल्याणी पालकी को उठाया और

उसके बाद इन्द्रादि देव उसे उठाकर आकाश में ले गये। उस समय आकाश में देवताओं ने आनन्द-ध्वनि की लेकिन वह घोष पृथिवी के श्रीहीन मनुष्यों को बड़ा दुखदायी जान पड़ा। इतना ही नहीं, पृथिवी पर राजीमती के दुःख से पीड़ित भोजवंशी राजकुल का करुण क्रन्दन उस हर्ष-ध्वनि के साथ विषमता को प्राप्त होकर लोगों के कानों को कष्ट पहुँचा रहा था।

नेमि जिनेन्द्र इस दुख और सुख से अलग सघन हुए शान्त रस के समान जान पड़ते थे। देव उन्हें नमस्कार कर रहे थे और अप्सराएँ अनेक भाव-रसों को प्रकट करती हुई उनके सामने इस तरह नृत्य कर रही थीं–मानो सुन्दर जलाशय के निकट मोरनियाँ नाच रही हों।

नेमि जिनेन्द्र कमलश्री को धारण करनेवाले विशाल देव-परिकर के साथ सुमेरु जैसी सुनहरी प्रभावाले गिरनार पर्वत पर पहुँचे।

यह गिरनार पर्वत इतना ऊँचा है कि यहाँ सुबह और शाम के समय सूर्य और चन्द्र को उदित होते नहीं देखा जा सकता। यहाँ के वन फूलों की पवित्राभा और फलों की रसालता से सम्पन्न हैं और तपोगुण धारण करने के कारण नन्दनवन के उपमान को स्वीकार नहीं करते।

अनेक धातुओं से चित्र-विचित्र भूमिवाले गिरनार पर्वत के उस निष्कलंक उपवन में कृष्णसहित आये इन्द्र ने वीतराग नेमि जिनेन्द्र की सम्मति पाकर वह पालकी रख दी।

बीतरागी ने इस पालकी को देवों के हर्ष के लिए स्वीकार किया था। अब अपने नियोजित स्थान पर पहुँचकर उन्होंने विशाल तप धारण करने के उद्देश्य से पालकी का आसन छोड़ दिया और इस पृथिवीतल की माया का भी परित्याग करने के लिए शिलातल पर आसीन हुए। प्रियस्त्री और राज्यलक्ष्मी के त्यागी, बुद्धिमान और धीर-वीर भगवान पद्मासन से विराजमान हुए और उन्होंने पर्दे के अन्दर माला, वस्त्र और सब अलंकार उतारकर परिग्रहरहित लेकिन दयालु भाव से अपनी सुदृढ़ पंचमुट्ठियों से अपने सघन काले कोमल केशों को उखाड़कर फेंक दिया।

नेमि जिनेन्द्र के साथ एक हजार राजाओं ने भी उसी तप को धारण किया। उस समय शिर पर बद्ध कुटिल केशों को उखाड़ते हुए जितेन्द्रिय राजा ऐसे लग रहे थे, मानो चिरकाल से साथ लगे कुटिल शल्यों को ही उखाड़ रहे हों।

इन्द्र ने भगवान के केशों को इकट्ठा कर मणिजटित मंजूषा में रखकर उन्हें क्षीर समुद्र में विसर्जित कर दिया।

उस समय भगवान का शरीर अनिर्वचनीय तेज को प्रकट कर रहा था। सूर्य के आतप ने भी उन मानरहित प्रभु का स्पर्श नहीं किया। अनेक देवकवियों, नर-मुनियों के बीच बैठे नेमि जिनेन्द्र ग्रह-नक्षत्रों के बीच विद्यमान चन्द्रमा की तरह सुन्दर लग

रहे थे। भगवान ने सावन सुदी चौथ के दिन दिव्य दीक्षा धारण की थी इसलिए इस दिन अनेक श्रेष्ठ प्रिय वस्तुओं का त्याग करनेवाले नर, देव, असुरों ने 'दीक्षा कल्याणक' का उत्सव मनाया था। जहाँ भगवान ने वस्त्ररूप परिग्रह का त्याग किया था, वह शीघ्र ही संसार में तीर्थस्थान के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

देवासुर हाथ जोड़कर नेमिप्रभु का स्तवन करने लगे, ''प्रभु, आपने जीवों पर दया करनेवाला अत्यन्त पवित्र महाव्रत धारण किया है। आप शरणागत के रक्षक हैं। क्रोध और तृष्णारहित हैं। उत्तम नय का पालन करनेवाले हैं। मुनि हैं। मननशील हैं। आपको नमस्कार है।'' इस तरह प्रणामपूर्वक उन्होंने भगवान की परिक्रमा की और हृदय में भगवान नेमिनाथ को धारण कर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

द्वारिकापुरी में आहार के लिए आये भगवान को तेजस्वी प्रवरदत्त ने सर्वप्रथम श्रेष्ठ खीर का आहार देकर अद्भुत महिमा प्राप्त की थी।

इधर भगवान नेमिनाथ के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर राजपुत्री राजीमती अपार शोकसमुद्र में डूब गयी। भगवान की तपस्या से वह इस तरह कुम्हला गयी, जैसे सूर्य की धूप से कुमुदिनी कुम्हला जाती है। वह निरन्तर विलाप करती रहती थी और शोकाकुल परिजनों से घिरकर रोती रहती थी। उसके आभूषण ढीले पड़ गये, केश खुल गये और आँखें आँसुओं से परिव्याप्त रहने के कारण गुड़हल के फूल जैसी हो गयीं। वह कभी तो अपने वर का हरण करनेवाले दुर्भाग्य को दोष देती थी और कभी इतने हृदयहारी वर को उलाहना देती थी।

कुछ ज्ञानचेता गुरुजनों ने जब उसे तप धारण करने की प्रेरणा दी, तो उनके हितकारी वचन सुनकर उसका शोक कुछ कम हो गया और उसने अपाय-बाधाओं को नष्ट करनेवाले दुर्भाग्य को दूर करनेवाले शान्तिसुखप्रद तप में चित्त लगाया। सुकोमला राजीमती ने चारित्र व्रत धारण किया है और वह उसके दुख-सन्ताप को नष्ट करनेवाला है, यह सोचकर उसके कुटुम्बियों ने भी शान्ति अनुभव की।

इस बीच द्वारिका में प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को लेकर एक घटना हुई।

उस समय विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में श्रुतशोणित नगर में बाण नाम का अत्यन्त अहंकारी विद्याधर राजा राज्य करता था। उसकी उषा नाम की एक अत्यन्त सुन्दर पुत्री थी। उदारता आदि गुणों में अग्रणी और सभी कोमल कलाओं में निष्णात। वह अपनी किशोरावस्था से ही प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को अपने हृदय में वर चुकी थी। कुमार अनिरुद्ध अत्यन्त कोमल और ऋजु था, पर उषा के हृदय में बाँकी भंगिमा

लेकर समाया हुआ था। इसलिए न तो वह बाहर ही निकलता था और न उसके हृदय को शान्ति ही देता था। उषा ने अपनी मनोव्यथा का भागी किसी को नहीं बनाया था और वह अकेली ही इस महासन्ताप को सहन करती हुई दिन पर दिन दुर्बल होती जा रही थी।

एक दिन उषा की सखी चित्रलेखा ने सहानुभूतिपूर्वक उसके हृदय का सारा हाल जान लिया और सखी का हित करने में तत्पर वह रात के समय कुमार अनिरुद्ध को हरकर विद्याधर-लोक में ले आयी।

सुबह के समय जब युवा अनिरुद्ध की आँख खुली, तो उसने अपने आपको रत्न-किरणों से व्याप्त महल में कोमलशय्या पर सोता हुआ पाया। जागते ही उसने एक कन्या को देखा। वह कन्या सुन्दर देहयष्टि, काम और रोमांच को धारण कर रही थी और सत्पुरुषों का मन मोहनेवाली थी।

उसे देख अनिरुद्ध सोचने लगा—'यह कौन उत्तम स्त्री मेरा मन हर रही है? क्या यह इन्द्राणी है? अथवा नागकन्या है? मनुष्यों में तो मैंने ऐसी स्त्री पहले कभी देखी नहीं।

यह स्थान भी अद्‌भुत और अपूर्व है, जो कुछ भी मैं देख रहा हूँ, वह सत्य है अथवा स्वप्न होने के कारण असत्य है?'

इन अकल्पनीय वस्तुओं को देखकर कुमार इस तरह सोच ही रहा था कि विद्याधरी चित्रलेखा आयी और उसने कुमार को सारा समाचार बताकर उसका सारा संशय दूर कर दिया। उसने एकान्त में उषा और अनिरुद्ध का कंकण-बन्धन करा दिया और स्वयं चली गयी।

देव-देवांगना के समान अनिरुद्ध और उषा का समय प्रेम-सुखसागर में डुबकियाँ लगाते हुए सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा।

इधर जब श्रीकृष्ण को अनिरुद्ध के हरे जाने का वृत्तान्त मालूम हुआ, तो वे बलदेव, प्रद्युम्न और शम्ब आदि यादवों को लेकर अनिरुद्ध को लाने के लिए आकाशमार्ग से राजा बाण की नगरी में पहुँचे। चतुरंग सेना के इस युद्ध में विद्याधरों का अधिपति बाण पराजित हुआ और कृष्ण द्वारिका लौट आये। अनिरुद्ध और उषा को पाकर द्वारिका का सुख-सौन्दर्य दूना हो गया और सारे यादव इस नवीन सुख से अपने को परिवृद्ध अनुभव करने लगे।

अठारहवाँ प्रकरण

भगवान नेमि के केवलज्ञान का समय समीप आ रहा था। उन्होंने व्रत, गुप्ति और समितियों से उत्कृष्टता प्राप्त की थी और परीषहों को दु:ख न मानते हुए सहन किया था। रत्नत्रय और तपोलक्ष्मी से सुशोभन नेमिनाथ उज्ज्वल बुद्धि के स्वामी थे। उन्होंने साधारण मनुष्यों से किये जानेवाले आर्त और रौद्र नाम के अप्रशस्त ध्यान का त्याग किया था और अब वे धर्म्य और शुक्ल—इन प्रशस्त ध्यानों के लिए उद्यत थे।

जो पुरुष मोक्ष के इच्छुक होते हैं, वे आर्त-रौद्र, दोनों अशुभ ध्यानों को छोड़कर शुद्ध भिक्षा-मुनि होकर धर्म और शुक्लध्यान में अपना चित्त लगाते हैं। जब मुनि को एकान्त प्रासुक और उपद्रवरहित स्थान, दिव्य संहनन द्रव्य, सर्दी-गर्मी की बाधा से रहित काल और निर्मल अभिप्राय रूप श्रेष्ठ भाव प्राप्त होता है, तब समस्त बाधाओं को सहन करने में सक्षम वह मुनि प्रशस्त ध्यान का आरम्भ करता है। ध्यानी पुरुष गम्भीर, निश्चल शरीर और सुखद पर्यंकासन से युक्त होता है। उसके नेत्र न तो अधिक खुले होते हैं और न बन्द ही होते हैं। नीचे के दाँतों के अग्रभाग पर उसके ऊपर के दाँत सहज स्थित होते हैं। वह इन्द्रियों के सारे व्यापार से निवृत्त हो चुका होता है। श्रुत का पारगामी होता है और उसका श्वासोच्छ्वास मन्द गति से चलता है। मुमुक्षु मनुष्य अपनी मनोवृत्ति को नाभि के ऊपर हृदय, ललाट अथवा मस्तक में स्थिर कर आत्मा को एकाग्र करता हुआ इन दो श्रेष्ठ ध्यानों का चिन्तन करता है।

बाह्य अथवा आध्यात्मिक भावों का जो यथार्थ (याथात्म्य) भाव है, वह धर्म कहलाता है। इस धर्मयुक्त स्थान को धर्म्यध्यान कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से धर्म्यध्यान के दो प्रकार के लक्षण हैं—शास्त्र के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना। गुणों में अनुराग रखना। अंगड़ाई-छींक-डकार जमुहाई तथा श्वासोच्छ्वास में मन्दता होना। शरीर को निश्चल रखना तथा आत्मा को व्रतयुक्त करना—यह धर्म्यध्यान का बाह्य लक्षण है। आभ्यन्तर लक्षण अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, वैराग्य विचय, भव विचय,

संस्थान विचय, आज्ञा विचय और हेतु विचय के भेद से दस प्रकार का होता है। विचय शब्द का अर्थ है—मीमांसा अथवा विचार।

मन, वचन और काय—इन तीन योगों की प्रवृत्ति ही संसार का कारण है। इन प्रवृत्तियों का अपाय अर्थात् त्याग कैसे हो सकता है? इस शुभलेश्या से अनुरंजित चिन्तन करना 'अपाय विचय' नाम का प्रथम धर्म्यध्यान माना गया है।

पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय है। यह उपाय मुझसे किस तरह हो सकता है, इस तरह विचार करते रहना 'उपाय विचय' नाम का दूसरा धर्म्यध्यान है।

यह जीव आदि-अन्त रहित है और सादि-सान्त भी है। असंख्यात प्रदेशी है, शरीर रूप अचेतन उपकरण से युक्त है और अपने किये धर्म का फल भोगता है। इस तरह जो जीव का ध्यान करता है, वह 'जीव विचय' नाम का तीसरा धर्म्यध्यान है।

ज्ञानावरणीय आदि जो आठ कर्म हैं, उनके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार प्रकार के बन्ध हैं। इनके विपाक फल का विचार करना 'विपाक विचय' नाम का पाँचवाँ धर्म्यध्यान है।

शरीर अपवित्र है और भोग जो हैं वे किंपाक फल की तरह मनोहर लेकिन दुष्परिणामकारी हैं। इनसे विरक्त रहना ही श्रेयस्कर है। इस तरह विचार करने को 'विराग विचय' धर्म्यध्यान कहते हैं।

मनुष्य, तिर्यक् आदि चार गतियों में भ्रमण करनेवाले जीवों को मरने के बाद जो जन्म मिलता है, उसे भव कहते हैं। इस भव को दुखरूप मानते हुए चिन्तन करते रहना 'भव विचय' नाम का सातवाँ धर्म्यध्यान है।

यह लोकाकाश अलोकाकाश में स्थित है और चारों तरफ से तीन वायुमण्डलों से वेष्टित है। इस तरह लोक के संस्थान-आकार का विचार करना 'संस्थान विचय' धर्म्यध्यान है।

इन्द्रियों से अगोचर जो बन्ध मोक्ष आदि पदार्थ हैं, उनमें जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के अनुसार निश्चय का ध्यान करना 'आज्ञा विचय' नाम का नौवाँ धर्म्यध्यान है।

तर्क का अनुसरण करनेवाले जो लोग स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर सन्मार्ग का आश्रय, ग्रहण और चिन्तन करते हैं, वह 'हेतु विचय' नाम का दसवाँ धर्म्यध्यान है।

इस दस प्रकार के धर्म्यध्यान की अवस्थिति अप्रमत्त गुणस्थान में होती है। ध्यान में तत्पर मनुष्यों को यह ध्यान अवश्य ही करना चाहिए। यह स्वर्गरूप फल को साक्षात् देनेवाला है और मोक्ष रूप फल को क्रमशः परम्परा से प्रदान करता है।

जो शुचिता के सम्बन्ध से होता है, वह शुक्लध्यान कहलाता है। दोष का अभाव होना ही शुचिता है। बाह्य और आध्यात्मिक के भेद से शुक्ल ध्यान भी दो प्रकार का है। बाह्य शुक्लध्यान में श्वासोच्छ्वास के कारण होनेवाले अँगड़ाई, जमुहाई आदि दोष छूट जाते हैं। आध्यात्मिक शुक्ल ध्यान वह होता है जो मनुष्य को अपने आप अनुभव में आता है अर्थात् स्वानुभव का विषय और स्वयंसंवेद्य होता है और दूसरा जिसका अनुमान मात्र ही लगा सकता है।

जैसे किसी अतीक्ष्ण शस्त्र से किसी वृक्ष को धीरे-धीरे काटा जाता है, वैसे ही शुद्धता का वेग उतना तीव्र न होने के कारण निश्चलचित्त का मुनि मोहनीय कर्म को धीरे-धीरे शान्त करता हुआ क्रमशः कर्मनिर्जरा के कारण द्रव्य से द्रव्यान्तर को, पर्याय से पर्यायान्तर को, व्यंजन से व्यंजनान्तर को और योग से योगान्तर को प्राप्त होता है। यह शुक्लध्यान क्षय और उपशम दोनों भावों को धारण करता है और समस्त पूर्व स्थितियों के ज्ञाता मुनि के अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। यह ध्यान उपशम गुणस्थान में हो तो स्वर्ग देता है और क्षपक गुणस्थान में होने पर मोक्ष का कारण है।

शुक्ल ध्यान की ही एक दूसरी अवस्था वह है, जब ध्यान अणुओं अथवा पर्यायों की तरफ न जाकर एक ही अणु और एक ही पर्याय की ओर प्रवृत्त होता है। और इस तरह मोह आदि घातिया कर्मों का घात कर देता है। इस ध्यान के प्रभाव से मुनि ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य और चारित्र आदि क्षायिक भावों को धारण करने लगता है। अब वह तीर्थंकर और सामान्य केवली होकर सबका पूज्य और सेवनीय और तीनों लोकों का स्वामी हो जाता है।

जब केवली भगवान की आयु के समान ही तीन अघातिया कर्मों की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त भर रह जाती है तब वे समस्त वचन योग, मनोयोग और स्थूल कर्मयोग को छोड़कर स्वभाव से ही प्रतिपाति नाम के परम शुक्लध्यान को प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। लेकिन जब उन केवली भगवान की स्थिति और तीन अघातिया कर्मों की स्थिति में कालभेद हो, अर्थात् भगवान की आयु अन्तर्मुहूर्त की शेष हो और अघातिया कर्मों की स्थिति हो, अर्थात् अधिक हो, तब वे अपने आप चार समयों द्वारा आत्मप्रदेशों को फैलाकर और उतने ही समयों में उन्हें संकुचित कर सब कर्मों की स्थिति बराबर कर लेते हैं। इस क्रिया के समय वे विशिष्ट भाव का अवलम्बन लेते हैं और सामयिक भाव तथा महासंवर से युक्त होते हैं। वे नवीन कर्मों का स्राव बन्द कर देते हैं, सत्ता में विद्यमान कर्मों को नष्ट करने में सक्षम होते हैं।

यह सब करने के बाद जब केवली भगवान पूर्व शरीर प्रमाण हो जाते हैं, तब वे समुच्छिन्नक्रिय नाम के दूसरे परमशुक्ल ध्यान को प्राप्त करते हैं। इस ध्यान के

समय समस्त कर्मों के बन्ध और आस्रवों का निरोध हो चुकता है। ध्यानी अयोग हो जाता है और उसके मोक्ष का साक्षात्कारण प्रकट हो जाता है। उस कारण को यथाख्यातचारित्र कहते हैं। अब अयोग केवली आत्मा समस्त कर्मों को नष्ट कर जात्य स्वर्ण के समान प्रकट हुई चेतनाशक्ति से देदीप्यमान हो उठता है। इसी समय वह सिद्ध होता हुआ अनादि सिद्ध ऊर्ध्वगमन स्वभाव आदि कारणों से अग्निशिखा आदि की तरह ऊपर जाता हुआ ऊर्ध्वलोक के अन्त में पहुँच जाता है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्धात्मा लोकान्त का उल्लंघन कर आगे नहीं जाता। वह उसी स्थान पर अनन्त सुख का उपभोग करता हुआ विराजमान हो जाता है।

मनुष्य मात्र के लिए मोक्ष ही सर्वहितकारी है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष का लक्षण है और मोक्ष ध्यान से ही प्राप्त होता है।

भगवान नेमिनाथ ने धर्म्यध्यान का यथाक्रम ध्यान करते हुए छप्पन दिन समीचीन तपश्चर्या में बिताये। इसके बाद आश्विन शुक्ल प्रतिपदा के दिन प्रात:काल में भगवान ने शुक्लध्यान की अग्नि से चार घातिया कर्मों के महावन को जला दिया और तीनों इन्द्रों के आसन कम्पित करनेवाला जनदुर्लभ केवलज्ञान प्राप्त किया। घण्टारव गूँज उठा। सिंहनाद से दिशाएँ कम्पित हो गयीं। और शंख-दुन्दुभियों का नाद आकाश में व्याप्त हो गया। इन सबकी समवेत ध्वनि से देवताओं ने निश्चय कर लिया कि जिनेन्द्र भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। तीनों लोकों के इन्द्र अपने डोलते सिंहासनों से उठकर समुद्रों की तरह उमड़ती सेनाओं के साथ गिरनार पर्वत की तरफ चल पड़े।

उस समय गिरनार पर्वत अपने ऊँचेपन का अभियान करनेवाले सुमेरु पर्वत को भी नीचा कर रहा था। सुमेरु पर्वत पर भगवान का केवल जन्मकल्याणक अभिषेक हुआ था। गिरनार पर्वत पर ही दीक्षाकल्याणक और ज्ञानकल्याणक दोनों ही सम्पन्न हुए थे।

अपने वाहनों और देव समुदायों से आकाश को व्याप्त करनेवाले इन्द्रों ने आकर गिरनार पर्वत की तीन परिक्रमाएँ कीं। मन्दार वृक्षों से फूलों की वर्षा होने लगी। देवांगनाएँ सुन्दर संगीतमय नृत्य करने लगीं। लोकों के शोक को नष्ट करनेवाला अशोक वृक्ष फल-फूलों से भर गया। तीन लोक की विभुता को प्रकट करनेवाले तीन श्वेतछत्र शिर पर तन गये। हंसों की पंक्तियों की तरह सफेद हजारों चमरों ने पर्वत प्रदेश को धवल कर दिया। अपनी कान्ति से सूर्यमण्डल को भी निष्प्रभ करनेवाला भावमण्डल प्रकट हो गया। अपनी रत्नकिरणों से इन्द्रधनुष को जन्म देनेवाला स्वर्ण सिंहासन आविर्भूत हो गया। अनेक स्तुतियाँ दिव्यध्वनि बनकर ऊपर उठने लगीं।

इस तरह अनन्त विभूतियों से विभूषित, केवलज्ञान के उत्कर्ष से महिमाशाली,

तीनों लोकों के उद्धारक, हरिवंश के शिरोमणि नेमिनाथ भगवान बाईसवें तीर्थंकर के रूप में पृथिवी पर प्रकट हुए।

स्तुति के बाद देवों ने इन्द्र की आज्ञा से गिरनार पर्वत पर क्षणभर में समवसरण की रचना कर दी। भगवान नेमिनाथ के समवसरण की यह दिव्य भूमि सब तीर्थंकरों के समवसरण की तरह ही स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची थी और तीनों जगत् के जीवों के लिए शरणरूप थी। यह चौकोर, सुखदायी और देश-काल के अनुरूप आवश्यक विस्तारवाली थी। इसका आकार कमल की तरह था। गन्धकुटी कर्णिका की तरह ऊँची उठी हुई और बाह्यभूमि कमलदल की तरह फैली हुई थी। इन्द्रनीलमणि से निर्मित, दर्पण की तरह निर्मल यह भूमि प्रवेश करनेवाले असंख्य प्राणियों को एक साथ स्थान देने में सक्षम थी।

जहाँ माननीय इन्द्र आदि देव दूर से ही भगवान की पूजा कर रहे थे, उस मानांगण नाम की भूमि की चारों दिशाओं में चार महावीथियाँ थीं, जिनके बीच में चार मानस्तम्भों के पीठ थे। इन पीठों पर रत्न और सुवर्ण की बनी हुई मूर्तियाँ थीं और मनुष्य, देव, असुर उन्हें नमस्कार कर रहे थे। जहाँ खड़े होकर देव और मानव मानस्तम्भों की पूजा कर रहे थे, वह आस्थानांगणा नाम की भूमि थी—देदीप्यमान लाल मणियों से प्रभामयी। ये मानस्तम्भ बारह योजन दूर से दिखाई देते थे। इनका नीचे का भाग हीरे का, मध्य भाग स्फटिक का और मुख भाग वैदूर्यमणि का बना हुआ था। हर एक मानस्तम्भ अपने हजारों कोणों से रत्नों की मिली-जुली किरणें बिखेरता था। इनकी चारों दिशाओं में ऊपर सिद्धों की प्रतिमाएँ विराजमान थीं और उनकी रत्नजटित बड़ी-बड़ी पालिकाएँ थीं। पालिकाओं के अग्रभाग पर स्थित कमलों के ऊपर सोने के कलश थे। उन कलशों से लगी हुई सीढ़ियों पर लक्ष्मीदेवी के अभिषेक की शोभा दिखलाई पड़ रही थी। ये मानस्तम्भ अपने कान्तिपुंज से बीस योजन तक का क्षेत्र प्रकाशमान कर रहे थे और अहंकारी देव-मानवों को बाहर ही रोक देते थे।

उन मानस्तम्भों के चारों तरफ चार सरोवर थे। खिले हुए कमलों से भरे हुए। सरोवरों के आगे एक वज्रकोट था—परिखा से घिरा हुआ। इस परिखा की भूमि जलकान्ति से सम्पन्न मणियों से बनी हुई थी और उसमें घुटने-घुटने स्वच्छ पानी भरा था जो पृथिवी की नीली साड़ी की तरह जान पड़ता था। उसके आगे सुगन्धित लताओं से सुशोभित वन और उसके आगे चार बड़े गोपुर थे। उन गोपुरों पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल थे। उनके हाथों में वलय थे और मुद्गर थे। वे अपने प्रभाव से अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते रहते थे। उन गोपुरों के मणिमय तोरणों के दोनों

ओर एक सौ आठ-एक सौ आठ की संख्या में अष्टमंगल द्रव्य सदा विद्यमान रहते थे। उन गोपुरों की वीथियों के दोनों तरफ तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्यशालाएँ थीं, और हर एक में बत्तीस देवकन्याएँ नृत्य कर रही थीं।

पूर्व दिशा में अशोक वन, दक्षिण में सप्तवर्ण वन, पश्चिम में चम्पकवन और उत्तर में आम्र वन सुशोभित थे। इन चारों वनों में अशोक वन का अशोक वृक्ष, सप्तकर्ण वन का सप्तपर्ण वृक्ष, चम्पक वन का चम्पक वृक्ष और आम्र वन का आम्र वृक्ष स्वामी था। इन वनों के स्वामी वृक्षों के नीचे सिद्धों की प्रतिमाएँ विराजमान थीं। उन वनों में अनेक आकारों की बावड़ियाँ थीं। उनके तट रत्ननिर्मित और उनकी भूमि शुद्ध स्फटिक से बनी हुई थी। ये सभी बावड़ियाँ, तोरण, सीढ़ियाँ और ऊँची-ऊँची वेदिकाओं से युक्त थीं। प्रवेश करने में गहरी और दो कोस चौड़ी थीं। अशोक वन की वीथिकाओं के नाम थे—नन्दा, नन्दोत्तरा, आनन्दा, नन्दवती, अभिनन्दिनी और नन्दघोषा। विजया, अभिजया, जैत्री, वैजयन्ती, अपराजिता और जयोत्तरा—ये छह वापिकाएँ सप्तपर्ण वन की थीं। चम्पक वन की वापियाँ कुमुदा, नलिनी, पद्मा, पुष्करा, विश्वोत्पला और कमला थीं और आम्र वन की वापिकाएँ, भास्वती, भासा, सुप्रभा, भानुमालिनी और स्वयंप्रभा नाम से प्रसिद्ध थीं। क्रम को जाननेवाले भक्तजन उन वापिकाओं से फूलों के गुच्छे लेकर क्रमपूर्वक जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हुए आगे प्रवेश कर रहे थे।

उदय और प्रीति देनेवाली बावड़ियों के बीच के मार्ग के दोनों ओर तीन खण्ड की प्रकाशमान बत्तीस नाट्यशालाएँ थीं। डेढ़ कोस चौड़ी इन नाट्यशालाओं की भूमि रत्नों की तथा दीवारें स्फटिक की बनी थीं। वहाँ ज्योतिष देवों की स्त्रियाँ हाव-भाव विलासपूर्ण नृत्य कर रही थीं।

जो बावड़ियाँ प्रीति और कल्याण रूप फल प्रदान करती हैं, उनके बीच के मार्ग में दोनों ओर पाँच खण्ड की नृत्यशालाएँ थीं, जिनमें भवनवासी देवों की देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं। इन नृत्यशालाओं के आगे जो रत्ननिर्मित चार गोपुर थे, उनके दोनों पार्श्वों में सुवर्ण-पीठों पर जलभरे दो-दो मंगलकलश रखे हुए थे। उनके कण्ठ मालाओं से लिपटे हुए थे और मुख भाग पर कमल शोभित थे। इन गोपुरों से अलंकृत यह दूसरा स्वर्णकोट था, जिसके द्वारों पर भवनवासी देवों के इन्द्र बेंत की छड़ी लिये हुए पहरा दे रहे थे।

उससे आगे चारों दिशाओं में कल्पवृक्षों का वन था—सिद्धार्थ वृक्षों और सिद्धप्रतिमाओं से महिमावान। इसके बाद चार गोपुरोंवाली, वनरक्षक अन्तर्वेदिका थी और सर्वमंगलकारी नौ-नौ स्तूप थे। ये स्तूप पद्मराग मणियों से बने थे और उन्हीं के निकट मुनियों और देवों के योग्य स्वर्ण और रत्नों के बने सभागृह थे।

सभागृहों के बाद आकाशस्फटिक से बना सात खण्डों और चार द्वारोंवाला

तीसरा कोट था। इसके पूर्व द्वार के आठ नाम थे—विजय, विश्रुत, कीर्ति, विमल, उदय, विश्वधुक, वासवीर्य और वर। दक्षिण द्वार के नाम थे–वैजयन्त, शिव, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, अनघ, धारण, याम्य और अप्रतिघ। पश्चिम द्वार को जयन्त, अमितसार, सुधाम, अक्षोभ्य, सुप्रभ, वरुण, वरद आदि कहा जाता था और उत्तर द्वार अपराजित, अर्थ, अतुलार्थ, उदक, अमोघक, उदक, अक्षय और पूर्णकामक नामों से प्रसिद्ध था। इन द्वारों के पार्श्वों में उत्तम आसनों के बीच वे दर्पण जड़े हुए थे, जो देखनेवालों को उनके पूर्वजन्म दिखला रहे थे। इन दर्पणों के कारण वे द्वार सूर्य की प्रभा को भी मलिन कर रहे थे। इन द्वारों में कल्पवासी देव द्वारपाल थे और बीच-बीच में 'जय हो', 'कल्याण हो' की ध्वनि कर रहे थे।

इन तीनों कोटों से कुछ दूर आगे अनेक वृक्षों और लतामण्डपों से व्याप्त प्रेक्षागृह थे। नाट्यशालाएँ थीं। सिद्धार्थवृक्ष थे और आगे एक मन्दिर था, जिसे स्तूप इस तरह घेरे हुए थे, मानो सोने के चार मेरुपर्वत जम्बूद्वीप के महामेरु को घेरकर खड़े हों। इनके चारों तरफ चार बावड़ियाँ थीं—नन्दा, भद्रा, जया और पूर्णा। ये वापियाँ पवित्र जल से भरी और पापनाशिनी थीं। इनमें देखनेवाले प्राणियों को अपने पिछले सात जन्मों का दर्शन मिल रहा था।

आगे एक जयांगण था—एक कोस ऊँचा और एक योजन से कुछ अधिक चौड़ा। इसकी गज भर ऊँची पीठों पर कदली-ध्वजाएँ हिल रही थीं। इस आँगन के ऊँचे द्वारों से लोग निरन्तर आ-जा रहे थे। इसके फर्श पर मोतियों की सफेद बालू बिछी हुई थी, जिसे मूँगों की लाल बालू की रेखाओं से रूपांकित किया गया था। रत्न पुष्पों और स्वर्णकमलों से यह जयांगण विशेष विभव को धारण कर रहा था। कहीं सोने के पानी के वर्तुल मण्डल बनाये गये थे तो कहीं अनेक कलाचित्रों को प्रदर्शित किया गया था।

समवसरण के इस विभव से देव-असुर और मनुष्यों के निवास के लिए आश्चर्यजनक विभूतियों से युक्त भवन बने हुए थे। इन भवनों में पुराणों में वर्णित अनेक कथानकों को लिखा हुआ देखा जा सकता था। इन भवनों के माध्यम से पुण्यशाली लोग धर्म का साक्षात् फल देख रहे थे और इन्हीं भवनों के आधार से पाप का परिपाक दिखलाकर अधर्म का फल दिखलाया जा रहा था। दान, शील, तप और पूजा के श्रेयस्कर परिणाम और उनके अभाव में आनेवाली विपदाओं के प्रदर्शन द्वारा लोगों में श्रद्धा के बीज बोये जा रहे थे। उस जयांगण के बीच में सोने की पीठ पर इन्द्रध्वज शोभित हो रहा था। वह भगवान की विजयलक्ष्मी का मूर्तिमान शरीर ही प्रतीत हो रहा था। उस इन्द्रध्वज में एक पताका लगी हुई थी, जो प्रदीप्तिवान लट्टुओं, लटकती हुई मुक्तामालाओं और मणियों की जगमग ज्योति से अत्यन्त सुन्दर लग रही थी। जब हवा का झोंका लगता था, तो पताका की

घण्टियों की महीन टणकार सारे आँगन को संगीतमय कर देती थी। ऊपर उठती हुई किरणमालाओं के संग फहराती हुई वह पताका ऐसी लग रही थी, मानो समुद्र से कोई ज्योतिर्मयी लहर ही उठ रही हो। इन्द्र आदि देवता उसे बड़े कौतुक से देख रहे थे।

जयांगण के आगे एक हजार खम्भों पर खड़ा हुआ 'महोदय' नाम का मण्डप था। मूर्तिमती श्रुतदेवता वहाँ विद्यमान थीं। अनेक धीर-वीर बहुश्रुत मुनियों से घिरे श्रुतकेवली इन श्रुतदेवता को दायें भाग में विराजमान करके कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान कर रहे थे। 'महोदय' मण्डप के अलावा यहाँ चार परिवार-मण्डप और थे, जिनमें कथावाचक पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएँ कह रहे थे। इन मण्डपों के निकट अनेक छोटे-छोटे स्थान बने हुए थे, जिनमें महाऋद्धियों के स्वामी ऋषि जिज्ञासुओं को उनकी इष्ट वस्तु का निरूपण कर रहे थे।

और आगे बढ़ने पर अनेक किस्म की लताओं से घिरा हुआ एक सुवर्णपीठ था। सांसारिक जीव उसकी अनेक तरह से पूजा कर रहे थे। श्रीपद इस पीठ का द्वार था—रत्नों और फूलों से चित्रविचित्र तथा मार्ग के बीच में बने हुए सूर्य-चन्द्रतुल्य ज्योतिर्मय मण्डलों से सज्जित। श्रीपद द्वार के दोनों तरफ 'प्रभासक' नाम के दो मण्डप थे, जिनमें सामने ही मनोवांछित फल देनेवाले निधियों के स्वामी दो देव खड़े हुए थे। उनके सम्मुख 'प्रमदा' नाम की दो विशाल नाट्यशालाएँ थीं, जिनमें कल्पवासिनी अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं।

जयांगण के कोनों में एक योजन ऊँचे चार लोकस्तूप थे, जो नीचे के भाग में, मध्यभाग में झालर, ऊपर मृदंग और एकदम शीर्ष में ताड़वृक्ष के समान आकार-वाले थे। इनका रूप पारदर्शी स्फटिक की तरह था। इसलिए इनके भीतर की रचना को स्पष्ट देखा जा सकता था। दर्पण की तरह स्वच्छ इन स्तूपों की लोक-रचना स्पष्ट दिखाई देती थी।

लोकस्तूपों के आगे 'मध्यलोक' नाम के प्रसिद्ध स्तूप थे। चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमाओं से सुशोभित। फिर थे 'कल्पवास' स्तूप, जो दर्शकों को कल्पवासी देवों की विभूतियाँ प्रत्यक्ष दिखा रहे थे। इनके आगे 'ग्रैवेयक' स्तूप थे। ग्रैवेयक आकारवाले इन स्तूपों के बाद 'अनुदिश' नाम के नौ स्तूप थे, जिनमें प्राणी नौ अनुदिशाओं को प्रत्यक्ष देख रहे थे। अब ये सब प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले 'सर्वार्थसिद्धि' नाम के स्तूप और इसके बाद स्फटिक की तरह निर्मल 'सिद्धस्तूप' दिखाई दे रहे थे, जहाँ दर्पणबिम्बों की छाया सिद्धों के स्वरूप को प्रकट कर रही थी। सिद्धस्तूपों के बाद उन स्तूपों को देखा जा सकता था, जो अपने ज्योतिर्मय शिखरों के कारण 'भव्यकूट' कहलाते हैं। साधारण प्राणी इन 'भव्यकूट' स्तूपों को नहीं देख सकते, क्योंकि इनके प्रभा-प्रभाव से उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं। उनके

बाद 'प्रमोह' नाम के स्तूप थे, जिन्हें देखकर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और चिर अभ्यस्त और गृहीत वस्तु को भी भूल जाते हैं। आगे चलकर 'प्रबोध' नाम के स्तूप थे, जिन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त करते हैं और साधु होकर निश्चित ही संसार से छूट जाते हैं।

इस तरह ये दसों स्तूप अपनी-अपनी लाक्षणिकता प्रकट करते हुए प्रकाशमान थे। ये अपनी वेदी-पीठिकाओं से एक-दूसरे के साथ सटे हुए थे और बड़े-बड़े तोरणों से अत्यन्त भव्य जान पड़ते थे।

इन दस स्तूपों के आगे एक परिधि थी जो एक कोस चौड़ी और एक धनुष ऊँची थी। इसके मण्डल को बचाकर देव और मनुष्य इसमें प्रदक्षिणा कर रहे थे। जिस तरह सूर्य का प्रभा-परिवेश सूर्यमण्डल को घेरता है, वैसे ही रत्नमयी यह परिधि भीतर के देदीप्यमान मण्डल को घेरे हुए थी। गणधर देव की इच्छा करते ही वहाँ एक दिव्य नगर का निर्माण हो जाता था। कल्पज्ञानी लोग उस नगर को त्रिलोकसार, श्रीकान्त, श्रीप्रभु, शिवमन्दिर, चित्रकूट, गगनाभोग, अयोध्या, आदित्यपुरी आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। भगवान के प्रभाव से उत्पन्न उस नगर में तीनों लोकों के समस्त श्रेष्ठ पदार्थ विद्यमान थे। उस नगर का निर्माण छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और अनेक प्रकार की मणियों से हुआ था।

इस नगर के तलभाग में तीन जगतियाँ थीं, जो चित्रविचित्र रत्नों से उज्ज्वल, वज्रमयी और अपनी कान्ति से इन्द्रधनुषों का विस्तार कर रही थीं। छाती जितने ऊँचे बरण्डे इन जगतियों को जगमग कर रहे थे और उन पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर पताकाएँ फहरा रही थीं। उन जगतियों के दोनों ओर के द्वारों पर कुबेर की अपार धनराशि प्रकाशमान थी और वहाँ दो-दो द्वारपालों का पहरा था। यहाँ के जलसिक्त प्रदेशों में रत्नमण्डित अनेक मण्डप थे और शिखरों के मध्यभाग में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान थीं। वैसे ये प्रतिमाएँ अपने स्थानों पर ही स्थित थीं, लेकिन सामने खड़े दर्शकों को ऐसा लग रहा था कि ये अपने स्थानों से निकलकर आकाश में विद्यमान हों।

वहाँ चारों दिशाओं में तीन पीठ थे। पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित थे। दूसरे पीठ पर आठ प्रकार की महाध्वजाएँ विद्यमान थीं। तीसरे पीठ पर अनेक मंगलद्रव्यों से युक्त 'गन्धकुटी' नाम का प्रासाद था और उसमें भगवान का सिंहासन रखा हुआ था। सन्तुष्ट मनुष्य, देव और असुर माथे पर हाथ लगाकर सिंहासन पर विराजमान जिनेन्द्र भगवान नेमिनाथ की स्तुति कर रहे थे। वे कह रहे थे, "हे महादेव, आपकी जय हो! हे महेश्वर, आपकी जय हो! हे महाबाहु, आप विजयी हों! हे विशाल नेत्र, आप जयवन्त हों!"

मुनियों सहित भगवान के बारह गणधर जिनेन्द्र नेमिनाथ को प्रणाम कर उनकी

उपासना कर रहे थे। वरदत्त ने उसी समय दीक्षा ली थी और वह अपने अधिकार से गणों का स्वामी प्रथम गणधर हो गया था।

उत्कृष्ट वर को प्रदान करनेवाले भगवान नेमिनाथ के आगे बारह सभाओं में मुनियों सहित वरदत्त आदि बारह गण आसीन थे। धर्म के स्वरूप के प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण वे साक्षात् धर्मेश्वर के अंशरूप जान पड़ते थे। उनके बाद कल्पवासिनी देवियाँ बैठी हुई थीं, जो भगवान की बाहरी और अन्तर विभूतियों की तरह लगती थीं। इसके बाद तीसरी सभा में आर्यिकाएँ विराजमान थीं। राजीमती ने छह हजार रानियों के साथ दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रधान आर्यिका का पद प्राप्त किया था। ये सब लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणों से मण्डित थीं, और भगवान की विशिष्ट भक्ति से सम्पन्न थीं तथा उनके निकट बैठी हुई तीन लोकों की लक्ष्मियों की भाँति लग रही थीं। सातवीं सभा में मणिरत्नों की रक्तिम कान्ति से व्याप्त शरीरवाले भवनवासी देव भवभय से व्याकुल होकर भगवान के समीप बैठे थे। आठवीं सभा में सुदर्शन रूपधारी व्यन्तर देव भगवान के भूषण बनकर बैठे हुए थे और फूलमालाएँ पहनने के कारण मन्दराचल की तरह लग रहे थे। नौवीं सभा में सूर्य आदि ज्योतिषी देवों का समूह था। उनकी प्रभा भगवान की ज्योति में लय हो गयी थी। दसवीं सभा में जिनेन्द्र के चरणों में झुके स्वामी इन्द्र आदि कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे। वे भगवान के ऊर्ध्वमुखी अंशों की तरह जान पड़ते थे। ग्यारहवीं सभा में चक्रवर्ती राजा मूर्तिमान दान-दक्षिणा की तरह भगवान की उपासना कर रहे थे। बारहवीं सभा में हाथी, सिंह आदि तिर्यंच जीव थे। उनके अविद्या, वैर, माया आदि दोष नष्ट हो गये थे और उन्हें विद्या, क्षमा आदि तद्गुणों की प्राप्ति हुई थी।

इस तरह बारह सभाओं के बारह गण परिक्रमापूर्वक भगवान की उपासना कर रहे थे।

भगवान नेमिनाथ का दर्शन करने के लिए बलदेव और कृष्ण ने सारे द्वारिका निवासियों और भोजवंशी राजाओं के साथ गिरनार पर्वत की तरफ प्रस्थान किया। वहाँ भीतर-बाहर जिनेन्द्र नेमिनाथ का समवसरण देखकर उनके आनन्द और आश्चर्य की सीमा न रही।

भगवान नेमिनाथ अपने आसन की श्री से अपने अद्वितीय परमेष्ठी गुण को प्रदर्शित कर रहे थे। देवतागण बारी-बारी से उन पर चँवर ढुला रहे थे, जिससे उनकी महेशिता प्रकट हो रही थी। चन्द्रबिम्ब की तरह श्वेत छत्र से उनका त्रिलोक-स्वामित्व प्रकट हो रहा था। वे अपने भावमण्डल से संसार के निगूढ़

अन्धकार को नष्ट कर रहे थे। उनके निकटवर्ती अशोक वृक्ष पर सब ऋतुओं के फूल खिले थे। ऐसा लगता था कि यह अशोक वृक्ष समस्त जीवों के दुख दूर करने की उनकी सामर्थ्य का प्रतीक है। नेमिनाथ भगवान पुष्पवृष्टिरूप पूजा से अपनी पूज्यता को प्रकट कर रहे थे। वे अभय की घोषणा करनेवाली दिव्यध्वनि से अपनी सर्वहितकारी क्षमता को और मंगलवाद्यों के निनाद से साधुजनों के चित्त को प्रसन्न करने की शक्ति को प्रकट कर रहे थे।

आठ महाप्रातिहार्यों से सुशोभित, आत्मोत्थ समस्त विभूतियों को धारण करनेवाले भगवान जब लोकमंगल के लिए समवसरण में विराजमान हुए, तब उनकी कान्ति तीनों लोकों के तेज को अतिक्रान्त कर रही थी।

भगवान के विराजमान हो जाने पर देवताओं ने जीवों का आह्वान किया, "आत्महित के इच्छुक भव्यजनो, आओ, सम्पूर्ण विकसित आत्माओं को धारण करनेवाले केवली भगवान यहाँ विराज रहे हैं। अविलम्ब आओ और उन्हें नमस्कार करो।"

देवों की पुकार पर देव, असुर, मानव सब दिशाओं से समवसरण में आने लगे।

समवसरण की अद्‌भुत रचना से अभिभूत कृष्ण, बलदेव आदि राजाओं तथा अन्य लोगों ने सबसे पहले मानांगण में प्रवेश किया और हाथ जोड़ मस्तक नवा वाहनों से नीचे उतर गये। उन्होंने बाहरी परिग्रहों का त्याग कर दिया और विशिष्ट राज्यचिह्नों से युक्त होकर मानपीठ की प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा के बाद मानस्तम्भ को नमस्कार करके केवल वे पुरुष अन्दर प्रविष्ट हो सके, जिनके हृदय उत्तम भक्ति से भरे हुए थे। सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों तथा नरेन्द्रों ने छत्र और चमर जयांगण में ही छोड़ दिये और आप्तजनों के साथ हाथ जोड़कर भीतर प्रवेश किया। वहाँ विधिपूर्वक प्रणाम करके उन्होंने चक्रपीठ पर आरूढ़ हो भगवान जिनेन्द्र की तीन बार प्रदक्षिणा की। अपनी शक्ति और वैभव के अनुरूप सामग्रियाँ अर्पित कर अपना नामोल्लेख करते हुए उन्हें बार-बार नमस्कार किया। इसके बाद माथे पर अंजलि बाँधे, रोमांचित शरीरवाले वे सारे उत्तम पुरुष अपनी-अपनी सीढ़ियों से नीचे उतरकर सभाओं में यथास्थान बैठ गये।

जैसे सूर्य के समान खिले हुए कमल-दल सुन्दर लगते हैं, वैसे ही जिनेन्द्र भगवान के सामने बारह सभाओं में विद्यमान वह समाज सुशोभित हो रहा था। किसी भी नदी में समुद्र को आपूर्ण करने की क्षमता नहीं है, वैसे ही सब दिशाओं से आ रही जनमेदिनी भी उस समवसरण को नहीं भर पा रही थी।

समवसरण में बाहर निकलता-आता, प्रवेश करता, दर्शन करता, परिक्रमा करता, भगवान को प्रणाम करता और उनकी स्तुति करता सज्जनों का समुदाय सदा उपस्थित रहता है। समवसरण के अन्दर भगवान के प्रभाव से न मोह रहता है, न

राग-द्वेष, न उत्कण्ठा, न रति रहती है, न मात्सर्य भावना, न अँगड़ाई और जमुहाई आती है, न नींद और तन्द्रा। न भूख लगती है, न प्यास सताती है और न किसी प्रकार का अमंगल ही घटित होता है।

बाह्य विभूति के एकमात्र स्थान समवसरण में जब भगवान जिनेन्द्र विराजमान होते हैं, तब बारह सभाओं के गण अपने प्यासे नेत्रों से उनके अमृत-सौन्दर्य का पान करते हैं।

नित्य उत्सवरूप अनन्त कल्याणों के एकमात्र स्थान समवसरण में जब सारा जीव जगत् धर्मश्रवण की इच्छा से हाथ जोड़कर बैठ गया, तब वरदत्त गणधर ने श्रीनेमि जिनेन्द्र को नमस्कार कर विनयपूर्वक पूछा :

''भगवन्, समस्त जीवों का हितरूप क्या है?''

गणधर का प्रश्न सुनकर भगवान की दिव्य वाणी प्रवाहित होने लगी। उनकी वह वाणी चारों दिशाओं में दिखनेवाले चारों मुखों से निकल रही थी। चारों ओर एक योजन के घेरे में इतनी स्पष्ट सुनाई पड़ती थी, मानो यहीं उत्पन्न हो रही हो। उसमें न्यूनाधिकता नहीं थी। वह मधुर स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरोंवाली थी। अनन्यरूप थी। एक थी और अत्यन्त पवित्र थी।

भगवान जिनेन्द्र का उपदेश असंख्य सरणियों में बहता हुआ सारी जगती के कर्णों में अमृत-वर्षण कर रहा था।

भगवान ने पाप-पुण्य, कर्म, आवरण, व्रत और व्रती आदि की व्यापक व्याख्या की। उन्होंने बताया कि प्राणी-पीड़ाकारक वचन असत्य और अनृत होता है तथा प्राणियों का हित करनेवाला वचन सत्य एवं ऋत होता है।

जिसमें अहिंसा आदि गुणों की वृद्धि हो, वह वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

उन्होंने सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार के व्रती बताये। अणुव्रतों के धारक सागार और महाव्रतों के धारक महाव्रती कहे जाते हैं। जो मनुष्य वन में रहकर भी रागभाव में स्थित है, वह सागार गृहस्थ है और जिसका रागभाव दूर हो गया है, वह घर में रहने पर भी अनगार है।

उन्होंने कहा, आत्मपरिणामों में स्थित मिथ्या दर्शन, हिंसा आदि अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये बन्ध के कारण हैं।

समस्त कर्मों की अपनी-अपनी प्रकृति नियत रूप से स्थित है। ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति अज्ञान है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति अदर्शन है। जिनके उदय से शारीरिक और मानसिक सुख-दुख उत्पन्न होते हैं वे यथाक्रम से सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म कहलाते हैं। आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों से श्रद्धा न गुण

का विकृत होना मोहनीय आयुकर्म की प्रकृति भवधारण करना है। नाम कर्म की प्रकृति जीव में देवादि संज्ञाएँ उत्पन्न करना है। गोत्र कर्म की प्रकृति उच्च और नीच व्यवहार करती है तथा अन्तराय कर्म की प्रकृति से दान आदि में विघ्न उत्पन्न होता है।

भगवान ने इनके भी अनेक भेद कहकर इनकी विशद व्याख्या की।

भगवान ने निर्मल मोक्षमार्ग की व्याख्या की।

नेमि जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ मोक्षमार्ग सुनकर बारह सभाओं के लोगों ने हाथ जोड़कर भगवान को नमस्कार किया। कितने ही लोगों ने सम्यग्दर्शन धारण किया, कितने ही लोगों ने मुनिव्रत स्वीकार किया। शिवादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी तथा अन्य देवियों ने श्राविकाओं का चरित्र अपनाया। यदुकुल और भोजकुल के श्रेष्ठ राजा तथा अनेक सुकुमारियाँ जिनमार्ग की ज्ञाता बन बारह अणुव्रतों की धारक हो गयीं।

जो देवों के साथ पूजा कर चुके थे, ऐसे इन्द्र तथा बलभद्र और कृष्ण आदि यादव जिनेन्द्ररूपी सूर्य को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान पर चले गये।

उन्नीसवाँ प्रकरण

भगवान विहार के लिए उद्यत हुए। गिरनार पर्वत के शिखर के नीचे उतरते हुए भगवान ऐसे लग रहे थे, मानो प्राणियों को भवसागर पार कराने के लिए ही नीचे आ रहे हों। उन्नत स्वर्ग से पृथिवी-लोक में उतर रहे हों।

ठीक इसी अवसर पर कुबेर ने यह घोषणा की :

"जिस याचक को जिस वस्तु की इच्छा हो, वह यहाँ आकर उसे इच्छानुसार ले।"

यह भगवान की विजय-यात्रा का आरम्भ था, देव-प्राणियों—सभी के लिए किया जानेवाला मंगल-आयोजन, ऐसे समय क्या सम्भव नहीं था?

इस समय मनोवांछित पदार्थ देनेवाली कामधेनु के समान मणिमयी भूमि बनायी गयी।

और जब भगवान समस्त प्राणियों का हित करने के लिए प्रस्तुत हुए तो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु-ये चार महाभूत भी सारे प्राणियों के लिए अनुकूल और हितकारी हो गये। पृथिवी के वसुन्धरा नाम को सार्थक करती हुई धन की वर्षा मेघ की मोटी जलधारा के समान भूमि पर गिरने लगी। प्रणाम करने के लिए झुकते, उठते मस्तकोंवाले देव अपनी कान्ति से दिशाओं को प्रकाशमान करते हुए प्रकट होने लगे। उन देवों ने सर्वप्रथम हजार पंखुरीवाले एक 'पवित्र कमल' की रचना की। इस कमल के पूरब और उत्तर में सोने के बने हुए एक-एक हजार कमलों की मालाएँ पृथिवी के गले में पड़े हार की तरह ही सुन्दर लग रही थीं। वह पवित्र कमल पद्मराग मणि से बना हुआ था। अनेक रत्नों से जड़ा हुआ होने के कारण उसमें रंग-बिरंगी किरणें निकल रही थीं। हर एक पाँखुरी पर लक्ष्मी की श्री विद्यमान थी। सहस्रनेत्र इन्द्र की आँखें हजार भँवरों की तरह उसका सेवन कर रही थीं। देव हों या धरणेन्द्र अथवा मानव मात्र—सभी की आँखें उस मधुकेन्द्र पर लगी हुई थीं। वह कमल एक योजन विस्तृत था और उसका डण्ठल चौथाई योजन जितना था।

यह पवित्र कमल 'पद्मयान' के नाम से प्रसिद्ध था। आठ वसु इन्द्र को अग्रणी बना उस 'पद्मयान' के आगे-आगे चल रहे थे। लगता था इन्द्र के अणिमा, महिमा आदि आठ गुण ही मूर्तिमान होकर चल रहे हों।

वे आठों वसु भगवान का जय-जयकार कर रहे थे और कह रहे थे :

"हे जिनेन्द्र, आप प्रसन्न हों। लोकहित के लिए उद्यम करने का समय आ गया है।"

भगवान पद्मयान पर आरूढ़ हुए। पृथिवी हर्ष से झूमने लगी। बादलों की गड़गड़ाहट को पराजित करनेवाला देव-दुन्दुभियों का घोष गूँज उठा। यह प्रयाण-कालीन घोष था। लोक-हृदय में चेतना का संचार करता हुआ यह समस्त पृथिवी में व्याप्त-सा हो रहा था। मानो कह रहा हो :

'धर्मचक्र का प्रवर्तन करनेवाले ये विजयी भगवान सब जीवों के वैभव के लिए विहार कर रहे हैं। तीनों लोकों के जीव सम्पदाओं से वृद्धि को प्राप्त हों और हर तरह की आपदा से रहित हों।'

उस समय वीणा, बाँसुरी, मृदंग, झालर और शंख की ध्वनियों के साथ उठता तुरही का शब्द समुद्र की गर्जना को भी पछाड़ रहा था। आकाश में किन्नरियाँ मनोहर गीत गा रही थीं। अप्सराएँ नाच रही थीं। गन्धर्व झूम-झूमकर तबला बजा रहे थे और देव, असुर तथा मनुष्य सर्वपूजित भगवान का अनेक स्तोत्रों से स्तुतिगान कर रहे थे।

समस्त लोकपाल सारी दिशाओं में सबकी रक्षा कर रहे थे। अपने-अपने नियोगों पर अच्छी तरह स्थित रहना ही सेवकों की स्वामि-सेवा है।

चमकती हुई आँखोंवाले कितने ही देव हिंसक जीवों को दूर खदेड़ते हुए दौड़ रहे थे। प्रसन्नता से भरा समुद्र भी रत्नों के वलय पहनकर लहरों की अंजलि बाँधकर तट-रूपी मस्तक से भगवान को नमन कर रहा था।

करोड़ों देव पग-पग पर भगवान को नमस्कार कर रहे थे। उनके मुकुटों का प्रकाश बार-बार नीचे झुकता हुआ और ऐसा जान पड़ रहा था, मानो हजारों सूर्यों का एक साथ पतन और उदय हो रहा हो। पृथिवी-तल को स्पर्श करते वे मुकुट ऐसे जान पड़ते थे, मानो भगवान के चरणों में पड़ी स्वर्ण-कमलों की माला हों। अपने तेज से लोकान्तों को व्याप्त करनेवाले लोकान्तिक देव भगवान के आगे-आगे चलते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो भगवान का तेज ही अनेक मूर्तियाँ धारण कर आगे-आगे जा रहा हो। अनेक मंगल-द्रव्य धारण करनेवाली देवियों के साथ पद्मा और सरस्वती देवी हाथों में कमल लेकर भगवान की प्रदक्षिणा करती हुई चल रही थीं। इन्द्र भी अनेक भूपतियों के साथ अंजलि बाँधे आगे-आगे चल रहा था और कह रहा था :

"भगवन्, इधर दृष्टिपात करें। इधर देखें। इधर प्रसन्न हों।"

लोगों की विभूति के लिए समस्त लोकों की विभूति को धारण करनेवाले, भव्य-जीव रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान भगवान नेमि जिनेन्द्र जिस समय 'पद्मयान' पर आरूढ़ हुए, उस समय देवों ने जय-जयकार करना आरम्भ किया। वे कह रहे थे :

हे नाथ, हे ज्येष्ठ, हे पितामह, आपकी जय हो!
हे आत्मभू, हे आत्मेश, हे अच्युत, आपकी जय हो!
हे जगत्-बन्धु, हे सद्धर्म नायक, आपकी जय हो!
हे शुभरूप, हे पुण्यरूप, हे उत्तम, आपकी जय हो!

भगवान नेमि जिनेन्द्र जीवों पर दया करते हुए विहार करने लगे। भगवान के विहार का वह मार्ग सुवर्णमय था। मणिखचित था। ऐसा लग रहा था, कोई पतिव्रता स्त्री अपने सुनहरे शरीर पर मणि-आभूषणों को पहनकर पति का स्वागत कर रही है। देव पवनकुमार मन्द-मन्द वायु के झोंकों से उस मार्ग का परिमार्जन कर रहे थे। देव मेघवाहन कौंधती हुई बिजली की चमक से प्रकाशित होते हुए उस मार्ग में सुगन्धित जल सींच रहे थे।

यह मोक्षमार्ग के ज्ञाता भगवान का विहारकाल था। देवगण भौंरों से भरे हुए मन्दार-वृक्षों के फूलों को मार्ग पर बिखेर रहे थे। मार्ग पर गले हुए सोने के रस से मण्डल बनाये गये थे और मणियों के चूर्ण से अल्पनाएँ रची गयी थीं। गुह्यक जाति के देव वहाँ केशर के रस से बेल-बूटे बना रहे थे, मानो अपनी कला-कुशलता से भगवान को प्रसन्न करना चाहते हों। केले, नारियल, ईख तथा सुपारी के वृक्षों की क्रमबद्ध कतारों से मार्ग के किनारों को बगीचे की तरह सजाया गया था। बीच-बीच में बने क्रीड़ा-स्थलों पर देव और मनुष्य अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे।

भगवान के विहार का यह मार्ग तीन योजन चौड़ा था और मार्ग के दोनों ओर की सीमाएँ दो-दो कोस चौड़ी थीं। मार्ग में जगह-जगह भोगीजनों को इच्छानुसार पदार्थ देनेवाली बड़ी-बड़ी कामशालाएँ बनी हुई थीं, जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो मनवांछित पदार्थ देनेवाली भगवान की दानशक्तियाँ हों। भोगी भोग्य-वस्तुओं को पाकर सुखरत थे और अन्य लोगों को उनकी इच्छानुसार उत्कृष्ट विभूति से सम्पन्न सम्पदाएँ प्राप्त हो रही थीं। तोरणों और अष्ट मंगलद्रव्यों से सजा वह मार्ग इन्द्रियों से सजा जान पड़ता था। तोरणों के बीच में लगे ऊँचे-ऊँचे केले के वृक्षों और ध्वजाओं ने मार्ग को सघन छायायुक्त कर दिया था। वनवासी देवों ने वन-मंजरियों से पीला पुष्प-मण्डप तैयार किया था, वह उनके अपने पुंजीभूत पुण्य की तरह

लगता था। उस पुष्प-मण्डल में दीवारों पर रत्न-लताओं के चित्र थे। उसके दोनों छोरों पर तथा बीच के अवकाश में मोतियों की झालरें लटकी हुई थीं। छोटी-छोटी घण्टियों का झुनझुन नाद दिशाओं को झंकृत कर रहा था। उस मण्डप के चारों कोनों में बड़े-बड़े मोतियों और मूँगों से रचित चार स्तम्भ थे, बीच में भगवान के मूर्तिमान यश की तरह सफेद चँदोवा तना हुआ था।

दया की मूर्ति, अहित का दमन करनेवाले, स्वयं ज्योतिर्मय भगवान जिनेन्द्र उस मण्डप के बीच में विराजमान होकर समस्त जीवों के हित के लिए विहार कर रहे थे। भगवान के शिर के ऊपर अत्यन्त निर्मल तीन छत्र सुशोभित हो रहे थे, जो तीनों लोकों में उनके स्वामित्व को सूचित करते प्रतीत होते थे। भगवान के चारों ओर स्वयं ढुलते चमर आकाश में सुमेरु पर्वत के चारों ओर मँडराते हंसों की तरह सुशोभित हो रहे थे।

ऋषिगण भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे। तीन लोक की उत्कृष्ट विभूति से युक्त लक्ष्मी देवी शची के साथ इन्द्र के आगे जाती हुई केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की तरह जान पड़ती थी। जिनके फणों पर चमकती हुई मणियों के दीप हैं, वे नागकुमार देव चलते हुए ऐसे लग रहे थे कि अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने के लिए मस्तक पर केवल ज्ञानरूपी दीपकों को धारण कर चल रहे हों। उनके आगे धूपघटों को लिये अग्निकुमार देव चल रहे थे। धूप की गन्ध लोकान्तों तक फैल रही थी। शान्त और तेजरूप गुणों को धारण करनेवाले चन्द्र और सूर्य जाति के देव प्रभारूप मंगल-दर्पणों को धारण कर चल रहे थे। जगह-जगह विजय-स्तम्भ दिखाई दे रहे थे। फहराती हुई भगवान की विजय-पताका फैली हुई चाँदनी की तरह लग रही थी। अपनी प्रभा से सूर्य को पराजित करनेवाला, हजार देदीप्यमान अरोंवाला, देवों के समूह से घिरा हुआ 'धर्मचक्र' अन्धकार को नष्ट करता हुआ आकाश-मार्ग से चल रहा था। आगे जा रहे स्तनितकुमार देव यह अभय-घोषणा कर रहे थे :

"तीनों लोकों के स्वामी भगवान पधार रहे हैं। आओ, आओ और इन्हें नमस्कार करो।"

अनेक आश्चर्यों से भरी हुई भगवान की इस दिव्य यात्रा में साथ-साथ जाते हुए जीवों को अनेक आश्चर्यों की प्राप्ति हो रही थी। जहाँ भगवान का विहार होता था, उस देश में न तो किसी को मानसिक और शारीरिक पीड़ाएँ होती थीं और न कोई दैवी प्रकोप ही होता था। वहाँ न ज्यादा गर्मी होती थी, न ज्यादा ठण्ड होती थी। न दिन-रात का विभाग होता था और न अन्य अशुभ कार्य अपनी प्रबलता दिखा सकते थे। सब ओर शुभ कार्यों की वृद्धि होती थी। अन्धे देखने लगते थे। बहरे सुनने लगते थे। गूँगे बोलने लगते थे और लँगड़े चलने लगते थे।

धान्य के रोमांच से भरी हुई पृथिवी अपने कमल जैसे हाथों से भगवान-भर्ता के चरणों को दबा रही थी। जिनेन्द्र भगवान की सूर्य-किरणों के स्पर्श से फूली हुई कमल-पंक्तियोंवाला आकाश चलते-फिरते सरोवर की शोभा को धारण कर रहा था। इस समय सारी ऋतुएँ एक साथ विकसित हो रही थीं—ऐसा लगता था कि भगवान की समदृष्टि के प्रताप से वे भी समरूपा हो गयी हैं। उस समय पृथिवी अनेक खजाने, निधियाँ, खानें, अन्न और अमृत उत्पन्न करने लगी—इसीलिए उसे 'रत्नभू' नाम मिला। भगवान के पराक्रम से यमराज पराजित हो गया था और संसार धर्म से शक्तिशाली, इसलिए मृत्यु का यह देवता अकाल कर-ग्रहण से विमुख हो गया था। समय ने सर्दी-गर्मी, दिन-रात की विषमता त्याग दी थी। भगवान के विहार-क्षेत्र में समस्त जीव सुख को प्राप्त कर रहे थे। भगवान की यह विभुता धन्य है, जो सबका हित करनेवाली है। परस्पर वैरभावी जीव भी अखण्ड मित्रता का सुख भोग रहे थे। उस समय तिर्यंच आदि साधारण प्राणी भी भगवान को दूर से नमस्कार करते दिखाई दे रहे थे।

भगवान चतुर्मुख होने के कारण चारों दिशाओं में दिखाई देते थे। उनकी छाया नहीं पड़ती थी और वे भूख आदि प्रपंचों से रहित थे।

भगवान जिस भी दिशा में पहुँचते थे, उसी दिशा का दिक्पाल पूजन-सामग्री लेकर भगवान की अगवानी के लिए आ पहुँचता था। भगवान जिस दिशा से भी वापस जाते थे, उसी दिशा का दिक्पाल मंगल-द्रव्य लिये हुए अपनी सीमा तक पहुँचाने आता था।

गंगा नदी त्रिपथगा अर्थात् तीन मार्गों से जानेवाली है, लेकिन देवों की सेना अनेकपथगा थी और अत्यन्त पवित्र भगवान से प्रभावित होकर असंख्य मार्गों से चलती हुई पृथिवी को पवित्र कर रही थी। इस देवसेना के बीच एक बहुत ऊँचा कान्तिदण्ड विद्यमान था, जो ऊपर लोकान्त तक फैला था और लौटकर पड़ रही किरणों से व्याप्त था। अपने तेज के कारण वह दण्ड बहुत स्थूल दिखाई देता था और अपने प्रकाश से सूर्य को अतिक्रान्त करता था। लोकान्त तक व्याप्त उसका तेज रुकावट से रहित था और गाढ़ अन्धकार को नष्ट करनेवाला था।

उन कान्तिदण्ड के बीच में पुरुषाकार एक ऐसा कान्तिपुंज था, जिसमें एक हजार सूर्यसम प्रभा थी, और जो आप अपने ही समान था। वह चारों ओर फैलनेवाली कान्ति से धनरूप था और उसकी ज्योति एक कोस तक विस्तृत हो रही थी। वह भगवान की ऊँचाई के बराबर ऊँचा था, उनके अभ्युदय के समान दृष्टि का हरण करनेवाला, सर्वपूजित और मूर्तिमान पुण्य था। जिस प्रकार उल्लू सूर्य की प्रभा को नहीं देख पाते हैं, उसी प्रकार दुर्बुद्धि, पापी एवं पापजन्य क्रोध से युक्त पुरुष उस कान्ति-समूह को नहीं देख पाते हैं। उस कान्ति-समूह में एक विशेष

प्रकार की प्रभा थी, जिसके पीछे समस्त लोकों को प्रकाशित करनेवाले भगवान नेमि जिनेन्द्र लोकशान्ति के लिए विहार कर रहे थे।

जिस मार्ग में भगवान का विहार होता था, वह मार्ग अपने चिह्नों से यह प्रकट करता था कि यहाँ भगवान का विहार हुआ है।

भगवान के विहार-काल में मन्द बुद्धि के मनुष्य तीक्ष्ण बुद्धिवाले हो गये थे। समस्त हिंसक जीव प्रभावहीन हो गये थे और भगवान के समीप रहनेवाले लोगों को खेद, पसीना, पीड़ा तथा चिन्ता आदि का उपद्रव नहीं होता था। भगवान के विहार से अनुगृहीत भूमि में दो सौ योजन तक विप्लव आदि नहीं होते थे और पचास वर्ष तक वह स्थल सारे उपद्रवों से अलग रहता था।

उत्कृष्ट विभूतियों के स्वामी, बोधप्रदाता भगवान नेमिनाथ ने संसार के जीवों को सम्बोधित करते हुए जगत् के वैभव के लिए क्रम से पृथिवी पर विहार किया। सुराष्ट्र, मत्स्य, लाट, विशाल, शूरसेन, पटच्चर, कुरुजांगल, पांचाल, कुशाग्र, मगध, अंजन, अंग, बंग, कलिंग देशों में विहार करते हुए भगवान मालय नाम के देश में आये और भद्रिलपुर नगर के सहस्राम्रवन में विराजमान हुए। देवकी के पहले छ: पुत्रों ने भगवान की शरण में निर्ग्रन्थ होकर मोक्षलक्ष्मी को प्रदान करनेवाली दीक्षा को प्राप्त किया।

इसके बाद भगवान फिर गिरनार पर्वत पर आये। कृष्ण तथा समस्त यादव और द्वारिका के नागरिक भगवान की सेवा करने लगे। भगवान के इस समवसरण में श्रुतज्ञान-समुद्र के भीतरी भाग को देखनेवाले वरदत्त आदि ग्यारह गणधर थे। अनेक अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी और विक्रिया ऋद्धि के धारक मुनिराज थे। राजीमती के साथ चालीस हजार आर्यिकाएँ थीं और सम्यग्दर्शन से शुद्ध श्रावक-व्रत धारण करनेवाली हजारों श्राविकाएँ थीं।

तीर्थंकर भगवान धर्मरूप अमृत की वर्षा करने लगे, नेमि जिनेन्द्र का दुर्लभ सूर्य गिरनार पर्वत पर आरूढ़ हुआ। विद्वानों का समूह कमलों की तरह ज्ञान-विकास का लाभ करने लगा।

एक दिन धर्मकथा पूरी होने के बाद देवकी ने हाथ जोड़कर भगवान को नमस्कार किया और पूछा :

''देव, आज सोने के समान रूपवाले दो मुनियों का युगल मेरे भवन में तीन बार आया और फिर-फिर से उसने तीन बार आहार किया। प्रभु, जब मुनियों की भोजन की वेला एक है और एक ही बार वे भोजन करते हैं तब वे तीन बार एक ही घर में क्यों आये? या भगवन्, ऐसा हो सकता है कि वह तीन मुनियों का युगल हो और अत्यन्त समान रूपवाला होने के कारण मैं उन्हें पहचान न सकी हूँ। पर इतना अवश्य है कि उन सबमें मैंने पुत्रों के समान स्नेह को अनुभव किया।''

भगवान बोले, "ये छहों मुनि तेरे पुत्र हैं और जुड़वाँ पुत्रों के रूप में तुझसे जनमे थे। देव ने कंस से इनकी रक्षा की थी और भद्रिलपुर में एक सेठ और सेठानी के यहाँ इनका लालन-पालन हुआ था। धर्म-श्रवण कर ये मेरे शिष्य हो गये और अब इसी जन्म में सिद्धि प्राप्त करेंगे।"

देवकी ने सन्तुष्ट होकर उन पुत्र-मुनियों को नमस्कार किया। कृष्ण सहित अन्य सब यादवों ने भी उनकी स्तुति की।

इसके बाद कृष्ण की आठों पट्टरानियों—सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती, सुशीला, लक्ष्मणा, गान्धारी, गौरी, पद्मावती—ने भगवान से अपने पूर्वजन्म सुने और आगे तप की सामर्थ्य से मोक्षप्राप्ति का आश्वासन प्राप्त किया।

रोहिणी, देवकी आदि देवियों तथा अन्य यादवों ने भी अपने-अपने जन्मों को सुना और संसार-धर्म से भयभीत हुए।

अनेक सुर, असुर तथा मानव जिनेन्द्र भगवान की पूजा-अभ्यर्थना के लिए आते थे और धर्म-श्रवण कर अपने-अपने स्थानों को लौट जाते थे। जगत् के प्राणियों के लिए भगवान ने अनेक देशों में विहार किया। उनकी चर्या सूर्य के समान थी और जगत का हित करनेवाली थी।

देवकी के कृष्ण के बाद एक पुत्र और जन्मा। गजकुमार उसका नाम था। गजकुमार कृष्ण का अत्यन्त प्रिय और शुभ लक्षणों से युक्त था। जब वह युवा हुआ तो कृष्ण ने श्रेष्ठ राजकुमारियों से उसका विवाह किया।

श्रीकृष्ण ने सोमशर्मा नाम के ब्राह्मण की क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न कन्या सोमा से भी गजकुमार का विवाह तय कर दिया। सोमा अत्यन्त सुन्दर और गुणशीला कन्या थी।

इनके विवाह का समय समीप था। तभी विहार करते हुए भगवान नेमिनाथ द्वारिकापुरी आये। भगवान के गिरनार पर्वत पर विराजमान होने के बाद समस्त यादव मंगल-द्रव्य लेकर उनकी पूजा को चले।

तभी गजकुमार ने किसी कंचुकी से पूछा, "यह कैसी हलचल है?"

कंचुकी ने भगवान नेमिनाथ के आगमन और कार्य के बारे में कुमार को सब बता दिया।

गजकुमार धर्मात्मा था। उसने भगवान की हितकारी चेष्टा को जान लिया और हर्ष से रोमांचित होकर सूर्य के समान दीप्तिवाले रथ पर आरूढ़ हो भगवान की वन्दना के लिए चला।

भगवान बारह सभाओं से घिरे हुए थे और अर्हत् लक्ष्मी से सम्पन्न थे। उन्होंने

सुर, असुर और मनुष्यों की उस सभा में धर्म का निरूपण किया। यह धर्म संसार-सागर से पार होने का एकमात्र उपाय था एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इन तीन रत्नों से उज्ज्वल था।

अवसर आने पर श्रीकृष्ण ने भगवान को नमस्कार कर श्रोताओं के हित की इच्छा से तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, अर्ध चक्रवर्तियों, बलभद्रों और प्रतिनारायणों की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न किया।

भगवान ने त्रेसठ शलाकापुरुषों में प्रमुख चौबीस तीर्थंकरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा :

''इस युग में सबसे पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ हुए। उसके बाद अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तजित, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तीर्थंकर हुए। ये सभी तीर्थंकर निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं। बाईसवाँ तीर्थंकर मैं नेमिनाथ अभी वर्तमान हूँ और पार्श्वनाथ तथा महावीर—इन दो तीर्थंकरों को अभी आगे होना है।

भगवान ऋषभनाथ चैत्र कृष्ण नवमी के दिन उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म-स्थान अयोध्या था, माता का नाम मरुदेवी और पिता का नाम नाभिराय था। उनका चैत्यवृक्ष वट, निर्वाण भूमि कैलास और जन्मनक्षत्र उत्तराषाढ़ था।

भगवान ऋषभदेव का दीक्षा-कल्याणक अयोध्या में ही चैत्र कृष्ण नवमी को सम्पन्न हुआ था। उन्होंने छः माह का योग लिया था और छः माह तक विधि न मिलने से भ्रमण करते रहे थे। एक वर्ष बाद उन्हें आहार की प्राप्ति हुई थी। फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ और माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ, माघ शुक्ल नवमी के दिन उत्पन्न हुए थे, इनकी जन्म नगरी भी अयोध्या थी। माता का नाम विजया और पिता का नाम जितशत्रु था। इनका चैत्यवृक्ष सप्तपर्ण, निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल और जन्मनक्षत्र रोहिणी था।

भगवान अजितनाथ का दीक्षा-कल्याणक माघ शुक्ल नवमी को अयोध्या में सम्पन्न हुआ था। इन्होंने दो दिन का उपवास किया था और लालसारहित होकर गाय के दूध से बनी खीर का आहार लिया था। पौष शुक्ल चतुर्दशी को इन्हें केवलज्ञान हुआ। चैत्र शुक्ल पंचमी इनका निर्वाणदिवस है।

तीसरे तीर्थंकर भगवान सम्भवनाथ का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा के दिन हुआ था। इनकी जन्मनगरी श्रावस्ती थी। माता सेना और पिता जितारि थे। इनका चैत्यवृक्ष शाल, जन्मनक्षत्र ज्येष्ठा और सम्मेदाचल निर्वाणक्षेत्र है।

सम्भवनाथ का दीक्षा-कल्याणक मार्गशीर्ष पूर्णिमा को श्रावस्ती में ही सम्पन्न

हुआ था। इन्होंने दो दिन का उपवास कर गाय के दूध की खीर का आहार लिया था। इन्हें कार्तिक कृष्ण पंचमी को केवलज्ञान मिला और ये चैत्र शुक्ल षष्ठी को निर्वाण गये।

चौथे तीर्थंकर भगवान अभिनन्दननाथ का जन्म माघ शुक्ल द्वादशी के दिन अयोध्या नगरी में हुआ था। इनकी माता सिद्धार्था और पिता संवर थे। इनका चैत्यवृक्ष सरल, जन्मनक्षत्र पुनर्वसु और सम्मेदाचल निर्वाणक्षेत्र है।

भगवान अभिनन्दननाथ का दीक्षा-कल्याणक अयोध्या में माघ शुक्ल द्वादशी को हुआ था। इन्होंने भी दो दिन के उपवास के बाद खीर का आहार ग्रहण किया था। इन्होंने पौष शुक्ल पूर्णिमा को केवलज्ञान प्राप्त किया और ये वैशाख शुक्ल सप्तमी को निर्वाण गये।''

पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी के दिन अयोध्या नगरी में हुआ था। इनकी माता सुमंगला और पिता मेघप्रभ थे। इनका चैत्यवृक्ष प्रियंगु, नक्षत्र मघा और निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान सुमतिनाथ का दीक्षा-कल्याणक अयोध्या में वैशाख सुदी नवमी को सम्पन्न हुआ था। इन्होंने भी दो दिन के उपवास के बाद खीर का आहार लिया था। इन्हें चैत्रशुक्ल दशमी के दिन केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और चैत्र शुक्ल दशमी के दिन ही ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

छठे तीर्थंकर पट्भप्रभ का जन्म कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन कौशाम्बी नगरी में हुआ था। इनकी माता सुसीमा और पिता धरण थे। इनका चैत्यवृक्ष प्रियंगु, जन्मनक्षत्र चित्रा और निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान पद्मप्रभ का दीक्षा-कल्याणक कौशाम्बी में ही कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को सम्पन्न हुआ था। इन्होंने भी दो दिन के उपवास के बाद गाय के दूध की खीर का आहार ग्रहण किया था। चैत्र शुक्ल दशमी के दिन इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी के दिन ये निर्वाण हो गये।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन काशी नगरी में हुआ था। इनकी माता पृथिवी और पिता सुप्रतिष्ठ थे। इनका चैत्यवृक्ष शिरीष, नक्षत्र विशाखा और निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान सुपार्श्वनाथ का दीक्षा-कल्याणक काशी में ही ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी को सम्पन्न हुआ था। फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और फाल्गुन कृष्ण षष्ठी के दिन इनका निर्वाण हुआ।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जन्म चन्द्रपुरी नगरी में पौष कृष्ण एकादशी के दिन हुआ था। इनकी माता लक्ष्मणा और पिता महासेन थे। इनका चैत्यवृक्ष नाग, नक्षत्र अनुराधा और निर्वाण क्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान चन्द्रप्रभ का दीक्षा-कल्याणक चन्द्रपुरी में पौष कृष्ण एकादशी को हुआ था। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और भाद्रपद शुक्ल सप्तमी को ये निर्वाण गये।

नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ का जन्म काकन्दी नगरी में मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा के दिन हुआ था। इनकी माता रामा, पिता सुग्रीव थे। इनका चैत्यवृक्ष शालि, जन्मनक्षत्र मूल और निर्वाण क्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान सुविधिनाथ की दीक्षा काकन्दी में ही मार्गशीर्ष प्रतिपदा को हुई थी। इन्होंने भी दो दिन के उपवास के बाद गाय के दूध की खीर का आहार ग्रहण किया था। इन्हें कार्तिक शुक्ल तृतीया को केवलज्ञान मिला और भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को निर्वाण की प्राप्ति हुई।

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म भद्रिलापुरी में माघ कृष्ण द्वादशी के दिन हुआ था। इनकी माता सुनन्दा और पिता दृढ़रथ थे। इनका चैत्यवृक्ष प्लक्ष, जन्म नक्षत्र पूर्वाषाढ़ा और निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान शीतलनाथ का दीक्षा-कल्याणक भद्रिलापुरी में माघ कृष्ण द्वादशी को सम्पन्न हुआ। इन्हें पौष शुक्ल एकादशी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और आश्विन शुक्ल पंचमी को ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयोनाथ का जन्म सिंहनादपुर में फाल्गुन कृष्ण एकादशी को हुआ था। इनकी माता विष्णुश्री और पिता विष्णुराज थे। इनका चैत्यवृक्ष तेंदू का, नक्षत्र श्रवण और निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल है।

भगवान श्रेयोनाथ का दीक्षा-कल्याणक सिंहनादपुर में फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी को सम्पन्न हुआ। माघ कृष्ण अमावस को इन्हें केवलज्ञान मिला और श्रावण शुक्ल पूर्णिमा इनकी निर्वाण-तिथि है।

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म चम्पानगरी में फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के दिन हुआ था। इनकी माता जया और पिता वसुपूज्य थे। इनका चैत्यवृक्ष पाटला, नक्षत्र शतभिषा और निर्वाणभूमि चम्पानगरी ही है।

भगवान वासुपूज्य की दीक्षा चम्पानगरी में ही फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के दिन सम्पन्न हुई। माघ शुक्ल द्वितीया को इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और फाल्गुन शुक्ल पंचमी को ये निर्वाण गये।

तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म काम्पिल्य नगरी में माघ शुक्ल चतुर्दशी के दिन हुआ था। इनकी माता शर्मा और पिता कृतवर्मा थे। इनका चैत्यवृक्ष जामुन है, नक्षत्र उत्तरा भाद्रपद और निर्वाण क्षेत्र सम्मेदाचल है। इनकी जन्मनगरी में ही माघ शुक्ल चतुर्थी को इनका दीक्षा-कल्याणक हुआ। इन्होंने पौष कृष्ण दशमी को केवलज्ञान प्राप्त किया। आषाढ़ कृष्ण अष्टमी इनकी निर्वाण-तिथि है।

चौदहवें तीर्थंकर अनन्तजित का जन्म अयोध्या नगरी में ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन हुआ था। इनकी माता का नाम सर्वयशा और पिता सिंहसेन थे। इनका चैत्यवृक्ष पीपल, नक्षत्र रेवती और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल है। अयोध्या में ही ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन इनका दीक्षा-कल्याणक हुआ और चैत्र कृष्ण अमावस्या को इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इनकी निर्वाण-तिथि चैत्र अमावस्या ही है।

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म रत्नपुर नगर में माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन हुआ था। इनकी माता सुव्रता और पिता भानुराज थे। इनका चैत्यवृक्ष दधिपर्ण, नक्षत्र पुष्य और सिद्धिक्षेत्र सम्मेदाचल है। रत्नपुर में ही माघ शुक्ल त्रयोदशी को इनकी दीक्षा हुई। पौष शुक्ल पूर्णिमा को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी को ये निर्वाण गये।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जन्म हस्तिनापुर नगर में ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन हुआ था। इनका चैत्यवृक्ष नन्दी, नक्षत्र भरणी और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदशिखर है। इन्होंने अपनी जन्मनगरी में ही ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशी के दिन दीक्षा ली थी। पौष शुक्ल एकादशी को इन्हें केवलज्ञान मिला और ये ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी को निर्वाण गये।

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ का जन्म हस्तिनापुर में वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन हुआ था। इनकी माता श्रीमती और पिता सूर्य थे। इनका चैत्यवृक्ष तिलक, नक्षत्र कृत्तिका और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल है। इन्होंने हस्तिनापुर में ही वैशाख सुदी प्रतिपदा के दिन दीक्षा ली। चैत्र शुक्ल तृतीया को इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और वैशाख शुक्ल प्रतिपदा को ये निर्वाण गये।

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ का जन्म हस्तिनापुर में मागशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी के दिन हुआ था। इनकी माता मित्रा और पिता सुदर्शन थे। इनका चैत्यवृक्ष आम्र, नक्षत्र रोहिणी और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल है। इन्होंने हस्तिनापुर में ही मार्गशीर्ष सुदी दशमी को दीक्षा ली। कार्तिक शुक्ल द्वादशी को इन्हें केवलज्ञान मिला और चैत्र की अमावस्या को ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का जन्म मिथिला नगरी में मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन हुआ था। इनकी माता रक्षिता और पिता कुम्भ थे। इनका चैत्यवृक्ष अशोक, नक्षत्र अश्विनी और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल है। मिथिला में ही मार्गशीर्ष सुदी एकादशी को इनका दीक्षा-कल्यणक सम्पन्न हुआ। इन्होंने तीन दिन का उपवास किया था और चौथे दिन गाय के दूध की खीर का आहार लिया था। फाल्गुन कृष्ण द्वादशी के दिन इन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई और फाल्गुन शुक्ल पंचमी इनका निर्वाण-दिवस है।

बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ का जन्म कुशाग्र नगर में आसोज शुक्ल द्वादशी

के दिन हुआ था। इनकी माता पद्मावती और पिता सुमित्र थे। इनका चैत्यवृक्ष चम्पक, नक्षत्र श्रवण और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल है। इन्होंने कुशाग्र नगरी में ही वैशाख कृष्ण नवमी को दीक्षा ली। फाल्गुन कृष्ण षष्ठी के दिन इन्हें केवलज्ञान मिला और फाल्गुन कृष्ण द्वादशी के दिन ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म मिथिला नगरी में आषाढ़ कृष्ण दशमी के दिन हुआ था। इनकी माता वप्रा और पिता विजय थे। इनका चैत्यवृक्ष बकुल, नक्षत्र अश्विनी और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल है। इन्होंने आषाढ़ कृष्ण दशमी के दिन दीक्षा ली और चैत्र शुक्ल तृतीया के दिन इन्हें कैवल्य मिला। इनकी निर्वाण-तिथि वैशाख कृष्ण चतुर्दशी है।

गिरनार-पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों के बारे में किये गये प्रश्न के उत्तर का समापन करते हुए भगवान नेमिनाथ ने कहा :

बाईसवाँ तीर्थंकर मैं नेमिनाथ हूँ। मेरे जन्म, माता-पिता, दीक्षा-कल्याणक और केवलज्ञान आदि के विषय में तुम जानते ही हो। मेरा चैत्यवृक्ष मेषशृंग है, नक्षत्र चित्रा और निर्वाण-क्षेत्र ऊर्जयन्त पर्वत है।

जो दो तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर भविष्य में होंगे, उनमें पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी नगरी में पौष कृष्ण एकादशी को होगा। इनकी माता वर्मा और पिता अश्वसेन होंगे। इनका चैत्यवृक्ष धव, नक्षत्र विशाखा और निर्वाण-क्षेत्र सम्मेदाचल होगा। चैत्र कृष्ण चतुर्थी के दिन इन्हें केवलयज्ञान प्राप्त होगा और ये श्रावण शुक्ल सप्तमी को निर्वाण जाएँगे।

तीर्थंकर महावीर का जन्म कुण्डपुर नगर में चैत्र-शुक्ल त्रयोदशी को होगा। इनकी माता प्रियकारिणी और पिता सिद्धार्थ होंगे। इनका चैत्यवृक्ष शाल, नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी और निर्वाण-क्षेत्र पावापुरी होगा। इन्हें वैशाख शुक्ल दशमी के दिन कैवल्य प्राप्त होगा और ये कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को निर्वाण जाएँगे।''

भगवान नेमिनाथ ने चक्रवर्तियों, नारायणों, प्रतिनारायणों, बलभद्रों का भी विस्तार से वर्णन किया और अपने त्रिकालदर्शी ज्ञान से सबके हृदय में धर्म की ज्योति प्रज्वलित की।

गजकुमार ने भी भगवान जिनेन्द्र के मुख से तीर्थंकरों का वर्णन सुना। वह संसार से विरक्त हो गया और पिता, पुत्र आदि समस्त बन्धुजनों को छोड़कर वह आदरपूर्वक भगवान के निकट पहुँचा। उसने उनकी अनुमति से दीक्षा ली और तप करने लगा।

एक बार मुनि गजकुमार रात के एकान्त में प्रतिमायोग से विराजमान होकर सब

बाधाओं को सहन कर रहे थे कि ब्राह्मण सोमशर्मा अपनी पुत्री सोमा के त्याग से क्रोधित होकर उनके पास आया और मुनि के सिर पर अग्नि प्रज्वलित करने लगा। अग्नि से मुनि का सारा शरीर जलने लगा और वे शुक्ल ध्यान से सारे कर्मों का क्षय कर मोक्ष चले गये। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व तथा सुर-असुरों ने आकर उनके शरीर की पूजा की। गजकुमार के मरण से दुखी होकर अनेक यादवों ने दीक्षा ले ली। वसुदेव के अलावा उनके नौ भाइयों ने भी दीक्षा ले ली और देवकी, रोहिणी को छोड़कर सब स्त्रियाँ भी दीक्षित हो गयीं।

इसके बाद भगवान नेमिनाथ ने सांसारिक प्राणियों का प्रबोधन करते हुए अनेक देशों में विहार किया। बहुत समय के बाद वे फिर गिरनार पर्वत पर आये। समवसरण की रचना हुई और भगवान विराजमान हुए।

समवसरण में वसुदेव, बलदेव और कृष्ण भी अन्त:पुर की रानियों, द्वारिका निवासियों, पुत्र-पौत्रों के साथ आये और भगवान को नमस्कार कर यथास्थान बैठ गये। धर्मकथा सम्पूर्ण हुई।

बलदेव के हृदय में एक प्रश्न था। उन्होंने उचित अवसर जान भगवान को प्रणाम किया और पूछा :

''देव, यह द्वारिका नगरी कुबेर ने रची है। क्या यह ऐसी ही समृद्ध बनी रहेगी? कृष्ण का भविष्य कैसा है? हे प्रभु, मेरा चित्त कृष्ण के स्नेहरूपी महापाश से बँधा हुआ है। मुझे संयम की प्राप्ति कितने समय बाद होगी?''

समस्त परापर पदार्थों के द्रष्टा नेमि जिनेन्द्र ने बलभद्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा :

''बलदेव, द्वारिका नगरी ऐसी ही समृद्ध नहीं रहेगी। अब से बारहवें वर्ष में मदिरा के निमित्त से द्वैपायन मुनि के क्रोध के कारण भस्म हो जाएगी। श्रीकृष्ण अपने अन्तिम समय में कौशाम्बी के वन में शयन कर रहे होंगे और तभी और जरत्कुमार इनकी मृत्यु का कारण होगा। तभी कृष्ण की मृत्यु के निमित्त से तुम्हें भी तप की प्राप्ति होगी।''

बीसवाँ प्रकरण

द्वैपायन कुमार रोहिणी का भाई था। जब उसने द्वारिका के विनाश में अपने को कारण जाना तो वह विरक्त होकर मुनि हो गया और बारह वर्ष की अवधि पूरी करने के लिए पूर्व दिशा में चला गया।

'मेरे कारण कृष्ण की मृत्यु होगी'—यह जानकर जरत्कुमार भी बहुत दुखी हुआ और वह किसी ऐसे अज्ञात स्थान में निकल गया, जहाँ कृष्ण दिखाई भी न दें। वह अपने प्राणों को छोड़ने की इच्छा लेकर वनों में घूमने लगा।

आगामी दुख के भार से सन्तप्त यादवों ने नगर में प्रवेश किया। नगर में यह घोषणा कर दी गयी कि मद्य बनाने के साधन और मद्य शीघ्र ही अलग कर दिये जाएँ। घोषणा सुनते ही मद्यपायी लोगों ने मदिरा बनाने के साधनों को मदिरा के साथ-साथ कादम्ब गिरि की गुफा में फेंक दिया। हुआ क्या कि जिस प्रकार पत्थर की कुण्डियों में कोई तरल पदार्थ ज्यों का त्यों रह जाता है, वैसे ही वह मदिरा कदम्ब-वन के शिलाकुण्डों में बची रह गयी।

अब कृष्ण ने एक घोषणा यह की : 'मेरे माता-पिता, स्त्री, सन्तति जो भी जिनेन्द्र भगवान के मत में दीक्षित हो तप करना चाहें, जा सकते हैं, मेरी ओर से पूरी स्वतन्त्रता है।'

घोषणा सुनकर प्रद्युम्न तथा भानुकुमार सहित अनेक कुमार, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि पट्टरानियाँ दीक्षित हो गयीं। जब बलदेव का भाई सिद्धार्थ दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुआ तो बलदेव ने उससे कहा, ''अगर मैं कभी मोहजन्य व्यसन का शिकार बनूँ तो मुझे सम्बोधित करना।''

सिद्धार्थ ने वचन दिया और तप ग्रहण कर लिया।

भगवान नेमिनाथ ने अपने बड़े भारी संघ के साथ पल्लव देश को प्रस्थान किया।

भगवान का लोकहित-कार्य चलता रहा। उनके उपदेशों से जन-चेतना उसी तरह विकसित हो चली, जैसे सूर्य के स्पर्श से कमलिनी विकसित होती है। अनेक दीक्षित राजा-रानियों और मनुष्यों का समूह भगवान जिनेन्द्र के साथ उत्तरापथ की दिशा में चलने की तैयारी करने लगा।

भाग्य अथवा भवितव्यता को कौन रोक सकता है? भगवान नेमिनाथ ने द्वारिका के अन्त को लेकर जो भविष्यवाणी की थी, उसका समय समीप था।

आशंकित होकर जिन लोगों ने द्वारिका छोड़ दी थी और बारह वर्ष के लिए आसपास के वनों में डेरा जमाया था, भाग्य की प्रबलता के कारण वे लौट आये। या तो उनके हृदय में भगवान की भविष्यवाणी का स्मरण धुँधला पड़ चुका था, या वे अवधि को लेकर भ्रान्त हो गये थे। द्वारिका के अन्दर रहनेवाले लोगों ने यह पूरा समय परलोक का भय मानकर व्रत, उपवास तथा पूजा आदि कार्यों में बिताया।

महान् तपस्वी द्वैपायन मुनि को बारह वर्ष पूरे होने की भ्रान्ति हो गयी। वे विनाश-काल व्यतीत हुआ जान बारहवें वर्ष में वहाँ आ पहुँचे। द्वैपायन मुनि को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई थी। इसीलिए उन्हें ऐसा भ्रम हो गया कि जिनेन्द्र भगवान का आदेश पूरा हो चुका है।

एक दिन वे द्वारिका के बाहर पर्वत के निकट मार्ग में आतापनयोग धारण कर प्रतिमायोग से विराजमान थे। उसी समय वनक्रीड़ा से थके हुए और प्यासे शम्ब आदि कुमारों ने कादम्ब वन के कुण्डों में भरी उस शराब को पी लिया। उस मीठी मदिरा को पीकर सब उन्मत्त हो गये। उस पुरानी मदिरा ने परिपक्व यौवना स्त्री के समान उन कुमारों को वश में कर लिया। वे सब कुमार असम्बद्ध प्रलाप करने लगे। नाचने-गाने लगे। उनके बाल बिखर गये। वस्त्र और आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये और उन्होंने अपने गलों में जंगली फूलों की मालाएँ पहन लीं।

इसी उन्मत्त अवस्था में नगर की तरफ लौटते हुए उन्होंने मार्ग में सूर्य के सम्मुख खड़े द्वैपायन मुनि को पहचान लिया। पहचानते ही उनके लाल-लाल नेत्र घूमने लगे। वे आपस में कहने लगे, "यही वह द्वैपायन योगी है जो द्वारिका का नाश करनेवाला होगा। अब यह बेचारा हम लोगों से बचकर कहाँ जाएगा?"

उन निर्दय कुमारों ने ईंटों और पत्थरों से द्वैपायन मुनि को घायल कर दिया। वे जमीन पर गिर पड़े।

तभी क्रोध का उदय हुआ। मुनि अपने ओठ चबाने लगे। यादवों को नष्ट करने के लिए उन्होंने अपनी भौंहें धनुष की तरह टेढ़ी कर लीं। लगता था, आज ये दो चीजें नहीं रहेंगी—यादव और मुनि का अपना तप।

मदमाते वे कुमार द्वारिका में जा पहुँचे। उनमें से किसी ने यह पूरी घटना कृष्ण को सुना दी। बलदेव तथा नारायण ने तत्क्षण समझ लिया कि द्वारिका के विनाश का समय आ पहुँचा है। बलदेव और नारायण घबराकर बिना किसी राजकीय परिकर के अकेले ही मुनि के पास पहुँचे। क्रोध से अग्नि की तरह जलते हुए मुनि से वे अनुनय-विनय करने लगे। वे बार-बार उनसे क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

द्वैपायन मुनि की बुद्धि अत्यन्त संक्लिष्ट हो रही थी। भृकुटी के भंग से उनका चेहरा विषम हो रहा था। आँखों की तरफ आँख नहीं उठ रही थी और उनकी पूरी आकृति भयानक प्रतीत हो रही थी। बलदेव और कृष्ण समझ गये कि हमारी याचना व्यर्थ होगी, फिर भी उन्होंने मुनि को आदरपूर्वक प्रणाम करके उनसे याचना की। यह याचना मोहपूर्ण ही थी, क्योंकि भगवान का वचन तो पूरा होना ही था।

बलदेव और कृष्ण ने कहा, "हे मुनिवर, क्षमा ही तप का आधार है। आज आपके क्रोध से आपके तप का भण्डार जल रहा है। चिरकाल से जिस तप की आपने रक्षा की है, आज भी उसकी रक्षा की जाए। तप मोक्ष का साधन है, यह क्रोध उसे क्षणभर में दूषित कर देता है। क्रोध धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों वर्गों का शत्रु है और सिर्फ दूसरे को ही नहीं, स्वयं को भी नष्ट करनेवाला है। हे मुनिराज, प्रमाद से भरे हुए उन मूर्ख कुमारों ने जो दुष्टतापूर्ण आचरण किया है, उसे क्षमा कीजिए और हम लोगों पर अनुग्रह कीजिए।"

बलदेव और कृष्ण ने अत्यन्त प्रिय और मीठे वचनों से द्वैपायन मुनि से बहुत प्रार्थना की, लेकिन वे अपने निश्चय से पीछे नहीं हटे। उनकी बुद्धि में पाप समा गया था और वे प्राणियों सहित द्वारिका को जलाने का निश्चय कर चुके थे।

मुनि ने बलदेव और कृष्ण को दो उँगलियों से इशारा करते हुए बताया कि बस तुम दो ही बच सकते हो, अन्य कोई नहीं।

जब बलदेव और कृष्ण को निश्चय हो गया कि मुनि का क्रोध शान्त होनेवाला नहीं है तब वे द्वारिका के क्षय को जान अत्यन्त दुखी होकर नगरी में वापस लौट आये। उस समय शम्ब कुमार आदि अनेक चरम शरीरी यादव नगरी से निकलकर दीक्षित हो गये और पर्वत की गुफाओं में रहने लगे।

द्वैपायन मुनि का तपरूपी धन तो क्रोध से भस्म हो ही चुका था। उसी अवस्था में उन्होंने प्राण छोड़े और मरकर अग्निकुमार नाम के मिथ्या दृष्टिवाले भवनवासी देव हुए। वहाँ क्षणभर में ही उन्होंने यादव कुमारों द्वारा किये हुए अपने अपकार को विभंगावधि ज्ञान से जान लिया। उनके अन्दर यह रौद्र विचार आया, 'निरपराध मैं तप में लीन था, फिर भी इन लोगों ने मुझे ईंटों-पत्थरों से मारा और मेरा घात किया। मैं इन हिंसक कुमारों की नगरी द्वारिका को समस्त जीवों के साथ अभी इसी क्षण भस्म करता हूँ।'

क्रूर परिणामों को धारण करनेवाले उस दुर्निवार देव ने इस तरह का ध्यान कर द्वारिका में प्रवेश किया। उसके आते ही द्वारिका में विनाशकारी घटनाएँ घटित होने लगीं। लोगों को रोंगटे खड़े कर देनेवाले भयानक स्वप्न दिखाई देने लगे। अन्त में उस पापात्मा देव ने पशु-पक्षियों और मनुष्यों से भरी उस नगरी को जलाना शुरू कर दिया। लोग धुएँ और आग की लपटों से आकुल हो चीत्कार करने लगे। वह देव उन क्रन्दन करते वृद्ध, स्त्री, बालकों को पकड़ता और आग में फेंक देता। उस समय लोगों के आर्तनाद से आकाश हिल उठा। दिशाएँ बहरी हो गयीं।

जिस समय द्वारिका जल रही थी, लगता था, पृथिवी से देवताओं का वास उठ गया। भवितव्यता बड़ी कठिन वस्तु है, अन्यथा इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने जिस नगरी की रचना की थी और कुबेर ही जिसकी रक्षा करता था, वह साधारण देव के क्रोध से कैसे जल सकती थी?

स्त्री, बालक और वृद्धजन बलदेव और कृष्ण को पुकारने लगे, चारों तरफ यही शब्द गूँज उठा, ''हे बलदेव, हे कृष्ण, हम लोग कितने दिनों से अग्नि के भय से पीड़ित हो रहे हैं, हमारी रक्षा करो।''

घबराये हुए बलदेव और कृष्ण ने द्वारिका का कोट तोड़ दिया और समुद्र के प्रवाह को अन्दर लाकर आग बुझाने का प्रयत्न करने लगे। बलशाली बलदेव ने अपने हल से समुद्र का जल खींचा, लेकिन वह तेल बन गया और उससे अग्नि और ज्यादा भड़क उठी।

जब बलदेव और कृष्ण को इस बात का निश्चय हो गया कि अग्नि असाध्य है, बुझायी नहीं जा सकती, तब उन्होंने रोहिणी और देवकी माता को, पिता वसुदेव को तथा अन्य और बहुत से पूज्यजनों को रथ में बैठाकर रथ हाँका। रथ में हाथी और घोड़े जुते हुए थे, फिर भी रथ नहीं चला। जैसे कीचड़ में पहिये फँस जाते हैं, उसी तरह वह रथ धरती में धँस गया था। हाथी और घोड़ों को बेकार जान दोनों भाई भुजाओं से रथ खींचने लगे, तब क्रूर देव ने वज्र की बनी कीलों से रथ को कील दिया। बलदेव ने पैर के प्रहार से उन कीलों को उखाड़ डाला तो उस पापी देव ने नगर का द्वार बन्द कर दिया। दोनों भाइयों ने पैर के आघात से नगर का द्वार तोड़ डाला।

अब वह क्रोधी देव बोला, ''तुम दोनों के सिवाय अन्य किसी का निकलना नहीं हो सकता।''

अपना विनाश निश्चित जानकर दोनों माताओं और पिता ने दु:खी होकर कहा, ''पुत्रो, तुम जाओ। यदि तुम जीवित रहते हो तो कुल विनष्ट होने से बच जाएगा।''

दोनों भाई अत्यन्त दुखी हुए। उन्होंने माता-पिता के वचनों को माथे से लगाया और उन्हें प्रणाम कर किसी तरह नगर से बाहर निकल गये।

लपटें जिसके भवनों को जला रही थीं, उस द्वारिका से निकलकर दोनों भाइयों को अपनी सुध न रही। गतिहीन से होकर वे इस बात का निश्चय नहीं कर सके कि कहाँ जाएँ। वे बहुत देर तक एक-दूसरे के गले लगकर रोते रहे, इसके बाद दक्षिण दिशा की तरफ उन्होंने कदम बढ़ाये।

अनेक यादव कुमार, जो चरमशरीरी थे, जिन्होंने संयम धारण कर लिया था, अनेक स्त्री और पुरुष, जिनकी आत्मा धर्म-ध्यान के वशीभूत थी, जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध थे, जिन्होंने प्रायोपगमन नाम का संन्यास धारण कर रखा था, वे भयंकर अग्नि में जलने लगे। लेकिन वह आग उनके शरीर को ही नष्ट कर सकी, ध्यान को नहीं। जो मनुष्य जिन शासन की भावना से युक्त हैं, वे सम्भावित-असम्भावित कैसा भी मरण प्राप्त होने पर मोहग्रस्त नहीं होते।

मिथ्यादृष्टि जीव का मरण शोक के लिए है, लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव का समाधिमरण शोक के लिए नहीं होता। संसार का नियम ही यह है कि जो जन्मता है, उसका मरण निश्चित है, इसलिए सदा यह भावना रखनी चाहिए कि विपदा आने पर भी समाधिपूर्वक ही मरण हो। वे मनुष्य धन्य हैं जो अग्नि-ज्वालाओं से घिरकर भी उत्तम समाधि से शरीर छोड़ते हैं। जो तपस्या और जो मृत्यु अपने लिए और सबके लिए सुखकारी है, वही श्रेष्ठ है।

दूसरे का अनिष्ट करनेवाला पापी मनुष्य दूसरे का घात तो एक ही जन्म में करता है, लेकिन इस पाप के परिणामस्वरूप अपना घात जन्म-जन्मान्तरों में करता है। कषाय के वशीभूत हुआ प्राणी जैसे ही दूसरे को मारने की सोचता है, पहले स्वयं मर जाता है।

द्वैपायन मुनि के साथ भी ऐसा ही हुआ। उनका तप उनके लिए संसार का अन्त करनेवाला नहीं, बल्कि संसार को लम्बा करने का कारण हो गया।

द्वैपायन के क्रोध ने बालक, स्त्री-पुरुषों से व्याप्त और अनेक द्वारों से सुन्दर द्वारिका को छः माह में जलाकर भस्म कर दिया।

इक्कीसवाँ प्रकरण

इधर बलदेव और कृष्ण पुण्य के क्षीण हो जाने के कारण बन्धु-बान्धवविहीन हो गये। उनकी सारी सम्पदाएँ नष्ट हो गयीं। जो चक्र आदि रत्नों के स्वामी थे, 'बलभद्र' और 'नारायण' पद को धारण करते थे, अब केवल प्राण और शोक ही उनके साथी थे।

केवल जीवन की आशा लेकर दक्षिण-दिशा की तरफ जाते दोनों भाई मार्ग में किसी अच्छे आश्रय की खोज करने लगे। वे भूख-प्यास से व्याकुल थे और विश्राम चाहते थे। उनका गन्तव्य-स्थान दक्षिण मथुरा था—पाण्डवों का नगर। मार्ग में वे हस्तवप्र नगर में रुके। कृष्ण एक बगीचे में ठहर गये और बलदेव कपड़े से अपना शरीर ढँककर अन्न-जल लेने के लिए नगर में प्रविष्ट हुए। उस नगर में अच्छदन्त नाम का राजा राज्य करता था। वह धृतराष्ट्र के वंश का था, धनुर्धारी था और यादवों के दोष ढूँढ़ता रहता था।

वीर बलदेव ने ज्योंही नगर में प्रवेश किया, त्योंही उनके रूप-सौन्दर्य से आकर्षित हो झुण्ड के झुण्ड लोग चकित हो उन्हें देखने लगे। बलदेव ने बाजार में अपना कड़ा और कुण्डल देकर खाने-पीने की सामग्री खरीदी और नगर से बाहर आने लगे। जैसे ही वे द्वार से निकल रहे थे कि राजा के पहरेदारों ने उन्हें पहचान लिया और राजा को सूचित कर दिया। राजा ने बलदेव को मारने के लिए अपनी सेना भेज दी।

सेना ने नगर-द्वार पर बलदेव को रोक लिया। बलदेव ने संकेत से कृष्ण को बुलाया और खाद्य-सामग्री को किसी अच्छी जगह रखकर हाथ में हाथी बाँधने का खम्भा उठा लिया। उधर कृष्ण ने भी क्रोधित होकर भयंकर अर्गला उठा ली।

सेना भाग खड़ी हुई।

अब दोनों भाई विजय नाम के वन में आये। वहाँ उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर सरोवर देखा। सरोवर में स्नान कर जिनेन्द्र भगवान को नमन किया और फिर भोजन करके विश्राम करने लगे।

कुछ देर के बाद दोनों वीर फिर दक्षिण दिशा की ओर चलने लगे। चलते-चलते वे कौशाम्बी नाम के दुर्गम और भयानक वन के अन्दर घुसे। उस वन में पक्षियों और शृगालों के शब्द उठ रहे थे। प्यासे हिरनों के झुण्ड इधर-उधर घूम रहे थे। असह्य गर्मी से तपती हुई हवाएँ बह रही थीं और दावानल से वहाँ के लताकुंज, झाड़ियाँ और वृक्ष जल गये थे।

वहाँ पानी मिलने की कोई सम्भावना नहीं थी। दौड़ते हुए जंगली जानवर हाँफ रहे थे। सूर्य बीच आकाश में तप रहा था।

थके हुए कृष्ण ने बड़े भाई से कहा, ''आर्य, मैं प्यास से व्याकुल हूँ। मेरे ओठ और तालु सूख गये हैं। मैं अब एक पग भी नहीं चल सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन की तरह प्यास को दूर करनेवाला शीतल जल मुझे पिलाइए।''

स्नेह के कारण बलदेव का मन पसीज रहा था। उन्होंने गर्म साँसें भर रहे कृष्ण से कहा, ''मैं तुम्हें अभी ठण्डा पानी लाकर पिलाता हूँ। तब तक तुम जिनेन्द्र भगवान के स्मरण-जल से अपनी प्यास शान्त करो। यह पानी तो थोड़ी देर के लिए ही प्यास बुझाता है, पर जिनेन्द्र भगवान का स्मरण-जल तो पीते ही प्यास सदा के लिए शान्त हो जाती है। कृष्ण, तुम इस वृक्ष की छाया में बैठो, तब तक मैं तुम्हारे लिए सरोवर से शीतल पानी लाता हूँ।''

छोटे भाई कृष्ण को आश्वस्त कर और उसे अपने हृदय में रखकर बलदेव पानी की खोज में निकल पड़े। कृष्ण भी वृक्ष की सघन छाया में जा पहुँचे और कोमल वस्त्र से शरीर ढँककर मुलायम मिट्टीवाली पृथिवी पर पड़ रहे। बायें घुटने पर उनका दायाँ पाँव रखा हुआ था। क्षणभर को उन्हें झपकी लग गयी।

भाग्य की विडम्बना। शिकार का प्रेमी जरत्कुमार भी उसी समय वहाँ आ पहुँचा। जो जरत्कुमार कृष्ण के प्रेम के कारण, उनके प्राणों की रक्षा का विचार कर द्वारिका से निकल मृग की तरह वनों में निवास करने लगा था, विधाता के द्वारा उसे वहाँ उपस्थित कर दिया गया।

धनुर्धारी जरत्कुमार ने दूर से देखा तो उसे कोई वस्तु हिलती हुई दिखाई दी। वह कृष्ण के वस्त्र का छोर था। जरत्कुमार को यह भ्रान्ति हो गयी कि यह पास में सोये हुए हिरण का कान हिल रहा है। शिकारी जरत्कुमार ने झाड़ी में छिपकर बड़ी मजबूती से कान तक धनुष खींचा और बाण छोड़ दिया।

तलुवे के बिंधते ही कृष्ण पीड़ा से चमककर उठ बैठे। उन्होंने चारों तरफ दृष्टि डाली और जब कोई दिखाई नहीं दिया तो जोर से कहा, ''किस अकारण वैरी ने मेरा तलुवा बींधा है, वह सामने आकर अपना नाम और कुल साफ-साफ बतलाए। मैंने कभी किसी अज्ञात कुल और अज्ञात नामवाले मनुष्य का वध नहीं किया। इसलिए बताओ, तुम कौन हो और क्यों इस वन में मेरे घातक हुए हो?''

जरत्कुमार ने उत्तर दिया, ''मैं हरिवंश में उत्पन्न हुए वसुदेव राजा का पुत्र जरत्कुमार हूँ। बलदेव और कृष्ण मेरे भाई हैं। इस वन में, जहाँ कायरों का प्रवेश नहीं, मैं अकेला ही वीर घूमता रहता हूँ। नेमिनाथ भगवान ने बताया था कि मेरे हाथों कृष्ण का मरण होगा, इसलिए मैं दु:ख और भय से कातर हो बारह वर्ष से इस वन में रह रहा हूँ। मुझे अपना छोटा भाई कृष्ण बहुत ही प्यारा है, इसीलिए मैं उससे दूर इस वन में निकल आया हूँ। आप यहाँ कौन हैं?''

जरत्कुमार का परिचय पाकर कृष्ण स्नेह से कातर हो गये और 'भाई-भाई' कहकर उसे आदरपूर्वक बुलाने लगे। जरत्कुमार ने जैसे ही जाना, यह कृष्ण हैं, तो हाय, हाय चिल्लाता हुआ वहाँ आया और धनुष-बाण फेंककर कृष्ण के चरणों में गिर पड़ा।

वह कृष्ण के गले लगकर रोने लगा।

कृष्ण ने कहा, ''अग्रज, अधिक शोक मत करो। होनहार बलवान होती है। आप आर्य हैं, श्रेष्ठ पुरुष हैं, तभी तो प्रमाद के निराकरण के लिए सारी सुख-सम्पदाएँ छोड़ वन को अपना आवास बनाया। आपने बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किया, लेकिन जब देव कुटिल हो तो आप भी क्या कर सकते थे?''

इसके बाद जरत्कुमार ने कृष्ण से वन में आने का कारण पूछा। कृष्ण ने आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनायी। यादवों का नाश सुनकर जरत्कुमार प्रलाप करता हुआ बोला, ''भाई, इतने बरसों बाद तुम दिखे और मैंने तुम्हारा यह अतिथि-सत्कार किया? मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मन की शान्ति कहाँ प्राप्त करूँ? कृष्ण, तुझे मारकर मैं दु:ख और अपयश दोनों का भागी बना।''

कृष्ण ने विलाप कर रहे जरत्कुमार को समझाया, ''भाई, प्रलाप को छोड़ो। सारा संसार अपना किया कर्म भोगता है। कौन किसे सुख देता है? कौन किसे दु:ख देता है? कौन किसका मित्र है और कौन शत्रु? अपना किया हुआ कर्म ही सुख और दु:ख को देनेवाला है।

बड़े भाई बलराम मेरे लिए पानी लेने गये हैं। जब तक वे आएँ, उनसे पहले ही तुम यहाँ से चले जाओ। हो सकता है, वे तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध हो जाएँ। तुम जाओ और पाण्डवों को सारा समाचार दो। वे अपने कुल के हितैषी बन्धु हैं, तुम्हारी अवश्य रक्षा करेंगे।''

कृष्ण ने पहचान के लिए जरत्कुमार को अपनी कौस्तुभ मणि दी और कहा, ''भाई, जाओ!''

जरत्कुमार ने कौस्तुभ मणि हाथ में ले ली और रोकर कहा, ''कृष्ण, मुझे क्षमा करना।''

उसने कृष्ण के पैर से धीमे से वह बाण निकाला और उलटे पैरों वहाँ से चला गया।

कृष्ण घाव की वेदना से बहुत व्याकुल हो गये। उन्होंने उत्तरमुख होकर पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार किया। श्री नेमि जिनेन्द्र को बार-बार नमस्कार किया और पृथिवी पर सिर रखकर लेट गये।

क्योंकि जिनेन्द्र भगवान के विहार से पृथिवी के समस्त उपद्रव नष्ट हो चुके थे, इसलिए वह कृष्ण को सुखद शैया की तरह लगी।

कृष्ण ने वस्त्र से अपना सारा शरीर ढँक लिया था। सब परिग्रहों से उनकी बुद्धि निवृत्त हो गयी थी और वे सबके प्रति मित्रभाव को प्राप्त हो गये थे।

श्रीकृष्ण में शुभ विचारों का उदय हुआ। वे सोचने लगे—'वे बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी धन्य हैं, जो भविष्य का विचार कर द्वारिका-दाह से पहले ही तपस्या में लग गये थे। बड़े दुःख की बात है कि हजारों लोगों ने तप का कष्ट नहीं किया और अग्नि के ग्रास बन गये। कर्म के भार के कारण मैंने भी तप नहीं किया, इसलिए मेरा सम्यग्दर्शन ही मुझे इस भवसागर से पार उतारने के लिए सहारा बने।'

भविष्य में जो तीर्थंकर होनेवाले हैं, ऐसे श्रीकृष्ण इसी अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हुए।

बाईसवाँ प्रकरण

इधर कृष्ण के स्नेह से व्याकुल बलदेव जल की खोज में आगे बढ़े जा रहे थे। अपशकुन उन्हें कदम-कदम पर रोक रहे थे। फिर भी वे चलते चले जा रहे थे। आखिर वे दूसरे वन में बहुत दूर जा पहुँचे। जिस मार्ग से हिरनों के झुण्ड जा रहे थे, बलदेव उसी मार्ग पर दौड़ जाते थे।

तभी बलदेव को एक सरोवर दिखाई पड़ा। उसे देखते ही बलदेव ने एक लम्बी साँस ली। शीतल सुगन्धित वायु का स्पर्श उनके शरीर में नये प्राण डाल गया।

बलदेव जंगली हाथियों के मदजल से सुवासित उस सरोवर पर क्षणभर को रुके तो पानी पीने के लिए आये जंगली जानवर उन्हें भय-चकित दृष्टि से देखने लगे। बलदेव ने स्नान कर शीतल पानी पिया और कृष्ण के लिए कमल के पत्ते के दोने में पानी भर लिया। उसे कपड़े से ढँक वे बड़ी तेजी से कृष्ण की दिशा में चलने लगे। 'मैं कृष्ण को अनेक विघ्नों से भरे वन में अकेला छोड़ आया हूँ।' इस शंका से उनका हृदय बार-बार काँप उठता था।

वस्त्र से आच्छादित कृष्ण को लेटा हुआ देखकर बलदेव को लगा कि कृष्ण सो रहा है। पास आने पर उन्होंने सोचा कि अभी यह गहरी सुख-निद्रा में सो रहा है, इसलिए इसके जागने की प्रतीक्षा की जाए। बलदेव कृष्ण के पास ही बैठ गये। जब कृष्ण बहुत देर तक भी नहीं जगे तब बलदेव ने उन्हें पुकारा, "कृष्ण, कृष्ण, उठो और पानी पिओ।"

दो-एक बार और बलदेव ने मीठे स्वर में उन्हें जगाने की कोशिश की, फिर चुप होकर बैठ गये।

तभी एक तीखे मुख की काली मक्खी खून की गन्ध पाकर कृष्ण के ओढ़े हुए वस्त्र में घुस गयी। लेकिन निकलने का रास्ता न पाकर वहीं भिनभिनाने लगी। यह देख बलभद्र ने कृष्ण का मुख उघाड़ा और उन्हें निष्प्राण देख वे बड़ी जोर से चीख पड़े।

'हाय, यह कृष्ण प्यास से मर गया।' सोचकर वे उनके शरीर पर गिर पड़े। दु:ख के आधिक्य के कारण वे मूर्च्छित हो गये। सचेत होने पर वे मोहवश कृष्ण के शरीर पर हाथ फेरने लगे। उसी समय उन्हें रक्त रंजित पैर का घाव दिखाई दिया। देखते ही उन्हें निश्चय हो गया कि किसी ने सोते समय ही तीक्ष्ण बाण से पैर को बींधा है।

"कृष्ण को मारनेवाला कौन पुरुष आज शिकार का फल भोगना चाहता है?" कहकर बलदेव ने बड़ा प्रचण्ड गर्जन किया। उस भयंकर सिंहनाद को सुनकर उस दुर्गम वन के सारे हिंस्र जन्तु गुफाओं में चले गये।

उन्होंने कहा, "जिस अकारण वैरी ने मेरे सोये हुए छोटे भाई को मारा है, वह तत्काल मेरे सामने आए। क्योंकि यशस्वी वीर ऐसे शत्रु को नहीं मारते जो सो रहा हो, निहत्था हो, नम्र हो, मानरहित हो, पीठ दिखाकर भाग रहा हो और विघ्नों से घिरा हो।"

जोर-जोर से पुकारते हुए बलराम ने चारों तरफ शत्रु की खोज की, लेकिन किसी को भी न पाकर वे असहाय-से फिर कृष्ण के पास लौट आये और उन्हें गोद में लेकर रोने लगे।

"अरे भाई, तू मुझे छोड़कर कहाँ चला गया, जल्दी आ, जल्दी आ।" इस तरह बलदेव बहुत देर तक रोते रहे।

वे चेतनाशून्य कृष्ण को सन्ताप हरनेवाला पानी बार-बार पिलाते थे, लेकिन वह उनके गले से नीचे उसी तरह नहीं उतरता था, जैसे संसारी प्राणी के हृदय में सम्यग्दर्शन नहीं उतरता है। बलदेव कोमल हाथों से कृष्ण का मुख धोते थे, उसे चूमते थे, सूँघते थे और चाहते थे कि वह उनसे कुछ बोलें।

बलदेव कृष्ण को चेतन करना चाहते थे, वे मोहग्रस्त हो कृष्ण से कह रहे थे :

"स्वर्ग की तरह विशाल वैभवशाली द्वारिका नगरी जलकर राख हो गयी है, क्या यह सोचकर तू सन्तप्त हो रहा है और जीना नहीं चाहता? अरे भाई, अविनाशी खानोंवाली भरतक्षेत्र की भूमि पहले की तरह अब भी वर्तमान है। कृष्ण, क्या तू यह सोचकर भ्रमित हो रहा है कि समस्त यादवों का नाश हो जाने से मैं बन्धुरहित हो गया हूँ? अरे, जब तू और मैं जीवित हैं तो समझ, हमारे सारे बन्धु जीवित हैं। पहले कितने ही जन्मों में और इस जन्म में भी तू मुझे टकटकी लगाये देखता रहा, फिर आज तूने दृष्टि कैसे हटा ली? हाय, मोहवश मैं तुझे अकेला छोड़ पानी लेने चला गया और मेरी मणि हर ली गयी। मेरे रहते इसे कौन हर सकता था? तूने कंस के क्रोध और मद के पर्वत को वज्र की तरह नष्ट किया। जरासन्ध के यश-सागर को पी लिया, पर आज तू स्वयं नष्ट हो गया।

नारायण, देख तो, जो सूर्य शत्रु-रूप रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर तेरे सदृश

था, वह अब अस्ताचल की ओर जा रहा है। तुझे चिरनिद्रा में निमग्न देख इसने अपने हाथ समेट लिये हैं और अब उन्हें अस्ताचल-रूपी माथे पर रखे बैठा है। तेरी यह निद्रा तीनों लोकों में किसके लिए शोकप्रद नहीं है?

यह सारा आकाश सन्ध्या की लाली से लाल हो गया। लगता है ये संसार की रुदन से फूली हुई असंख्य लाल आँखें हैं। अरे कृष्ण, तू तो देवभक्त है-सन्ध्या जा रही है, सन्ध्या-वन्दन तो कर। व्यर्थ की निद्रा छोड़, इससे कहीं कोई कार्यसिद्ध होता है?

देख, अन्धकार का प्रवाह बड़ी तेजी से बढ़ा चला आ रहा है। सारा जगत् एकवर्ण, एकरूप होता जा रहा है, सम्यग्दर्शन का अभाव हो गया है, ये जंगली जानवर शब्द और गन्ध से आकर्षित हो इसी तरफ आ रहे हैं। आओ, उस दुर्ग में चलें, जहाँ रात कुशलतापूर्वक बीत जाए।

अरे भाई, तू तो फूलों से सजे आश्चर्यजनक मण्डपों में बन्धुओं तथा राजाओं को दर्शन देता था और अत्यन्त कोमल तकियों से आरामदेह शैया पर सोता था। आज वही तू हिंसक जन्तुओं से भरे इस दुर्गम वन में पथरीली भूमि पर सो रहा है!

हे भाई, अब सुबह हुई चाहती है। लगता है, सूर्य द्वारा प्रेषित उषा तुम्हारा समाचार जानने के लिए आयी है। अब शैया छोड़ो और उठो।''

बलदेव ने कृष्ण को जगाने के लिए सैकड़ों प्रिय वचन कहे, लेकिन उनके सारे प्रिय वचन निष्फल हो गये। जैसे जन्म के समय मथुरा से गोकुल ले जाते हुए बलदेव ने कृष्ण को अपनी बाँहों में ले लिया था, वैसे ही वे कृष्ण को बाँहों में उठाकर स्पर्श-सुख का अनुभव करते हुए वन में इधर-उधर घूमने लगे।

अनेक दिन और रात बीत गये, लेकिन बलदेव के कार्यक्रम में कोई अन्तर नहीं आया।

गर्मी बीत गयी और वर्षा ऋतु के बादल घुमड़-घुमड़कर ग्रीष्म के सन्ताप को दूर करने लगे। भील वेश धारण करनेवाला जरत्कुमार भी एक दिन दक्षिण मथुरा पहुँच गया। पाण्डवों की नगरी में पहुँचकर जरत्कुमार ने कृष्ण के दूत का कर्तव्य सम्पन्न किया। दूत की सभी मर्यादाओं का पालन कर वह सभा में बैठ गया। युधिष्ठिर ने उससे स्वामी की कुशल पूछी।

शोक से जरत्कुमार का कण्ठ रुँध गया, स्वर भर्रा गया। उसने बड़ी कठिनाई से द्वारिका तथा कुटुम्बियों के जल जाने और अपने ही हाथों से कृष्ण के मारे जाने का सब समाचार कह सुनाया। विश्वास दिलाने के लिए उसने कृष्ण की दी हुई कौस्तुभ मणि सामने रख दी। पूरी बात कहकर जरत्कुमार गला फाड़-फाड़कर जोर

से रोने लगा। उसी समय माता कुन्ती और पाण्डवों की स्त्रियाँ भी जोर-जोर से रोने लगीं। वहाँ जो भी थे, सब रोने लगे। वे सब रोते हुए कृष्ण के गुणों का स्मरण करते जाते थे।

जब विलाप का स्वर धीमा पड़ा तो पाण्डवों ने घेरकर बैठे आत्मीय जनों के सन्तोष के लिए कृष्ण को जलांजलि दी। जरत्कुमार ने भी भील का निन्द्य वेश बदला। अब सब पाण्डव उसके साथ दुख से पागल हुए वलदेव को देखने के लिए निकल पड़े। द्रौपदी आदि रानियों, माताओं, पुत्रों, सेनानियों के साथ वे शीघ्र ही उस वन में पहुँच गये, जहाँ बलदेव कृष्ण के मृत शरीर को उबटन लगाना, स्नान कराना तथा आभूषण पहनाना आदि व्यर्थ की क्रियाएँ कर रहे थे।

बलदेव को देखकर सब बन्धुजन उनसे लिपट गये और बहुत देर तक रोते रहे। कुन्ती और पाँचों पाण्डवों ने बलदेव से कृष्ण के दाह-संस्कार की बहुत प्रार्थना की, पर उन्होंने कृष्ण का मृतक शरीर नहीं दिया, और क्रुद्ध हो गये।

बलदेव ने कहा, "पाण्डवो, स्नान की तैयारी करो। फिर उत्तम भोजन की व्यवस्था करो। हमारा कृष्ण भूखा-प्यासा है, वह जल्दी ही कुछ खाना-पीना चाहता है।"

बलदेव की आज्ञा से पाण्डवों ने स्नान तथा खान-पान की तैयारी की।

बलदेव ने कृष्ण को आसन पर बैठाकर नहलाया, भोजन कराया और पानी पिलाया, लेकिन उनका सारा प्रयास व्यर्थ गया। यह सच है कि पाण्डव बलदेव के इन कार्यों को व्यर्थ मानते थे, फिर भी वे उनकी आज्ञा का पालन कर अपने को धन्य समझते थे। वे बलदेव के पीछे-पीछे चलते थे और जो वे कहते थे, उस कार्य को सम्पन्न करते थे। इसी तरह वर्षा-ऋतु बीत गयी।

शरद-ऋतु का आगमन कुछ इस तरह हुआ, मानो वह मोह के बादलों को भेदकर ही मानेगी।

कृष्ण का जो शरीर सप्तवर्ण की तरह सुगन्धित था, अब दुर्गन्ध देने लगा।

तभी बलदेव के प्रबोधन का समय आया। उनका जो भाई सिद्धार्थ, भगवान नेमिनाथ के निकट दीक्षित हुआ था और जिसने बलदेव के ही आग्रह से उन्हें मोहग्रस्त स्थिति में सम्बोधन का वचन दिया था, वह मरकर स्वर्ग में देव बन चुका था और अनेक शक्तियों का स्वामी था।

सिद्धार्थ के उस देव ने एक माया-रथ की रचना की। बलदेव ने देखा कि पर्वत के दुर्गम रास्तों को वह रथ सरलता से पार कर गया, लेकिन चौरस मार्ग पर आते ही टूट गया। वह देवरथ की सन्धि ठीक करने लगा, लेकिन रथ ठीक नहीं हुआ।

तब बलदेव ने उस देव से कहा, "भाई, बड़ा आश्चर्य है। तुम्हारा यह रथ पर्वत के विषम मार्ग पर तो टूटा नहीं और इस सीधे मार्ग पर आकर टूट गया। अब तो यह ठीक होगा नहीं, क्यों व्यर्थ श्रम करते हो?"

उत्तर में देव ने कहा, "जो कृष्ण महाभारत जैसे युद्ध का पारद्रष्टा था और इतने विकट युद्ध में भी जिसका बाल बाँका नहीं हुआ, वह जरत्कुमार के मामूली बाण से मर गया। अब इस जन्म में उसका उठना सम्भव नहीं, हे बलदेव, तुम भी क्यों व्यर्थ प्रयत्न करते हो?"

इसके बाद वह देव एक कठोर शिलातल पर कमलिनी लगाने लगा।

बलदेव ने कहा, "इस शिला पर कमलिनी कैसे उग सकती है?"

देव बोला, "निर्जीव शरीर में कृष्ण की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?"

इसके उपरान्त वह एक सूखे वृक्ष को सींचने लगा।

बलदेव ने फिर पूछा, "भाई, सूखे वृक्ष को सींचने से क्या लाभ है?"

"मृत कृष्ण को स्नानादि कराने से क्या लाभ है?" कहकर वह देव एक मरे हुए बैल को चारा-पानी देने लगा।

तब बलदेव ने फिर टोका, "अरे मूर्ख, इस मुर्दा बैल को चारा-पानी देने से क्या लाभ है?"

"मृतक कृष्ण को आहार-पानी देने से क्या लाभ है?"

इस प्रकार बड़ी कठिनाई से उस देव ने बलदेव को समझाया। बलदेव को बोध मिला और वे सचेतन हुए। उन्होंने वस्तुस्थिति को समझा और उस सत्पुरुष को बार-बार धन्यवाद दिया।

उस देव ने कहा, "यहाँ जो कुछ हुआ है, वह सब नेमि जिनेन्द्र पहले ही कह चुके थे। संसार की स्थिति को जानते हुए भी आपने कृष्ण के मृत शरीर के साथ छः माह व्यर्थ बिता दिये।

इस संसार में कौन किसका बहिरंग हिंसक है? अपना आन्तरिक शुभकर्म ही रक्षा करता है। सम्पत्ति हाथी के कान की तरह चंचल है। संयोग प्रियजनों के वियोग के रूप में परिणत हो जाता है। जन्म मरण के दुख के कारण नीरस है। इसलिए एक मोक्ष ही अविनाशी है। सबको उसे ही प्राप्त करना चाहिए।"

इस तरह अपने कुल के ही देव से बलदेव को रत्नत्रय की प्राप्ति हुई। उनका मोह दूर हो गया और वे मेघरहित चन्द्रमा के समान चमकने लगे।

जरत्कुमार और पाण्डवों के साथ उन्होंने तुंगीगिरि शिखर पर कृष्ण का दाह-संस्कार कर जरत्कुमार को राज्य दिया और साथियों सहित उसी पर्वत के शिखर पर रहने लगे। जीवन को क्षणभंगुर समझकर उन्होंने परिग्रह त्याग का निश्चय कर लिया। इस समय श्री नेमि जिनेन्द्र पल्लव देश में विहार कर रहे थे। बलदेव ने

कहा, ''मैं यहाँ रहते हुए भी भगवान जिनेन्द्र का शिष्य हूँ'', और पंच मुष्ठियों से अपने शिर के बाल उखाड़कर मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

बलदेव शरीर से अत्यन्त सुन्दर थे। जब वे पारणाओं के लिए नगर में जाते थे तो स्त्रियों में विपरीत भाव जाग्रत् हो जाता था। इसलिए बलदेव ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि अगर वन में भिक्षा मिलेगी तो लेंगे, अन्यथा नहीं—और सन्तोषपूर्वक रहने लगे।

उनका तप बढ़ चला। वे अखण्ड चारित्र को धारण करते थे और मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों का खण्डन करते थे। बलदेव मुनि 'अनित्यता' आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते और सोचते : 'जिन महल-माड़ियों में, सुख-सम्पदाओं में और बन्धु-बान्धव जनों में 'नित्यता' के बोध के कारण ममताभाव होता है, उनमें आत्मा को छोड़कर और किसी में भी नित्यता नहीं है। सभी क्षणभंगुर हैं। जिस तरह सिंह के मुख में पड़े हिरन के बच्चे को कोई शरण नहीं है, वैसे ही अशरण मेरे लिए धर्म ही एक मात्र शरण है, भाई-बन्धु-धन आदि नहीं। यह जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। धर्म के अलावा इसका कोई और सहायक नहीं है।

मैं नित्य हूँ और शरीर अनित्य है। मैं चेतन हूँ और शरीर अचेतन है। जब शरीर से ही मुझमें भिन्नता है, तब दूसरी वस्तुओं से भिन्नता क्यों नहीं होगी?

यह शरीर रज-वीर्य-रूप निन्दनीय कारणों से उत्पन्न है। सप्त धातुओं से भरा है। वात-पित्त और कफ दोषों से युक्त है। ऐसा कौन पवित्र आत्मा होगा, जो इस अपवित्र शरीर से अलग होने पर दुख मानेगा और इससे योग होने पर सुखी होगा? मन, वचन, काय के योगाश्रय से ही आत्मा में पुण्य और पाप कर्म का आगमन होता है। उसी के कारण यह जीव कर्मबन्धन की साँकल से जकड़कर संसार में घूमता रहता है। जब जीव निर्जरा के द्वारा अपने कर्मों का क्षय कर देता है तो सिद्ध हो जाता है।'

परम योगी बलदेव मुनि अनेक प्रकार का योग-चिन्तन कर अपने को साध रहे थे। उन्होंने विचारा—'समीचीन धर्म जिसका लक्षण है, उत्तम समाधि की प्राप्ति जिसका फल है, ऐसे रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ धर्म ही मोक्ष-प्राप्ति का कारण है।'

धीरे-धीरे बलदेव मुनि ने परीषह-रूपी सभी शत्रुओं को जीत लिया और इस प्रकार वे कृष्ण के मोह को जीतने में भी सफल हो गये।

उन्होंने क्षुधा और तृषा-परीषह को जीता। तेज हवा और हिमपात के समय खुले चबूतरे पर बैठकर शीत-परीषह को जीता। गर्मी में पर्वत के ऊँचे शिखर पर स्थित होकर उष्ण-परीषह सहन किया। डाँस, मच्छरों ने उनके शरीर का रक्त पिया, उस समय निश्चल रहकर उन्होंने मशक नाम के कठिन परीषह को सहन किया।

जो शरीर से जुड़ा हुआ था, अपायरहित होने पर भी विश्वसनीय नहीं था, जिसका एक दिन भी पालन करना कठिन था, जो कुलीन स्त्री की तरह लज्जाशील था, उस नग्नता के परीषह को वे इच्छापूर्वक सहन करते थे। वे ध्यान के योग्य पहाड़ी मार्गों एवं वन की दुर्गम भूमियों में अकेले ही विहार करते हुए धर्म-साधना में प्रीति रखते थे और रति-परीषह का निग्रह करते थे। बलदेव मुनि ने अत्यन्त बलशाली स्त्री-परीषह को जीता था। वे सवारी आदि का विचार किये बिना ही तीर्थक्षेत्रों की यात्रा करते थे और चर्या-परीषह से कभी नहीं थकते थे। बलदेव ध्यान और अध्ययन में लगे रहते थे और रात में बहुत थोड़ी देर के लिए भूमि पर ही एक करवट से शयन करते थे। इस तरह उन्होंने शय्या-परीषह को जीत लिया था।

धीर-वीर बलदेव सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि उन्हें क्षमाशील होना चाहिए, इसलिए वे दुष्टों के कटु वचनों की मार को भी बड़ी शान्ति से सहन कर लेते थे। वे यह सोचते थे कि अगर शस्त्र और अस्त्र की मार से उनके शरीर का घात होता है तो भी उन्हें वध-परीषह सहन करना चाहिए। उनके शरीर में केवल अस्थियाँ ही रह गयी थीं, वे उसकी स्थिरता मात्र के लिए ही चर्या को जाते थे, पर कभी किसी से आहार आदि की याचना नहीं करते थे। वे मौनपूर्वक आहार के लिए विहार करते थे, चन्द्रमा के समान अमीर-गरीब सभी के घर में प्रवेश करते थे और लाभ-अलाभ में प्रसन्न रहते थे। वे रूखे, ठण्डे आहार और वात-पित्त-कफ के प्रकोप से उत्पन्न रोग का कुछ प्रतिकार नहीं करते थे और शान्त बने रहते थे। कँकरीली-पथरीली भूमि पर शयन, आसन कष्टप्रद था, फिर भी उनके हृदय में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता था। यदि दूसरे लोग उनका आदर करते थे तो उन्हें प्रसन्नता नहीं होती थी और अगर अनादर करते थे तो अप्रसन्नता नहीं होती थी। उन्होंने अहंकार को अपने से कोसों दूर रख छोड़ा था। बहुत-से अज्ञानी जन उन्हें अज्ञानी कहते थे, फिर भी वे विचलित नहीं होते थे, 'मैं किसी ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी हूँ', ऐसा वे कभी नहीं कहते थे।

बलदेव मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करते थे। उन्होंने पंचेन्द्रियों के विषय-दोषों को हर लिया था और वे जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निर्दिष्ट सम्यक्चारित्र की भूमिका में विहार करते थे।

तुंगीगिरि के शिखर पर स्थित बलदेव एक दिन, दो दिन, तीन दिन से लेकर छः माह तक का उपवास करने लगे। वन में मिलनेवाली भिक्षा से ही वे प्राण धारण करते और कषायों का शोषण तथा धैर्य का पोषण करते। धीरे-धीरे नगरों और गाँवों में यह बात फैल गयी कि बलदेव वन में विहार कर रहे हैं।

निकटवर्ती राजा शंकित हो उठे और अनेक शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर उस वन में आ पहुँचे, जहाँ चन्द्रमा का भ्रम पैदा करनेवाले बलदेव मुनि विहार कर रहे थे।

सिद्धार्थ के देव ने जब उन क्षुब्ध राजाओं को देखा तो वन में सिंहों के झुण्ड के झुण्ड रच दिये। मुनि के चरणों के समीप उन सिंहों को बैठा हुआ देखकर उन राजाओं ने उनकी सामर्थ्य जान ली और शान्त होकर नमस्कार किया। तभी से बलदेव 'नरसिंह' कहलाने लगे।

एक सौ वर्ष तप करने के बाद मुनि बलदेव ने समाधि धारण की और ब्रह्मलोक में इन्द्रपद प्राप्त किया। वे पद्म नाम के विमान में उत्पन्न हुए। यह विमान अनेक देवी-देवताओं से घिरा हुआ, महल और बगीचों से सुन्दर तथा रत्नों की तरह चमकीला था। कोमल उपपाद शय्या पर इन देव का जन्म हुआ और जन्म के साथ ही यह देव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—इन छ: पर्याप्तियों से पूर्ण हो गया। नवयौवनशाली और वस्त्राभूषण से अलंकृत वह देव 'सर्वतोभद्र' शय्या पर इस तरह उठकर बैठ गया, मानो सुखनिद्रा पूरी कर उठा हो।

बलदेव के जीव इस देव ने चारों तरफ दृष्टि डाली तो प्रेमभरे देव और देवांगनाओं ने उसका अभिनन्दन किया। इस देव के शरीर का प्रभा-मण्डल चन्द्र और सूर्य से भी अधिक दीप्तिशाली था। हर्षभरे हृदय से इस देव ने विचार किया : 'यह इतना सुन्दर देश कौन-सा है? ये मोदभरे जन कौन हैं? मैं कौन हूँ? मेरा यहाँ कहाँ जन्म हुआ है? और मैंने किस धर्म का संचय किया है?'

जो प्रमुख देव थे, उन्होंने उन सब वस्तुओं का परिचय दिया और उस देव ने अवधिज्ञान पाकर तत्काल सब वृत्तान्त जान लिया। उसे पूर्वजन्म के सब बन्धुओं का ज्ञान हो गया और वह कृष्ण को देखने के लिए बालुकाप्रभा पृथिवी में गया। महाप्रभाव से सम्पन्न वह देव जब वहाँ जाकर खड़ा हुआ तो वहाँ के सारे अशुभ रस, गन्ध शुभरूप हो गये।

उस देव ने कहा, "कृष्ण, आओ, आओ, आओ, देखो, मैं जो तुम्हारा बड़ा भाई बलदेव था, अब ब्रह्मलोक का स्वामी होकर यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ।"

यह कहकर उसने कृष्ण को उठा लिया और जैसे ही स्वर्ग में जाने के लिए उद्यत हुआ कि उसका शरीर मक्खन की तरह पिघलकर विलीन हो गया।

कृष्ण ने यह देखकर कहा, "भाई, व्यर्थ के प्रयत्न से क्या लाभ है? आप तो जानते ही हैं, जीव अपने किये का फल भोगते हैं। इसलिए आप स्वर्ग जाएँ और अपने पुण्य का फल भोगें। मैं भी आयु के अन्त में मोक्ष के कारण मनुष्य-पर्याय को प्राप्त करूँगा। हम दोनों उस मनुष्य-पर्याय में तप करेंगे और जिन शासन की सेवा से कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।"

कृष्ण ने एक क्षण ठहरकर फिर कहा, "हाँ, एक काम आप अवश्य करें, भरतक्षेत्र में हम दोनों को लोग महावैभवशाली देखें और हमें देखकर वे आश्चर्य से भर जाएँ। मेरी कीर्ति के लिए आप मेरी शंख-चक्र-गदाधारी प्रतिमाओं के मन्दिर

बनवाएँ और उनसे सारे भरतक्षेत्र को व्याप्त कर दें।''

बलदेव के देव ने कृष्ण के आग्रह को स्वीकार किया और भाई के स्नेह से वशीभूत होकर सब कार्य किया। कृष्ण के मन्दिरों से सारा भरतक्षेत्र भर गया और संसार कृष्ण के मोह में तन्मय हो गया।

इसके बाद वह देव ब्रह्मस्वर्ग गया और वहाँ जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर दिव्य सुखों को भोगते हुए रहने लगा।

तेईसवाँ प्रकरण

इधर पाण्डवों का मन भी संसार से विरक्त हो चला। उनकी बुद्धि संयम की दिशा में अग्रसर हो रही थी। उन्होंने पुत्रों को राज्य-भार सौंपा और हरिवंश के राजा जरत्कुमार को अनेक राजकन्याएँ विवाह में दीं।

उन दिनों भगवान जिनेन्द्र पल्लव देश में विहार कर रहे थे। पाँचों पाण्डव माता कुन्ती और द्रौपदी आदि स्त्रियों के साथ पल्लव देश की तरफ चल पड़े।

जिस समय पाण्डव भगवान के निकट पहुँचे, उस समय वे समवसरण में विराजमान थे। पाण्डवों ने परम ऐश्वर्यशाली नेमि जिनेन्द्र की परिक्रमा की और उन्हें नमस्कार किया।

धर्मोपदेश के बाद पाण्डवों ने भगवान से अपने पूर्वजन्म पूछे। श्री जिनेन्द्र ने उनके पूर्वजन्मों का वर्णन करते हुए कहा :

''इसी भरतक्षेत्र की चम्पा नगरी में राजा मेघवाहन के राज्य-काल में सोमदेव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम था सोमिला और पुत्र थे सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति। सोमिला के भाई का नाम अग्निभूति था। उसकी तीन कन्याएँ थीं–धनश्री, सोमश्री और नागश्री। सोमदत्त का धनश्री से, सोमिला का सोमश्री से और सोमभूति का नागश्री से विवाह हुआ था।

सोमदेव समस्त वेदों का ज्ञाता था। वह संसार से विरक्त होकर जिन-धर्म में दीक्षित हो गया। सोमदत्त आदि तीनों भाई भी जिनशासन में प्रेम रखते थे, इसलिए धर्म, अर्थ, काम—इन तीन पुरुषार्थों के साथ गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे।

एक बार धर्मरुचि नाम के मुनि भिक्षा के समय उनके घर में आये। सोमदत्त ने उठकर मुनि की अभ्यर्थना की और किसी कार्य में व्यस्त होने के कारण दान के कर्तव्य में नागश्री को नियुक्त कर स्वयं चला गया। नागश्री के पाप का उदय हुआ। उसने मुनि के प्रति क्रोध के वशीभूत होकर उन्हें विष मिला आहार दे दिया। मुनि का संन्यास-मरण हुआ और वे सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

नागश्री के इस दुष्कार्य को जानकर वे तीनों भाई बहुत दुखी हुए। उन्होंने संसार से विरक्त होकर वरुण गुरु के पास दीक्षा ले ली। धनश्री और सोमश्री ने भी गुणवती आर्यिका के निकट दीक्षा ले ली। इस तरह वे पाँचों तप-शुद्धि के लिए प्रवृत्त हो चारित्रपालन में लग गये।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपासना करनेवाले ये पाँचों प्राणी मरने के बाद अच्युत स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। विषमिश्रित भोजन देनेवाली नागश्री भी मरकर धूमप्रभा नाम के नरक में पहुँची। वहाँ महादुःख भोगने के बाद वह स्वयंप्रभ द्वीप में दृष्टिविष नाम का दुष्ट सर्प हुई। इसके बाद उसका जीव बालुकाप्रभा नाम की तीसरी पृथिवी में पहुँचा। बहुत काल तक दुख भोगने के बाद वह चम्पापुरी में एक चाण्डाल की कन्या हुई। वहाँ उसने मुनि समाधिगुप्त के पास मधु-मांसादि का त्याग कर दिया। इसके बाद वह चम्पापुरी में ही सुबन्धु वैश्य की सुकुमारिका नाम की पुत्री हुई।

पापों के पूर्व-संस्कारों के कारण सुकुमारिका के शरीर से बड़ी दुर्गन्ध आती थी, इसलिए रूपवती होने पर भी कोई युवक उससे विवाह करने को तैयार नहीं था।

उसी नगरी में धनदेव वैश्य के दो पुत्र जिनदेव और जिनदत्त भी रहते थे। जिनदेव के कुटुम्बियों ने सुकुमारिका के साथ उसका विवाह करना चाहा, पर उसने स्वीकार नहीं किया और वह सुव्रत मुनि के समीप दीक्षित हो गया। घर के लोगों के कारण जिनदत्त ने यद्यपि उससे विवाह कर लिया, लेकिन दुर्गन्ध के कारण दूर से ही उसका त्याग कर दिया।

इस घटना से सुकुमारिका को बहुत आत्मग्लानि हुई। उसने एक दिन का उपवास किया और अनेक आर्यिकाओं के साथ क्षान्ता नाम की आर्यिका को बड़ी भक्ति से भोजन कराया। क्षान्ता आर्यिका के साथ दो अत्यन्त रूपवती आर्यिकाएँ थीं, जो कठिन तप करती थीं।

सुकुमारिका को सम्बोधन के लिए क्षान्ता आर्यिका ने कहा—'सुकुमारि, ये दोनों पूर्वजन्म में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की विमला और सुप्रभा नाम की देवियाँ थीं। एक बार ये नन्दीश्वर पर्व की यात्रा में जिनपूजा के लिए आयी थीं। ये किसी कारण संसार से विरक्त हो मन में सोचने लगीं कि यदि हमें मनुष्य-जन्म मिले तो हम महातप करेंगी। इस प्रतिज्ञा के बाद वे देवियाँ स्वर्ग से च्युत हुईं और अयोध्या के राजा की हरिषणा और श्रीषणा नाम की पुत्रियाँ हुईं। जब इनका स्वयंवर हो रहा था तो इन्हें अपने पूर्वजन्म की प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। इन्होंने तुरन्त सारे परिग्रहों का त्यागकर कठिन तप करना आरम्भ कर दिया।'

आर्यिका क्षान्ता के वचन सुनकर सुकुमारिका भी विरक्त हो गयी और दीक्षा लेकर उन तपस्विनियों के साथ तप करने लगी। तप से उसका शरीर क्षीण हो गया।

तभी एक घटना हुई। एक दिन नगर की गणिका वसन्तसेना वन-विहार के लिए आयी। वह कामीजनों से घिरी हुई क्रीड़ा कर रही थी। उसे देखकर आर्यिका सुकुमारिका ने क्लिष्ट परिणामवाला यह निदान किया कि दूसरे जन्म में उसे भी यह सौभाग्य प्राप्त हो। मरणोपरान्त सुकुमारिका अपने पहले जन्म के पति सोमभूति के देव की देवी हुई।

जब इन तीनों भाइयों के जीवन स्वर्ग से च्युत हुए तो उन्होंने पाण्डु राजा की कुन्ती रानी से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन बनकर जन्म लिया। धनश्री और सोमश्री के देव नकुल और सहदेव बनकर जन्मे।

सुकुमारिका का जीव भी स्वर्ग से च्युत हुआ और उसने राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के रूप में जन्म लिया। पूर्वजन्म के स्नेह के कारण इस जन्म में भी द्रौपदी और अर्जुन का संयोग हुआ है।''

अन्त में श्री नेमि जिनेन्द्र ने कहा, ''युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करेंगे। नकुल और सहदेव को सवार्थसिद्धि प्राप्त होगी। सम्यग्दर्शन से शुद्ध द्रौपदी तप के फलस्वरूप आरणाच्युत युगल में देव होगी और उसके बाद मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगी।''

पाण्डवों ने विरक्त हो भगवान नेमिनाथ के पास दीक्षा ले ली। कुन्ती, सुभद्रा, द्रौपदी आदि आर्यिका राजीमती के पास तप में लीन हो गयीं।

पाँचों पाण्डव स्वरूप-चिन्तन करते हुए तप करने लगे। इनमें भीमसेन मुनि बहुत ही शक्तिशाली थे। उन्होंने भाले के अग्रभाग से दिये हुए आहार को ग्रहण करने का नियम लिया था। क्षुधा से उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। उन्होंने छः माह में इस तप को पूरा किया था। युधिष्ठिर आदि मुनि भी बड़ी श्रद्धा के साथ उपवास करते थे। इस तरह बहुत समय तक इन पाँचों मुनियों ने पृथिवी पर विहार किया।

चौबीसवाँ प्रकरण

अब भगवान नेमि जिनेन्द्र उत्तरापथ से सुराष्ट्र देश की तरफ आये। सच है कि भगवान सूर्य की तरह उत्तरायण से दक्षिणायन की तरफ आये थे, किन्तु उनका तेज सूर्य की तरह कम नहीं हुआ था। वह उसी भाँति लोक को व्याप्त कर रहा था।

अब अन्तिम समय निकट था, भगवान निर्वाणकल्याणक की विभूति को प्राप्त करनेवाले थे। श्री जिनेन्द्र ठीक मुहूर्त में सुर-असुर और मनुष्यों के साथ स्वतः गिरनार पर्वत पर आ पहुँचे। वहाँ पहले के ही समान अत्यन्त सुन्दर समवसरण की रचना हो गयी।

समवसरण के बीच विराजमान होकर भगवान ने स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के साधन-रूप साधुसम्मत धर्म का उपदेश दिया। जिस प्रकार केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद पहली सभा में भगवान ने विस्तारपूर्वक धर्म का मर्म समझाया था, उसी प्रकार अन्तिम सभा में भी उन्होंने विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया।

जिस तरह अग्नि का स्वभाव है ऊपर उठकर जलना, पानी का स्वभाव है शीतलता, वायु का वेग, सूर्य, चन्द्र आदि तेजस्वी पदार्थों का सब ओर से ज्योतिर्मय होना। जिस तरह आकाश में अमूर्तता होती है और पृथिवी में पदार्थ को धारण करने की स्वाभाविक क्षमता होती है, उसी तरह भगवान नेमिनाथ का धर्मोपदेश भी सहज स्वाभाविक होता था, किसी की प्रेरणा से नहीं।

अन्तिम उपदेश के बाद श्री नेमि जिनेन्द्र ने अघातिया कर्मों का अन्त कर सैकड़ों मुनियों के साथ निर्वाण धाम प्राप्त किया।

चारों वर्गों के देवताओं ने इन्द्र को आगे रख भगवान के शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली अन्तिम निर्वाणकल्याणक की पूजा की। दिव्य गन्ध तथा पुष्पों से पूजित तीर्थंकर भगवान का शरीर क्षण भर में बिजली की तरह आकाश को देदीप्यमान करता हुआ विलीन हो गया।

पच्चीसवाँ प्रकरण

उपसंहार : गौतम गणधर ने जिनशत्रु के महातप-फलरूपी केवलज्ञान की प्राप्ति का अभिनन्दन करते हुए कहा, "हे श्रेणिक! मैंने यह लोक-प्रसिद्ध त्रेसठशलाका पुरुषों की 'हरिवंश गाथा' की गाथा संक्षेप से कही है, यह तुझे लक्ष्मीदात्री हो।

सम्यग्दर्शन से सुशोभित राजा श्रेणिक अनेक राजाओं के साथ इस पवित्र गाथा को सुन धन्य हुआ और नमस्कार कर अपने नगर में लौट गया। देव और विद्याधर भी जिनेन्द्र भगवान की प्रदक्षिणा कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये। महापुरुषों द्वारा पूजित जिनशत्रु केवली ने पृथिवी पर विहार कर अन्त में कर्मबन्धरहित, अनन्त सुखदायी मोक्षप्रद प्राप्त किया।

भगवान महावीर पावानगरी पहुँचकर वहाँ के 'मनोहरोद्यान' नामक वन में विराजमान हो गये। स्वाति नक्षत्र में कार्तिक अमावस्या के दिन प्रात:काल के समय अघातिया कर्मों को नष्ट कर निर्बन्ध मोक्ष पद प्राप्त किया। भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारों निकाय के देवों ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की। उस समय सुर और असुरों ने असंख्य दीप-पंक्तियों से पावानगरी के आकाश को जगमग कर दिया। श्रेणिक आदि राजाओं ने भी प्रजा के साथ मिलकर भगवान के निर्वाणकल्याणक की पूजा की। तब से भरतक्षेत्र के प्राणी भगवान की भक्ति से युक्त होकर प्रतिवर्ष कार्तिक अमावस्या के दिन दीपमालाओं से भगवान महावीर की पूजा करते हैं।

भगवान महावीर के पश्चात् बासठ वर्ष में गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी नाम के केवली हुए। तत्पश्चात् सौ वर्षों में पाँच श्रुतकेवली हुए। तदनन्तर समय के अन्तराय से अनेक मुनियों और आचार्यों का आगमन हुआ। तत्पश्चात् षड्खण्डागम के ज्ञाता, श्रुति के धारक जयसेन नाम के गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन आचार्य ने शास्त्रदान द्वारा अपनी वदान्यता प्रकट की।

ग्रन्थकार जिनसेनाचार्य अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं अमितसेन के

अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण का प्रथम शिष्य हूँ। मोक्ष के उत्कृष्ट सुख का भोग करनेवाले अरिष्टनेमि जिनेन्द्र की भक्ति से युक्त होकर मैंने अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस 'हरिवंश गाथा' की रचना की है। इस ग्रन्थ में त्रेसठ शलाका पुरुषों तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायणों—का वर्णन किया गया है।

ग्रन्थकार अपना मनोरथ प्रकट करते हुए कहते हैं कि हरिवंश का कथन करने से जो पुण्यों का संचय हुआ है, उसके फलस्वरूप मेरी इच्छा है कि मनुष्यलोक में उत्पन्न हुए जीव जिनशासन में स्थित हों।

जो देवों के समूह से सेवित हैं। जिनका शान्त शासन प्रजा के लिए अत्यन्त शान्ति प्रदान करनेवाला है, जिनकी केवलज्ञानरूपी दृष्टि सदा विकसित रहती है और जिन्होंने समस्त तत्त्वों को भलीभाँति देख लिया है, ऐसे जिनेन्द्रों की सदा जय हो—

जयन्ति देवाः सुरसंघसेविताः प्रजातिशान्तिप्रदशान्तशासनाः।
विशुद्ध-कैवल्यविनिद्रदृष्टयः सुदृष्टतत्त्वा भुवने जिनेश्वराः॥

प्रतिवर्ष अनुकूल वर्षा के कारण उत्तम धान्य से परिपूर्ण यह पृथिवी प्राणियों के लिए सुखकारी हो।

सुखाय भूयात्प्रतिवर्षवर्षणेः सुजातसस्या वसुधासुधारिणाम् ॥





भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीटयूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन



भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीटयूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन